RNI TITLE VERIFICATION LETTER NO. JHABIL0005/34/1/2011-TC
POSTAL REGISTRATION NO. G/SBM/41/2012-14

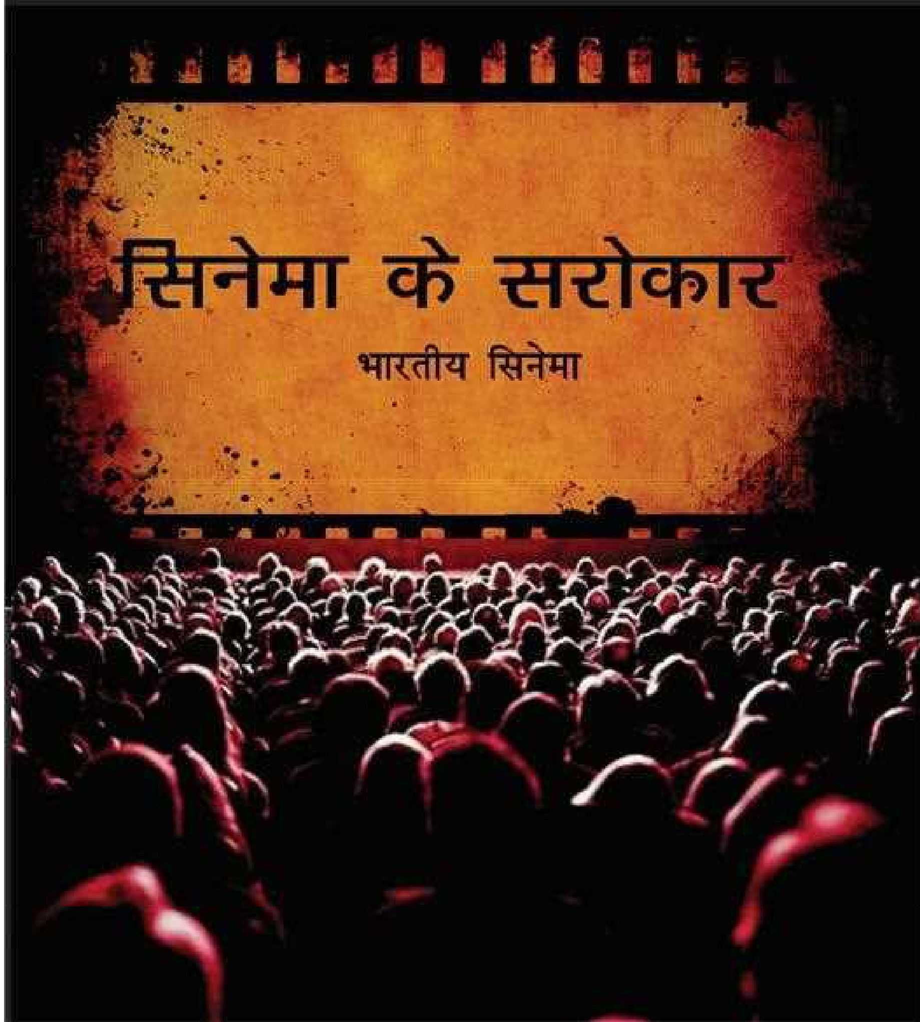

Vol. 5, Year 3, January-June, 2013
ISPATIKA
इस्पातिका
अंक ५, वर्ष ३, जनवरी-जून, २०१३

ISSN : 2231-4806

इस्पातिका ISPATIKA

अंक ५, वर्ष ३, जनवरी-जून, २०१३
Vol. 5, Year 3, January-June, 2013

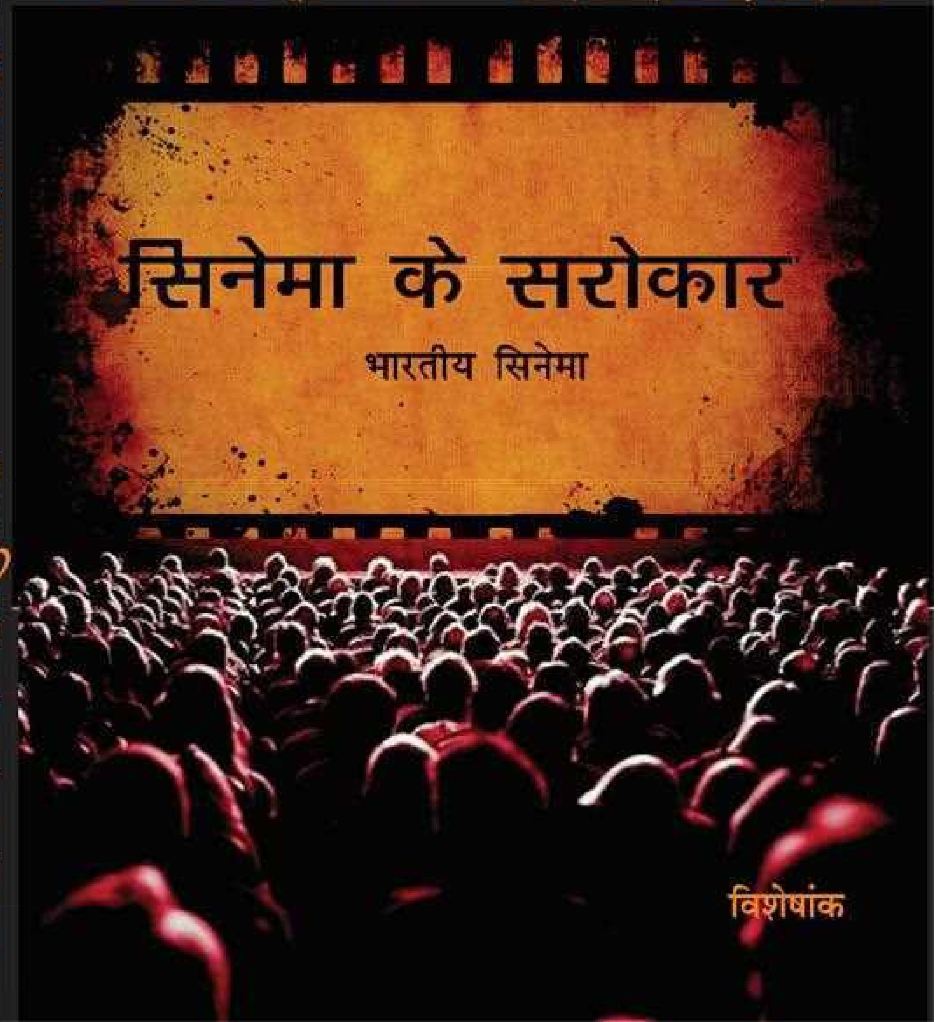

इस्पातिका

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन की अर्द्धवार्षिक शोध–पत्रिका

ISPATIKA

Bi-Annual Research Journal of Language, Literature And Culture Studies

संपर्क : 3, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज परिसर, सी.एच.एरिया, बिस्टुपुर,
जमशेदपुर, झारखण्ड 831001
e mail : ispatikabiannual@gmail.com
मो. 09471576404/09013311287/09211063480
website : www.ispatikabiannual.in

इस्पातिका (अर्द्धवार्षिक शोध पत्रिका) ISPATIKA (Bi-Annual Research Journal)

मूल्यांकन समिति :
सुधाकर सिंह, जोहरा बेगम
नीरजा टण्डन, विनोद तिवारी
मिथिलेश, लक्ष्मण प्रसाद

Board of Referees :
Sudhakar Singh, Zohra Begum
Nirja Tandon, Vinod Tiwari
Mithilesh, Laxman Prasad

सलाहकार संपादक मण्डल :
ओमप्रकाश सिंह, बालमुकुंद पैनाली
प्रभाकर सिंह, कीर्ति विक्रम सिंह
संजय यादव, संजय नाथ

Adisory Editorial Board :
Omprakash Singh, Balmukund Painali
Prabhakar Singh, Kirti Vikram Singh
Sanjai Yadav, Sanjay Nath

प्रतिनिधि संपादक :
प्रभात कुमार मिश्र (उत्तर पूर्व भारत)
नीलांबुज सिंह (उत्तर पूर्व भारत)
सिन्धु टी. आई. (केरल)
एम. वासंती (कर्नाटक)
आशुतोष सिंह (मध्यप्रदेश)
सौरभ द्विवेदी (पंजाब)
अशोक कुमार मीणा (राजस्थान)
अजीत कुमार तिवारी (नई दिल्ली)

Representative Editors :
Prabhat Kumar Mishra (North East)
Nilambuj Singh (North East)
Sindhu T. I. (Kerla)
M. Vasanti (Karnataka)
Ashutosh Singh (M.P.)
Saurabh Dwivedi (Punjab)
Ashok Kumar Meena (Rajsthan)
Ajit Kumar Tiwari (New Delhi)

सह संपादक :
अनिरूद्ध कुमार

Co-Editor :
Aniruddha Kumar

संपादक :
अविनाश कुमार सिंह

Editor :
Avinash Kumar Singh

***यह अंक** : 55 रु./–
***सदस्यता** : वार्षिक : व्यक्तिगत– रु. 110/–, संस्थागत– रु. 150/–
पंचवर्षीय : व्यक्तिगत– रु. 550/-, संस्थागत– रु. 750/-
आजीवन : व्यक्तिगत– रु. 2500/–, संस्थागत– रु. 5000/–
***आवर्तित** : अर्द्धवार्षिक, **भाषा** : हिन्दी–अन्ग्रेजी, **ISSN : 2231-4806**
*स्वत्वाधिकारी, संपादक, प्रकाशक, मुद्रक अविनाश कुमार सिंह द्वारा हिन्द प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी से मुद्रित कराकर ३, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को–ऑपरेटिव कॉलेज परिसर, सी.एच. एरिया, बिस्टुपुर, जमशेदपुर, झारखण्ड–831001 से प्रकाशित.
*प्रकाशित रचनाओं में अभिव्यक्त विचारों से संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है.
*संपादन एवं प्रकाशन : अवैतनिक–अव्यावसायिक.
*समस्त कानूनी विवादों का न्याय क्षेत्र जमशेदपुर होगा.

अनुक्रम

संपादकीय :
सत्ता, सेंसर और अल्बर्ट पिंटो का गुस्सा (५)
कविता :
शैल (९)
अजय कुमार सिंह (७७)
समय–सरगम :
एक सदी का सफर... (११)
पवन कुमार मैठानी
सिनेमा के बदलते स्वरूप (१५)
आलोक प्रभात
दायित्वबोध मुक्त सिनेमा के ...(१९)
अनिल कुमार सिंह
बॉलीवुड गीत व गीतकार ...(२६)
मनोज कुमार पाठक
हिन्दी फिल्मों का गीत सफर (३९)
नरेन

बातचीत:
वेद राही से जनार्दन दास (३०)
प्रयाग शुक्ल से दुर्योधन सिंह (३६)
शारदा सिन्हा से सीमा व नीलांबुज सिंह (१८३)

सरोकार :
साहित्य और सिनेमा का ...(४५)
धीरज यादव
भारतीय साहित्य, भाषा ...(४९)
ऋतेष चौधरी
सिनेमा में स्थान और शरीर की...(५३)
दिलीप कुमार कौल
सिनेमा और रंगमंच...(६५)
सी. भास्कर राव
हिन्दी सिनेमा का स्त्री विमर्श (७३)
आलोक पाण्डेय
हाशिये पर हँसाती कलाकार (८१)
शबनम खान
हिन्दी सिनेमा में स्त्री जीवन के विविध...(८४)
कल्पना पंत
इतिहास और मिथक के प्रत्यय में...(९०)
रीता नामदेव
सिनेमा में दलित, सभ्य समाज और...(९४)
राकेश पति
प्रकाश झा की फिल्मों में सामाजिक...(९७)
आलोक कुमार
जनजातीय समाज और भारतीय सिनेमा (१०१)
तीर्थेश्वर सिंह
बावरे सपनों क़ा नखलिस्तान...(१०५)
मिथिलेश
सिनेमा में किसान (११२)
नम्रता गौरव
सिनेमा में वर्दी वाले कातिल (११५)
मिथिलेश प्रियदर्शी
सभ्यता का खेल और निम्नवर्गीय संघर्ष (१२१)
अजीत कुमार तिवारी
ऑस्कर में भारतीय सिनेमा (१३२)
रेखा सिंह
करुणा का बिकाऊ फार्मूला...(१३४)
अनिरूद्ध कुमार
जख्म अब भी ताजा हैं...(१४३)
सोन सन क्यंग
Akbar and The Theme of Love (१५०)
Smriti Suman
शेक्सपीयर सिनेमा के परदे पर (१५४)
विजय शर्मा
Pride and Prejudice vs... (१६५)
Sunita Sahay
क्षेत्रीय सिनेमा :
असीं हां वतनादे यार परदेसी...(१७०)
आशा रानी
पंजाबी राष्ट्रीयता और सिनेमा (१७७)
मनमीत कौर

कन्नड़ सिनेमा में स्त्री की व्यथा–कथा (१८०)
एन. वासती
कौन है भोजपुरी सिनेमा का दर्शक (१८७)
अमितेश कुमार
मराठी चित्रपट : एक अंतर्यात्रा (१९२)
जनार्दन दास, वैशाली बहुलकर
Bangla Cinema : Past & Present (१९५)
Amrit Kumar Pal

रपट है...
इसको मालूम है कि पानी कहाँ ठहरा होगा (१९९)
सिद्धार्थ आनंद
अवाम का सिनेमा (२०४)
शाह आलम

पुस्तक समीक्षा :
यहाँ से देखो इतिहास नया... (२०८)
आशुतोष कुमार झा

सत्ता, सेंसर और अल्बर्ट पिंटो का गुस्सा

बंगाल में सिनेमा को (अभी भी) 'बोई' कहा जाता है। 'बोई' का तात्पर्य है किताब, कविता, कहानी आदि। वहाँ के अधिकांश बुद्धिजीवी सिनेमा पर गंभीर बहसें करते हैं। बनारस के अस्सी घाट के अड़ीबाज जितना साहित्य और राजनीति को लेकर संजीदा है, बंगाल के अड्डेबाज सिनेमा और संस्कृति को लेकर उससे कम गंभीर नहीं है। बात यह है कि ललित कलाओं के बीच पारस्परिकता और अन्योन्याश्रितता का जो सिद्धांत है, सिनेमा ने उसमें एक मजबूत दखल दे रखी है। १९ वीं सदी के आखिर में और २० वीं सदी के आरंभ से सिनेमा ने जो अपनी यात्रा शुरू की तो अभी तक नयी मंजिलें ही गढ़ता जा रहा है। इस अद्भुत कलारूप में एक जादू सा है। यह भी संयोगमात्र नहीं है कि सिनेमा को जन्म देने वाले फ्रांस के ल्यूमियर बंधु जादूगर थे। जादू कंपनी चलाया करते थे। उन्होंने दुनिया को बांधे रखने के लिए जो दूसरा जादू चला था वो सिनेमा ही था। कला रूपों की तमाम बहुरूपताओं में सिनेमा ने सबसे ज्यादा सनसनी पैदा की है। फ्रांस में तो आज भी चौराहे–चौराहे पर छोटे–छोटे सिनेमाघर हैं। जहाँ बड़े आराम से और बड़े मनोयोग से आम फ्रांसीसी फिल्में देख लेता है और चाय की चुस्कियों के साथ उसके शिल्प और कथ्य पर राष्ट्रीय बहसें साझा कर लिया करता है। वहाँ सिनेमा एक गंभीर सांस्कृतिक उत्पाद है। अपने यहाँ छोटे–छोटे सिनेमाघरों का जमाना बीत गया सा लगता है। बनारस में एक सिनेमाघर का नाम था, *कन्हैया चित्रमंदिर*; और आज वह बाजार, मुनाफे और कथित प्रतिस्पर्धा के दौर में *स्पाइस केसीएम* में कायांतरित हो चुका है। एक साथ पाँच–पाँच फिल्में दिखायी जा रही हैं। नवधनाड्य युवापीढ़ी मानो एक से दूसरी फिल्म देखने के लिए कोई अंतराल नहीं चाहती। बाजार भी यह मौका नहीं देना चाहता कि इतने बड़े उत्पाद के परोसे पर आप कुछ विचार करें। वह शुद्ध मनोरंजन का नखलिस्तान है। एक फिल्म थी 'अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है'। फिल्म में नायक अपने पिता, जो मजदूर आंदोलन का नेतृत्व कर रहे होते हैं, को पूंजीवादी गुंडो द्वारा पीट दिये जाने पर, व्यथित है। वह एक कार गैरेज में काम करता है। एक महिला मित्र के साथ बिल्कुल सीमित और तयशुदा जीवन को जी रहा होता है। लेकिन पिता के साथ हुई यह घटना उसे झकझोर देती है। वह गहरे अंतरविरोध में फँसता है। अपनी महिला मित्र के साथ सिनेमा हॉल में वह फिल्म देख रहा होता है। परदे पर अचानक तत्कालीन सरकार का पूंजीवादी प्रतिनिधि मजदूरों की हड़ताल को नाजायज घोषित करने लगता है। हालांकि, यह फिल्म का हिस्सा नहीं था, लेकिन दर्शकों को सिनेमाघर के माध्यम से यह दिखाया जा रहा था। नायक यह देखकर उत्तेजित होने लगता है।

वह उक्त पूंजीपति को भला–बुरा कहने लगता है। उसे झूठा और मक्कार कहते हुए अपनी सीट से खड़ा होने लगता है। हॉल के दर्शक उसे डाँट–डपटकर चुप कराते हैं और 'डिस्टर्बिंग' कहकर बाहर जाने को विवश कर देते हैं। यह फिल्म बेहद व्यंजक है। सत्ता जो फिल्म को सेंसर करती है, अपने पूर्वनिर्धारित तर्कों के साथ जनता के लिए तथाकथित अश्लील, आपत्तिजनक, राष्ट्रविरोधी दृश्यों और संवादों को प्रसारित होने से रोकती है, इस फिल्म में पूरी तरह से बेनकाब हो उठती है। सत्ता, सिनेमा जैसे कलारूप को राजनीतिक हितों के लिए एक सुलभ और मिथ्या मंच के रूप में प्रयोग करती है। क्या यह अश्लील, आपत्तिजनक और राष्ट्रविरोधी नहीं था! क्यों, जनता भी मनोरंजन के थोथेपन और आत्मविसर्जन की लिप्सा में उसे सुनती है। उसे वह फिल्म का हिस्सा ही लगता है। परदे से बाहर जो चाक्षुष घटित हो रहा होता है, जनता उसे 'डिस्टर्बिंग' मानती है। सत्ता भी यही चाहती है। सेंसर के राजनीतिक निहितार्थ यहाँ स्पष्ट हो जाते हैं। अल्बर्टो पिंटो का गुस्सा दरअसल सत्ता के बर्बर रवैये और जनता के उदासीन हुलिये के खिलाफ बेचैन ब्रह्मराक्षसी मिथ है।

जनता को इतनी दूरी और इतनी गहराई तक प्रभावित करने वाला उत्पाद स्वभावत: और अनिवार्यत: सत्ताविमर्श का एजेंडा बन जाया करता है। सेंसर बोर्ड उसका नियामक प्रतिष्ठान है। सुप्रीम कोर्ट का मानना है कि, 'चूंकि सिनेमा मुद्रित शब्दों की अपेक्षा ज्यादा बड़े पैमाने पर ध्यान और असर सुनिश्चित करता है और विचार और क्रियाओं को उत्प्रेरित करता है, अत: फिल्म सेंसरशिप आवश्यक हो जाता है। थियेटर के नीम अंधेरे और तमाम विचलनकारी विचारों के स्थगन के बीच क्रिया और वक्तव्य, दृश्य और ध्वनि के संयोग से यह दर्शकों के दिमागों पर जोरदार असर डालता है और उनकी भावनाओं को भड़का सकता है। इसलिए, यह जितना अच्छा है, उतना ही बुरा भी हो सकता है और हिंसा तथा दुर्व्यवहार रोपने की एक सी सामर्थ्य रखता है। संप्रेषण के अन्य उपादानों से इसकी बराबरी नहीं की जा सकती है। इसलिए प्राथमिक प्रतिबंधो के लिहाज से सेंसरशिप वांछित ही नहीं बल्कि अपरिहार्य है।' कहना न होगा कि सुप्रीम कोर्ट का यह विचार सत्ता के निहितार्थों से ज्यादा दूर नहीं है। बड़े ही अमूर्त तरीके से दुर्व्यवहार और हिंसा को जनता की वैचारिक जागरूकता के साथ जोड़ दिया गया है। जनता सत्ता का विरोध करे तो वह हिंसक और राष्ट्रघातक हो जाती है। सत्ता जनता के साथ जो रोज कर रही है, उसका कोई जिक्र ही नहीं; *हम आह भी भरते हैं तो हो जाते हैं बदनाम, वो कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होती!*

सिनेमा भी चूंकि भारत में उपनिवेशकाल में जन्मा है लिहाजा उसकी पूरी बुनावट पर उपनिवेशवादी प्रभाव दिखाई पड़ते हैं। १९१३ में जब दादा साहब फाल्के ने पहली भारतीय फिल्म *राजा हरिश्चन्द्र* बनाई थी तो उसी साल 'इंडियन सिनेमैटोग्राफ ऐक्ट' पारित हुआ था, जो १९२० में प्रभाव में आया। यह दिलचस्प और गंभीर तथ्य है कि उस समय सेंसर बोर्ड मद्रास, बांबे, कलकत्ता, लाहौर और रंगून नगरों के पुलिस प्रमुखों की निगरानी में कार्य करता था। क्षेत्रीय सेंसरबोर्ड स्वायत्त थे। स्वतंत्रता के बाद इनकी भी स्वायत्तता छीन ली गई और इन्हें भी *बांबे बोर्ड ऑफ फिल्म सेंसर्स* के अधीन कर लिया गया। यह अलग से शोध का विषय है कि स्वायत्तता छिनने से पहले इन क्षेत्रीय सिनेमाओं में क्या कुछ घटित हो रहा था? इनके सरोकार क्या थे? बहरहाल, १९५२ में सिनेमैटोग्राफ ऐक्ट के लागू होने तथा अंतत: १९८३ के पुनर्वीक्षण के बाद *केंद्रीय फिल्म प्रमाणन बोर्ड* का आविर्भाव हुआ। अपने नौ क्षेत्रीय कार्यालयों; मुंबई, कोलकाता, चेन्नई, बंगलोर, तिरुवंथपुरम, हैदराबाद, नई दिल्ली, कटक और गुवाहाटी के माध्यम से यह

फिल्मों के कथ्य और शिल्प को सेंसर करता है। इसके सलाहकार परिषद के सदस्यों की नियुक्ति भारत सरकार द्वारा दो वर्षों के लिए की जाती है। सरकार कलारूपों के औचित्य–अनौचित्य के नियामक नियुक्त करती है। कला क्या अब भी किसी स्वयंभू प्रदेश की दावेदार अपने को कह सकती है?

यह आश्चर्यजनक नहीं है कि आर्थिक उदारीकरण के बाद और पिछले दो कार्यकालों से हिन्दी सिनेमा में अमेरिका खूब दिख रहा है और *चाँदनी चौक टू चाइना* के मुहावरे में सिंह को किंग साबित करने की कलात्मक प्रतिस्पर्धा चल रही है। एक दौर था जब हिन्दी सिनेमा में रूस की उपस्थिति हुआ करती थी। रूस का यह प्रतिस्थापन अनायास नहीं था। इसकी कवायद तो साठ के दशक से ही शुरू हो गयी थी जब अमरीकी विदेश मंत्री द्वारा (१९५६) भारत में आगमन के साथ ही भारत और रूस के सांस्कृतिक संबंध पर 'आपत्ति' प्रकट की गई थी। भारत की सरकार मानो प्रायश्चित करने को तत्पर हो उठी। तत्काल रूस से संबंध समेटे जाने लगे और भारत में भी अमेरिका के *सी.आई.ए.* और *फोर्ड फाउंडेशन* द्वारा प्रायोजित और वित्तीय मदद प्राप्त *कॉन्ग्रेस फॉर कल्चरल फ्रीडम* का कार्यालय खोल दिया गया। इसमें शामिल संस्कृतिपुरुषों का नाम लेना भी एक अलग सेंसरशिप को न्यौता देना होगा। फिलहाल इतना ही कि, भारतीय सांस्कृतिक चेतना का नवउपनिवेशीकरण साठ के दशक में आकार लेने लगा था। सत्ता और सेंसर के गठजोड़ की सैद्धांतिक जमीन यहीं से बनी थी। आज वह ज्यादा जटिल रूप ले चुका है।

अंतोनियो ग्राम्शी ने लोकप्रिय कलारूपों की इसी मास अपील को ध्यान में रखते हुए सत्ता द्वारा उसके सांस्कृतिक–राजनीतिक इस्तेमाल पर ठीक ही लिखा है कि, 'संस्कृति के इतिहास में लोकप्रिय या बाजारू कला के महत्व की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए; क्योंकि ऐसे कलारूप के माध्यम से किसी काल के व्यापक जन–समुदाय के मौन बहुमत के बीच लोकप्रिय जीवन–जगत संबंधी भावों–विचारों की जानकारी होती है। ऐसी कला लोकप्रिय अफीम है। यह कला व्यापक जनता में छद्म चेतना ही नहीं, अंतरविरोधी चेतना पैदा करके उसे भ्रमित करती है। वह वास्तविक जिंदगी की समस्याओं का संघर्ष के माध्यम से समाज में समाधान खोजने की कोशिश की जगह कल्पना में उन समस्याओं के समाधान खोजने और पाने की प्रवृत्ति जगाती है। इसलिए ऐसे कलारूप शासक वर्ग के प्रभुत्व की प्रक्रिया का साधन बनते हैं।' (*संदर्भ : साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, मैनेजर पांडेय, आधार प्रकाशन, हरियाणा*) अब इस बात को ल्यूमियर बंधुओं के इस जादुई आविष्कार के साथ मिलाकर देखें तो बात समझ में आसानी से आने लगती है। सत्ता जनता की इच्छाओं को भुनाती है, जनता के भय का इस्तेमाल करती है और उसे एक सामाजिक भ्रम तथा आत्मविसर्जन की ओर ढकेल देती है। पुलिस के प्रति भय या नफरत रखने वाले आम मध्यवर्गीय भारतीयों के बीच *दबंग* के नायक की रॉबिनहुडिया फितरत को जस्टिफाई कराया जात है, जो शरीर में इतने छेद करने की हैसियत रखता है कि कन्फ्यूजन पैदा हो जाय कि साँस क से लें, और...। वो अपराधी को मारता है, उनके पैसे खुद रख लेता है और जनता इ समाधान से संतुष्ट दिखती है। यदि किसी दर्शक ने इस दृश्य पर समझदार होने की कोशिश की तो तत्काल प्रभाव से मुन्नी बदनाम होने के लिए टूट पड़ती है; वह भी झंडू बाम और फेवीको के प्रत्यय–उपसर्ग के साथ। लियो लावेंथल ने बताया है कि ऐसे टुच्चे कलारूपों का उद्देश्य व्यापक समाज की चेतना को व्यवस्था के अनुकूल बनाना। उसमें संघर्ष और विरोध की ज सहमति और स्वीकार की आदत डालना। दर्शक के कलात्मक अनुभव को (जाहिर है आलोचनात्मक रुख वाला होगा) नष्ट करके उसकी कल्पनाशीलता और इसी बहाने उ

स्वतंत्रता को समाप्त कर देना। लोग कह सकते हैं कि सिनेमा कलात्मक मूल्यों वाला गंभीर साहित्य नहीं है, उसकी विधाग.त विशेषता और माँग उसे सामाजिक प्रतिबद्धता के सवालों से दूर रहने को बाध्य करती है। बात काफी हद तक सही भी है। क्योंकि किसी फिल्म में हारता हुआ, मार खाता हुआ पूंजीपति भले ही आम जनता की दमित कुंठाओं को शमित कर रहा हो, लेकिन यह सब बिना पूंजी के परदे पर उतर ही नहीं सकता। फिल्म बनाने वाला कितना ही प्रतिबद्ध क्यों न हो, उसे अंततः बाजार से निर्देशित होना ही पड़ता है। वरना, *भुवन शोम* के माध्यम से ताराचंद बड़जात्या की अच्छी–खासी आर्थिक आमदनी के बावजूद मृणाल सेन को खर्चा निकालने के लिए यह फिल्म बेचनी नहीं पड़ती। परंतु सवाल यह है कि क्या इतने विस्तृत मास अपील वाले उपक्रम को बाजार के हवाले छोड़ा जा सकता है! सरकार और न्यायालय जब इसे जनता को प्रभावित करने वाला माध्यम मानते ही हैं तो क्यों नहीं इसके रचनात्मक उपयोग के लिए बजट में अलग से प्रावधान करते! फिल्म से जुड़े लोगों की आर्थिक सुरक्षा क्यों नहीं सुनिश्चित करते! फिर से फ्रांस का हवाला देना चाहूँगा कि वहाँ एक फिल्म बनाने के बाद दूसरी फिल्म के लिए बड़े आराम से पैसे मिल जाते हैं। परंतु अपने यहाँ तो उल्टा ही होता चला गया। १९९१ के आर्थिक उदारीकरण ने इसे मुनाफे के उद्योग में तब्दील कर दिया। अंडरवर्ल्ड के काले पैसे इसमें लगकर सफेद होने लगे। यहाँ भूख से मरते किसान, फुटपाथों पर बदहाल बचपन और अन्य जन समस्याओं की बातें एक तरफ और *जिंदगी मिलेगी न दोबारा* की आत्मरति का चार्वाक दर्शन सबकुछ उद्योग में बदलता चला गया। अडोर्नो ने ऐसे ही कलारूपों को *संस्कृति का उद्योग* कहा था। मानो हम एक लोकतांत्रिक देश में रह ही नहीं रहे हों, किसी विशाल कारखाने में पड़े हों। समाजवादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने आंतरिक उपनिवेश की जो बात की है, वह इस कलारूप में भी व्यंजित होता है। करण जौहर की फिल्मों के लिपस्टिक पुते और गौरांग रोते चेहरे यथार्थ से कोसों दूर खड़े हैं। यथार्थ यह है कि अपने देश में किसान मर रहे हैं, बहुराष्ट्रीय कंपनियां धरती का सब धन सोखती जा रही हैं, लेकिन सत्ता है कि बॉक्स ऑफिस की मूर्खतापूर्ण आंकड़ेबाजी को प्रोत्साहित किये जा रही है। राही मासूम रज़ा ने बड़ी पीड़ा के साथ अपनी किताब *सिनेमा और संस्कृति* में लिखा था कि, 'हमारी फिल्मी दुनिया में कहानियाँ लिखी नहीं जाती बल्कि गढ़ी जाती हैं। कहानी के इस खोखेलपन को छिपाने के लिए विदेश यात्रा की जाती है। लव इन टोकियो होता है। कोई ईवनिंग पेरिस में और कहीं प्यार मुहब्बत के लिए रोम और मिस्र का लंबा सफर करना पड़ता है।... कहानी की इस हद तक का नतीजा यह होता है कि अगर कोई हमारी फिल्मों के जरिये हमारे देश को देखना और पहचानना चाहे तो यह मुमकिन ही नहीं है।' (पृ. ६२) लिहाजा, इस विश्व–समय में यह जरूरी है कि हम सिनेमा को एक गंभीर सांस्कृतिक उत्पाद के रूप में ग्रहण करें। उसकी निर्मिति का ढाँचा बदलें। दर्शकों की रुचि का परिष्कार करें। स्कूल के पाठ्यक्रम में लगायें। शोध संस्थानों में जगह दिलायें। अमेरिकी साम्राज्यवाद और उसके नवउदारवादी व्यापारिक गंठजोड़ से अपनी सबसे समृद्ध (संख्या के लिहाज से) युवापीढ़ी को महफूज रखें। सिनेमा के सामाजिक, सांस्कृतिक सरोकार तय किये जायं ताकि *मटरू की बिजली का मन्डोला* के नायक मटरू की तरह पूंजीवाद, साम्राज्यवाद और सामंतवाद से लड़ी जा रही लड़ाई में अनाज बेचने के लिए भी विकल्पहीनता न पैदा हो जाय। यदि विकल्प मिले भी तो वह किसी पेटी बुर्जुआ पूंजीपति तक ही सीमित न हो जाय, ताकि वह हमारे समय के मटरूओं और कुछ समय पहले के अल्बर्टों से ये बेहुदा सवाल न पूछ सके कि, 'कब आ रहा है रेवोल्यूशन?'

—अविनाश कुमार सिंह

इन्हीं लोगों ने...

शैल

बिल्कुल सही पहचाना मुझे
सिनेमा हूं मैं...
उम्र की सौवीं पायदान पर खड़ा
हिन्दुस्तानी सिनेमा...

इब्तिदाई कदमों के सौ साल गुजरे कि
होश की दवा चखी थी वजूद ने
स्याह—सुफेद रौशनी की लकीरों को
छुआ था जब काँच की आँखों ने
तो शक़्लें फरोख्त हुई
कुछ गूंगे चेहरों की
काली प्लेटों में सोयी आवाजें
जगाना होता था जिन्हें
चुभाकर समय की सूईयां
आवाजों ने बोलना सीखा, तो
हरिश्चन्द्र—तारामती, हीर—रांझा
जैसी कितनी ही कहानियों
की रूहें जिंदा होती रहीं
कपड़ों की दीवारों पर
कितनी ही चमचमाती
कहकशाओं के रंग समेट लिये
और आबशारों ने
मोतियों के गर्द तराशे
कि रंग—बिरंगी रौशनाई
कि, किर्चियों ने
आइने ईज़ाद किये
कुछ मुकम्मल आइने
जिनके अंदर लरज़ती परछाइयों ने
अँगूठे दिखा दिये
नामचीन रक्कासाओं के होश—फरेब रक़्स को
कभी पाकीजा के ठाढ़े रहियो...
के नामुराद फेंटों ने
तो कभी उमराव जान अदा की
गज भर गहरी दुखियारी साँसों में
आह! सिनेमा था मैं
सौ बरस में बाजार,
मंडी,
अर्थ
ओफ्फ!

द्वारा : शैलेन्द्र पांडेय, रेशमा सदन, चित्रगुप्त नगर, गमहरियां, झारखण्ड, मो. ०९२०४७५११४६

तीली–तीली बिरहा की रात का जलना...

वो जो रोज रो जाती थी
सागर भर आँसू
जो चिट्ठी लिखती थी
सब सिनेमा ही तो था
दूर गांव की अकेली राधा
सरहद तक टेर पहुंचाया करती थी
वो गुम सी गयी सिनेमा से
और
दुनिया से भी
कि तेरी कुड़माई हो गयी...
लहणा सिंह
भरोसा ही नहीं करता
दिलफ़रेब...।
मुआं आज भी स्लो मोशन में चलता है!

काली दीवार को घूरता
सदी का गुस्सैल शाहंशाह
और हाँ,
बाबू मोशाय!
सौ बरस की उल्टी उम्रदराजी
कि मटरू की बिजली का मन डोलना
यों रुदालियों और डॉलियों
का गायब होना रजतपटल से
जरी वाले नीले आसमां के तले
छांह सेंकता मैं
सौ बरस का अदद
हिंदुस्तानी सिनेमा.

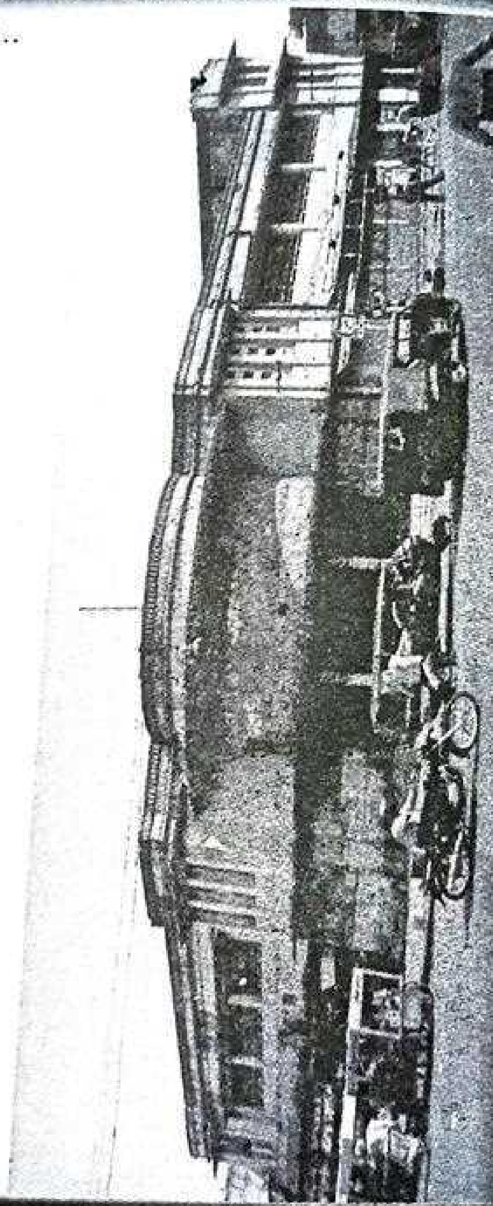

सौ बरस के सिनेमा ने छोटे शहरों के इन पुराने सिनेमाघरों को खो दिया है। जमशेदपुर का बंद पड़ा बसंत टाकीज। ऐसी कहानियां हर शहर में लिखी जा रही है। **छायांकन व टिप्पणी : अंकुर कंठ**

भारतीय सिनेमा : एक सदी का सफर

पवन कुमार मैठानी

१.

भारतीय सिनेमा ३ मई २०१३ को अपने सौ साल पूरे करने जा रहा है। सौ साल के इस लम्बे सफर में भारतीय सिनेमा जगत ने सपनों की लुभावनी उड़ान हासिल की है और खूबसूरती के नए–नए प्रतीक गढ़े एवम् दृश्य रचे। भारतीय सिनेमा जगत की यात्रा भी दरअसल, नए सपनों और बदलते सौंदर्यबोध की खूबसूरत यात्रा है, कितना कुछ बदल गया है इस काल खंड में। इस लंबे अंतराल में उसने अनेक बदलावों का सामना किया तो दूसरी तरफ बुलंदियों के कीर्तिमान भ स्थापित किए। भारतीय सिनेमा मूक से चलकर बोलती तथा ब्लैक एंड ह्वाइट से चलकर रंगीन तव और रील से चलकर डिजिटल तक पूरी तरह नई सूरत अख्तियार कर चुका है। हर साल सब ज्यादा फिल्में बनाने वाली इंडियन फिल्म इंडस्ट्री में ट्रेंड आते और जाते गये। पिछले सौ साल इतिहास में उसने बायोस्कोप, सिंगल स्क्रीन थियेटर से लेकर मल्टीप्लेक्स तक का सफर तय कि है। खामोश फिल्मों के दौर से निकलकर आज हम फिक्शन को भी हकीकत जैसा दिखाने वा फिल्मों के दौर में आ चुके हैं। दौर कई आए और गए पर कुछ ट्रेंड उस दौर की पहचान बन ग आज भारतीय सिनेमा बाकायदा उद्योग है और तकनीकी रूप से दुनिया के किसी भी सिनेमा मुकाबला कर रहा है। लेकिन जब इसकी शुरूआत हुई थी तब फिल्म बनाना अपने आप में दुस्साहस का काम था। हॉलीवुड में अभी फिल्म की शुरूआत ही हुई थी कि अपने दादा साहब फा ने *राजा हरिश्चंद्र* के जरिये हिदुस्तानी सिनेमा की नींव रख दी। जो कि ३ मई १९१३ को रि हुई। फिल्म को प्रदर्शित करते हुये दादासाहेब फाल्के को यह गुमान भी नहीं रहा होगा कि वे कला को पहली बार रोप रहे हैं वह समूची शताब्दी के लिए सबसे बढ़कर प्रभावशाली साबित ऐसी कला जिसके सृजन में सभी क्षेत्रों की हिस्सेदारी होगी। हर जाति, धर्म और राज्यों के फ साझेदार बनेंगे। सन् १९१३ से १९३१ के दरम्यान लगभग १३०० मूक फिल्मों का निर्माण इनमें अधिकांश पौराणिक, धार्मिक और फंतासी कथानकों पर आधारित थी।

पुस्तकालाध्यक्ष, पीजीडीएवी (सांध्य), दिल्ली वि.वि., मो. ०९८६८८३८०४३

२.

सन् १९३१ में सुप्रसिद्ध निर्माता–निर्देशक आर्देशिर ईरानी ने फिल्मों को बोलना सिखाया। उनकी निर्माण संस्था इंपीरियल फिल्म कम्पनी ने अपनी पहली सवाक फिल्म 'आलमआरा' का निर्माण कर संसार को चौंका दिया था । इस फिल्म में मास्टर विट्ठल, जुबैदा, पृथ्वीराज कपूर, डब्लू. एम. खान और जगदीश सेठी ने काम किया। इस फिल्म का मुम्बई के 'मैजेस्टिक' सिनेमाघर में १४ मार्च १९३१ को प्रदर्शन किया गया। इस दौर की फिल्मों में गीतों की भरमार थी। फिल्मों में नायक–नायिका स्वयं ही अपने गीत गाते थे। इसलिए उनका गायक होना जरूरी था। सहगल अपनी गायकी की जमीन पर हिंदी सिनेमा के पहले सुपरस्टार बने। पृथ्वीराज कपूर, मोतीलाल, अशोक कुमार, देविका रानी, दुर्गा खोटे, लीला चिटनिस, ललिता पवार, शांता आप्टे इस दौर के लोकप्रिय कलाकार थे।

भारतीय फिल्मों ने देश के नव–निर्माण में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आजादी से पहले का सिनेमा भारतीय जन–जागृति व लोगों के चरित्र–निर्माण का सिनेमा था। आजादी के बाद का सिनेमा राष्ट्रीय पुनर्जागरण का हिस्सा रहा। यह बनते राष्ट्र का स्वप्नजीवी समय था। समाजवादी सपनों का समय था। अधिकतर फिल्मों का विषय सामाजिक, देश प्रेम, अहिंसा और त्रिकोणात्मक प्रेम कहानी रहा है। राजकपूर, शांताराम, गुरूदत्त, विमल रॉय, महबूब खान, नितिन बोस सरीखे निर्देशकों ने इस दशक में अपनी बेहतरीन फिल्में बनाई। फिल्म कला के सभी क्षेत्रों में इन निर्देशकों की अच्छी पकड़ थी। *आवारा, दो बीघा जमीन, पतिता, जागृति, बूट पालिस, श्री ४२०, आजाद, मदर इंडिया, प्यासा, मुगल–ए–आजम, जिस देश में गंगा बहती है, दो आंखे बारह हाथ, साहब बीवी और गुलाम, बंदिनी, काला बाजार, गंगा–जमना* इस दौर की यथार्थवादी कालजयी फिल्में थीं। दिलीप कुमार, राजकपूर, देवआनंद की त्रिमूर्ति इस दौर के सफल नायक थे जिन्होने आगामी दो दशकों तक अपना वर्चस्व कायम रखा। नर्गिस, मधुबाला, सुरैया, नूतन, मीना कुमारी, वहीदा रहमान, कामनी कौशल इस दौर की कामयाब नायिकायें थीं। प्राण, अजीत, कन्हैयालाल, याकूब जैसे चरित्र अभिनेताओं ने सिनेमा के पर्दे पर अपनी दमदार दस्तक दी। इसीलिये सन् १९५० का दशक हिंदी फिल्मों का स्वर्णयुग कहा जाता है।

३.

पचास और साठ का दशक फिल्म–संगीत के लिहाज से भी स्वर्णयुग कहा जाता है। गीतकार, संगीतकार और गायकों की एक से बढ़कर एक प्रतिभाएं इन दिनों में सक्रिय रहीं। शानदार बोल, सुरीली धुनें और बेमिसाल गायकी ने ऐसा मायाजाल रचा कि सबसे पसंदीदा गानों के लिए आज भी इस इस युग को याद करते हैं। शंकर–जयकिशन, मदनमोहन, रोशन, नौशाद, रवि, ओ.पी. नैयर, सी. रामचंद्र, सचिन देव बर्मन ने प्रदीप, हसरत, मजरूह, शैलैन्द्र, साहिर, राजा मेंहदी, अली खां, शकील, इंदीवर आदि के गीतों को लता मंगेशकर, मोहम्मद रफी, मुकेश, मन्ना डे, किशोर कुमार, आशा भोंसले, महेन्द्र कपूर आदि के स्वरों में प्रस्तुत कर फिल्म गीत–संगीत को अमर कर दिया। सन् साठ के ही दशक में जब स्टूडियो व्यवस्था चरमाई

और फिल्म निर्माण व्यक्तियों के हाथों में चला गया तो अभिनेताओं–अभिनेत्रियों के बंधन भी टूटे। धीरे–धीरे वे 'स्टार' बन गए और फिर 'सुपरस्टार' हो गये। अभिनय को प्रतिष्ठा और गरिमा दिलाने की बात की जाए तो दिलीप कुमार हिंदी फिल्म के सुपरस्टार थे। लेकिन 'बॉक्स ऑफिस' ने जब सितारों को जरूरत से ज्यादा महंगा बना दिया तो 'आराधना' जैसी फिल्मों की सफलता के बाद राजेश खन्ना पहले सुपरस्टार के रूप में स्थापित हुए। वहीं आगामी दो दशक अपने तरह के सिनेमा के नाम दर्ज कराने वाले अभिताभ बच्चन ने भी अब्बास की 'सात हिंदुस्तानी' से अपनी उपस्थिति दर्ज कराई। जहाँ राजेश खन्ना का आगाज जितने धमाकेदार था उनकी पारी उतनी ही संक्षिप्त रही। सन् १९७३ में 'जंजीर' व १९७५ में 'दीवार' फिलम से हिन्दी सिनेमा जगत को एंग्री यंगमैन के रूप में नया सुपरस्टार अभिताभ बच्चन मिला। अमिताभ बच्चन के सिनेमा–परिद्रश्य पर आते ही ऐक्शन फिल्मों का बोलबाला हो गया और फिल्म संगीत नेपथ्य में चला गया। अमिताभ में प्रतिभा थी, यह अमिताभ बच्चन के एंग्री यंगमैन के रूप में उभरने का दौर था जोकि आठवें दशक के मध्य तक रहा। सन् १९७५ में रमेश सिप्पी की बनी फिल्म 'शोले' ने हिंदी फिल्म निर्माण को नई दिशा दी। फिल्म *शोले* के नाम कई रिकार्ड रहे। शक्ति सामंत, राहुल खेर, मनमोहन देसाई, प्रकाश मेहरा इस दौर के सफल फिलमकार थे।

४.

संजीव कुमार, धर्मेन्द्र, मनोज कुमार, जितेन्द्र, अमोल पालेकर जैसे हीरो व जया भादुड़ी, रेखा, मुमताज, हेमामालिनी जैसी नायिकायें इस दौर में कामयाब रहे। इस दौर की फिल्मों में रिश्तों की अहमियत दिखाने पर जोर रहता था। इस दौर ने 'आनंद' और 'गुड्डी' जैसी फिल्में दी। इसी दशक में मृणाल सेन, श्याम बेनेगल, गोविंद निहलानी, रवींद्र धर्मराज, बासु भट्टाचार्य, अवतार कृष्ण कौल, एम.एस. सथ्यू फिलमकारों ने *मृगया, अंकुर, भूमिका, चक्र, आक्रोश, गमन, पार, मंथन* जैसी कलात्मक फिल्में बनायी। नसीरूद्दीन शाह, शबाना आजमी, स्मिता पाटिल, ओम शिवपुरी जैसे सशक्त कलाकार इन फिल्मों के जरिये हिंदी सिनेमा को मिले। यह अलग बात है कि भारतीय सिनेमा की समग्रता में बात की जाए तो बंगाल में सत्यजीत राय और ऋत्विक घटक ने इस दौर में फिल्में बनाकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति पाई।

साठ और सत्तर का दशक हिंदी फिल्मों के सुरीले दशक के रूप में स्थापित हुआ तो ८० और ९० के दशक में हिंदी सिनेमा बॉलीवुड बनकर उभरा। नब्बे का दशक रोमांटिक फिल्मों का दौर रहा। आमिर खान, सलमान खान और शाहरूख खान लवर ब्वॉय के रूप में उभरे। आज के नये दौर में *आशुतोष गोवारिकर की लगान, स्वदेश, जोधा अकबर*, आमिर खान अभिनीत *थ्री इडियट, रंग दे बसंती*, अमिताभ बच्चन अभिनीत *पा*, और *ब्लैक* शाहरूख खान अभिनीत *माई नेम इज खान* संजय दत्त अभिनीत *मुन्नाभाई एमबीबीएस, लगे रहो मुन्ना भाई, बर्फी* जैसी फिल्में भी है जिन्होंने नई उम्मीदें जगाई हैं जो कथानक और अभिव्यक्ति की दृष्टि से सशक्त माने जाते हैं। आज समय की समीक्षा करती राजनीतिक फिल्में भी बन रही हैं और बेहद रोमांटिक अंदाज की भी। आज मल्टीपलेक्स कल्चर आया है जो कि आम दर्शकों को फिल्मों से दूर कर रहा है।

इसके कई कारण है। उनमें से एक कारण टिकटों का महंगा होना भी है। मल्टीप्लेक्सों में ५०० रूपये तक टिकट की दर पहुंच गयी है। एडवांस बुकिंग का ट्रेंड खत्म हो गया है। कभी *मुगल–ए–आजम, मदर इंडिया, पाकिजा, बॉबी, शोले, मुकद्दर का सिकंदर, देवदास* जैसी कई सुपरहिट फिल्में जब रिलीज हुई तो इनका टिकट एडवांस में बुक कराने वालों की लाइन देर रात सिनेमा घरों के बाहर लग जाती थी। आज ये सब सपने हैं।

५.

आज न वह दौर रहा जब फिल्में एक ही सिनेमाघर पर महीनों चला करती थीं। सन् १९५० में अशोक कुमार की 'किस्मत' एक ही सिनेमाघर में पूरे साल चली। *मुगल–ए–आजम, बरसात, संगम, बॉबी, शोले* सहित कई फिल्में अपने समय में महीनों एक ही थिएटर पर चलती रहीं। आज फिल्में चन्द दिन ही चल जाए तो बड़ी बात मानी जाती है। आज नई फिल्में कब आयीं, कब गयीं, पता ही नहीं चल पाता। नयी पीढ़ी के लिये गोल्डन जुबली, सिल्वर जुबली शब्द अनजाने हो गये हैं। हिन्दी सिनेमा जगत के ये सौ साल अद्भुत रहे हैं। हिंदी सिनेमा का नवीनतम दौर भी अपनी पूरी तड़क–भड़क और सितारा वर्चस्व के बावजूद नई जमीन तोड़ने में कामयाब है। फिल्म निर्माण के हर क्षेत्र में नवीनतम प्रतिभाओं का आगमन हो रहा है जिनके भीतर कुछ अनूठा कर गुजरने की दृढ़ इच्छाशक्ति है। सौ साल का यह सफर इस बात की गवाही देता है कि हमारा सिनेमा विश्व के किसी भी देश के सिनेमा से कमतर नहीं है।

...

पहली भारतीय फिल्म *सत्य हरिश्चन्द्र* का दृश्य

सिनेमा के बदलते स्वरूप

आलोक प्रभात

भारतीय सिनेमा को गति देने तथा उसके विकास में जिन लोगों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की उनमें हरिश्चंद्र सखाराम भाटवडेकर उर्फ सावे दादा का नाम काफी महत्त्वपूर्ण है। सावे दादा की तरह हीरालाल सेन (१८६६–१९१७) भी भारतीय फिल्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है, हीरालाल १८९८ तक अपने छायाचित्रों के छायांकन के माध्यम से अनेक अखिल भारतीय प्रतियोगिताओं तथा प्रदर्शनियों में पुरस्कृत एवं सम्मानित हो चुके थे। मूलत: ये छायाकार थे लेकिन फिल्म निर्माण के जुनून ने इन्हें ऐसा उद्वेलित किया कि आप कोलकाता में फ्रांस की पाथे कंपनी के कैमरामैन, जो कोलकाता के जनीवन के दृश्यों को फिल्मांकन करने आए थे, के सहायक बन गए व फिल्म निर्माण विधा की गहराइयों एवं तकनीकियों को बारीकी से सीखा। कालांतर में इन्होंने कई फिल्में बनाई जिसमें 'अली बाबा और चालीस चोर' प्रमुख हैं। इस फिलम की अवधि दो घंटे से अधिक थी। इसके एक वर्ष बाद उन्होंने १९०६ में एक अन्य वृत्तचित्र 'बंगाल के विभाजन का आंदोलन' बनाया था। उस समय के तकनीकी विकास की दृष्टि से ये सभी तकनीकी आधारित आधुनिक फिल्में समझी गई।

आजादी की पूर्व संध्या तथा आजादी के बाद भारतीय हिंदी सिनेमा ने अपने स्वर्णिम युग में प्रवेश किया क्योंकि, उस समय की फिल्में स्वतंत्रता आंदोलन एवं विकास की पृष्ठभूमि पर आधारित थीं। १९४३ में बनी फिल्म 'चांदनी', 'प्रेम संगीत' तथा 'किस्मत' ऐसी फिल्में थीं जो १९४२ के आंदोलन की पृष्ठभूमि पर आधारित थीं। 'प्रेम संगीत' का यह कथन 'हमने मन में ठाना है, विदेशी को भगाना है' इस बात का ज्वलंत प्रमाण है। इस फिल्म के गीत कवि प्रदीप ने लिखे थे। दरअसल, १९४२ के स्वतंत्रता आंदोलन का आगामी दो दशक भारतीय हिंदी सिनेमा में स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता रहा और राष्ट्र के राजनीतिक परिदृश्य में जब बदलाव आया, तो इसका प्रभाव सिनेमा पर भी पड़ा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीय भावनाओं को लेकर अनेक फिल्में बनाई गई, जिसमें 'बापू की अमर कहानी' विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, राँची वि.वि., झारखण्ड, मो. ०७५४९०८७८२३

इसी तरह भगत सिंह के जीवन एवं स्वतंत्रता संग्राम में उनके संघर्ष पर आधारित फिल्म 'शहीद' (१९४८) बनाई गई जिसमें दिलीप कुमार के सर्वोत्कृष्ट अभिनय ने भगत सिंह की भूमिका में चार चांद लगा दिया।

आजादी के बाद एक–दूसरे के बीच वैमनस्यता की नींव पड़ गई जो देश की राष्ट्रीयता एवं संस्कृति के लिए एक बड़ा खतरा था। अतः कौमी एकता एवं सांप्रदायिक सौहार्द उत्पन्न करने के लिए सिनेमा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कौमी एकता एवं भाईचारा तत्कालीन फिल्मों के प्राण बिंदु थे। 'पड़ोसी' जैसी फिल्मों के माध्यम से सांप्रदायिक ताकतों पर प्रहार किया गया तथा यह संदेश देने का प्रयास किया गया कि पड़ोसी सिर्फ पड़ोसी होते हैं, न कि हिंदू या मुसलमान। आजादी के तत्काल बाद बनने वाली फिल्में न केवल राष्ट्रीय भावनाओं पर आधारित थीं, बल्कि इनमें सामाजिक सवालों के साथ रोमानी संवेदनाओं का पुट भी था।

सिनेमा के स्वर्णिम युग के फिल्म निर्माताओं में महबूब खान, गुरुदत्त, विमल राय, राजकपूर, हेमेन गुप्ता, सत्येन बोस, कार्तिक चटर्जी, चेतन आनंद, दत्ता धर्माधिकारी आदि प्रमुख हैं। इस युग की अधिकांश फिल्में सामाजिक समस्याओं या यथार्थ पर आधारित थीं। करीब चौबीस से भी अधिक फिल्मों का निर्माण करने वाले महबूब खान की सभी फिल्मों का संगीत नौशाद ने दिया था। महबूब खान की 'आन' (१९५२) जो विदेशों में काफी लोकप्रिय रही और गीत, संगीत एवं कास्ट्यूम की वजह से यह फिल्म उस जमाने की चर्चित फिल्म थी। यद्यपि इस फिल्म ने भारतीय सिनेमा को एक नया आयाम दिया, लेकिन महबूब खान की सबसे मशहूर एवं सार्थक फिल्मों में 'मदर इंडिया' (१९५२) का नाम विशेष उल्लेखनीय है। दरअसल, यह उनके द्वारा १९४० में बनाई गई फिल्म 'औरत' की पुनर्प्रस्तुति थी। इसमें सुनील दत्त और नरगिस की अदाकारी बेमिसाल है। गीत (दुनिया में आया है तो जीना ही पड़ेगा..), संगीत, कथानक की दृष्टि से यह फिल्म सर्वोत्तम मानी गई। आज भी यह एक प्रेरक यादगार फिल्म मानी जाती है। इस फिल्म में सर्वश्रेष्ठ अभिनय के लिए नरगिस को ग्यारहवें अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री का पुरस्कार प्रदान किया गया था, जो हिंदी सिनेमा के इतिहास में एक 'स्वर्णिम अध्याय' है। सिनेमा को एक नया आयाम देने वाले तथा निजी संवेदनाओं को सामाजिक आयाम प्रदान करने वाले बहुमुखी प्रतिभा के धनी गुरुदत्त का जन्म बंगलौर में हुआ था। कोलकाता में गुरु उदयशंकर से नृत्य के गुर सीखकर दिल में निर्देशक का जज्बा लिए वे मुंबई आ गए तथा १९५२ में उन्होंने 'गुरुदत्त फिल्म्स प्राइवेट लिमिटेड' नामक एक फिल्म कंपनी बनाई। इस कंपनी के बैनर तले उन्होंने पहली फिल्म 'आर पार' (१९५४) बनाई जो हास्य प्रधान फिल्म थी। इस फिल्म में मुख्य भूमिका गुरुदत्त ने ही की थी। उस समय के प्रसिद्ध हास्य अभिनेता जानी वॉकर ने हास्य कलाकार की सहयोगी भूमिका में इस फिल्म में अभिनय किया था। उनकी दूसरी हास्य प्रधान फिल्म 'मिस्टर एंड मिसेज ५५' थी, जो एक हास्य प्रधान फिल्म थी। प्रारंभ में गुरुदत्त ने हास्य प्रधान फिल्मों का निर्माण किया, लेकिन उनके हास्य में भी रोजमर्रा के जीवन का दर्द था और एक आम इंसान की साधारण जीवन शैली के लिए बेहद मर्मस्पर्शी संवेदना थी। बाद में उन्होंने 'प्यासा', 'कागज के फूल' तथा 'साहब बीबी और गुलाम' जैसी गंभीर एवं हृदयस्पर्शी फिल्मों

का निर्माण किया। वास्तव में ये तीनों फिल्में उनके वास्तविक इरादों का यथार्थ मिश्रण है।

सिनेमा के इतिहास में बलदेव राज चोपड़ा एवं यश चोपड़ा का भी महत्वपूर्ण योगदान है। बी० आर० चोपड़ा ने 'शोले' (१९५३) जैसी ट्रेंड सेटर फिल्म का निर्माण किया। संवाद प्रधान फिल्म होने के कारण आज भी इसके संवाद लोगों की जुबान पर हैं। इसी तरह उन्होंने 'अफसाना' (१९५१), 'एक ही रास्ता' (१९५६), 'नया दौर' (१९५७), 'धूल का फूल', 'गुमराह' (१९६३), 'इंसाफ, का तराजू' (१९८०) तथा 'निकाह' जैसी सुपरहिट फिल्मों का भी निर्माण किया। इनकी फिल्मों की पृष्ठभूमि सामाजिक–आर्थिक के साथ–साथ कौमी एकता एवं सांप्रदायिक सौहार्द पर अवलंबित थी। 'निकाह' मुस्लिम औरत की कशमकश पर आधारित थी। वे बॉलीवुड के ऐसे निर्देशक माने जाते हैं, जिन्होंने भारतीय सिनेमा को एक नई दृष्टि दी व नया आयाम प्रस्तुत किया। उदाहरण के तौर पर, उनकी फिल्म 'धूल का फूल' को लिया जा सकता है, जो विवाह पूर्व संबंध और अवैध संतान की मार्मिक कथा को हृदयस्पर्शी ढंग से व्यक्त करती है। उन्होंने अपनी हर फिल्म के माध्यम से हमेशा एक नए विषय को उठाया है। यही कारण है कि अवैध संतान की चर्चा यदि वे 'धूल का फूल' या 'त्रिशूल' से प्रारंभ करते हैं, तो 'दिल वाले दुल्हनिया ले जाएंगे (१९९५) जैसी मनोरंजनात्मक पारिवारिक फिल्मों से भारतीय संस्कृति एवं तथाकथित रूढ़िवादी संस्कृति को भी प्रदर्शित करने की कोशिश करते हैं। इसी कारण भारतीय सिनेमा में इनके अद्वितीय योगदान के लिए इन्हें २००१ का 'दादा साहब फाल्के पुरस्कार' से सम्मानित किया गया।

निस्संदेह सिनेमा का मूल उद्देश्य मनोरंजन है, इसलिए फिल्मों में प्रेम, सेक्स, हिंसा जैसे तत्त्वों की प्रमुखता रही है किंतु भारतीय फिल्में देश की परिस्थितियों और सामाजिक परिवर्तन से उपजी समस्याओं और त्रिंताओं का चित्रण भी करती रहती है। देश जब विदेशी सत्ता से मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहा था उस समय ब्रिटिश सरकार के तरह–तरह के अंकुशों के बावजूद हमारे फिल्मकारों ने 'मजबूर' फिल्म के गीत 'अब डरने की बात नहीं है, गोरा छोरा चला गया' और 'शहीद' फिल्म का गीत 'वतन की राह में वतन के नौजवां शहीद हों, के माध्यम से लोगों के मन में देशभक्ति का मंत्र फूंकने के प्रयास किए। १९४० के दशक में कानून की सख्ती के चलते अधिकतर धार्मिक पौराणिक फिल्में ही बनती थीं। लेकिन 'चल चल रे नौजवान चल' और 'दूर हटो ए दुनिया वालों हिंदुस्तान हमारा है' जैसे गानों की मदद से विद्रोह व विरोध व्यक्त करने के अवसर ढूँढ लिए जाते थे। सोहराब मोदी ने प्रसिद्ध ऐतिहासिक फिल्म 'सिकंदर' का निर्माण किया जिसका उद्देश्य देशभक्ति का भाव जागृत करना था। प्रगतिशील चेतना के प्रसार के फलस्वरूप देश प्रेम के साथ–साथ पूंजीवाद, सामंतवाद और गरीबों के शोषण जैसे मसले भी फिल्मों में स्थान पाने लगे। महबूब खान की 'रोटी,', बिमल राय की बांगला फिल्म उदय पंथे, ख्वाजा अहमद अब्बास की 'धरती के लाल' और चेतन आनंद की 'नीचा नगर' जैसी यथार्थवादी फिल्मों ने सिनेमा की उस नई शक्ति को उजागर किया जिसकी ओर ख्वाजा अहमद अब्बास ने गांधी जी को लिखे पत्र में इशारा किया था।

आज हिंदी सिनेमा में सुमधुर गीत–संगीत की जगह भोंडी, अश्लील गीत–संगीतों का

प्रचलन इस तरह बढ़ा कि फिल्म निर्माताओं को अपनी फिल्म हिट कराने के लिए आइटम सांग डालना पड़ा। मसलन, मुन्नी बदनाम हुई डार्लिंग तेरे लिए, शीला की जवानी के साथ ही पॉप व रिमिक्स का सहारा लेना पड़ा जो हिंदी सिनेमा के बदलते प्रतिमानों को रेखांकित करते है और यही कारण है कि 'आज का सिनेमा' के कर्णधार आज यथार्थ को यथार्थ की भाषा में दिखाए जाने पर बल देते हैं क्योंकि उनकी यह मान्यता है कि इससे न केवल व्यापक असर पड़ता है, बल्कि यह व्यक्ति को पूर्वाग्रह से मुक्त कर सोच के वातायन को उन्मुक्त बनाती है। महेश भट्ट एवं पूजा भट्ट द्वारा निर्मित फिल्में आज के सिनेमा के बदलते स्वरूप की जीती–जागती मिसाल हैं। मसलन, 'पाप', 'मर्डर, 'रोग' एवं 'जहर' 'राज–३' (२०१२) आदि। इसी तरह आधुनिक शहरी वेश्या के जीवन पर आधारित सुधीर मिश्रा की 'चमेली', दीपक शिवदासानी की 'जूली', करण राजदान की फिल्म 'गर्लफ्रेंड', मधुर भंडारकर की 'चांदनी बार' (२०११) व 'पेज थ्री' प्रमुख हैं। इस दौर की फिल्मों में स्त्री और यौन संबंधों को पुन: नए सिरे से परिभाषित करने की कोशिश की गई है तथा एक नई परंपरा पुरानी फिल्मों का रीमिक्स बनाने की शुरूआत हुई। मसलन, वासु भगनानी ने १९४६ में निर्मित महबूब खान की सुपर हिट फिल्म 'अनमोल घड़ी' का रीमेक बनाया और फिल्म का नाम दिया 'जीना सिर्फ मेरे लिए'। इसके निर्देशक थे तलत जानी तथा अभिनेता व अभिनेत्री तुषार कपूर व करीना कपूर। इस युग के महत्त्वपूर्ण फिल्मकार हैं करण जौहर, संजय लीला भंसाली, प्रिय दर्शन, राम गोपाल वर्मा, मधुर भंडारकर, सुधीर मिश्रा, विधु विनोद चोपड़ा, अनुभव सिन्हा तथा सबसे सफलतम चेतन मेहता (मंगल पांडेय : द राइजिंग (२००५), प्रकाश झा (अपहरण, मृत्युदंड)। हिंदी सिनेमा ने अपने सौ साल के गौरवमयी इतिहास में अनेक प्रतिमानों को स्थापित ही नहीं किया बल्कि सफलता की ऊँचाई को छूता हुआ भारतीय संस्कृति की झलक के साथ हॉलीवुड की समानांतर यात्रा के लिए भी अग्रसर हुआ, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर भी सिनेमा ने अपनी एक अलग पहचान बनाई।

सन्दर्भ :

• आजकल, संपादक : सीमा ओझा, अक्टूबर तथा दिसंबर २०१२
• हिंदुस्तान (हिन्दी दैनिक) : अक्टूबर २०१२

...

दायित्वबोध मुक्त सिनेमा के हालिया तेवर

अनिल कुमार सिंह

भारतीय चिंतन परंपरा में नाट्य और नृत्यकला के आविर्भाव को धार्मिक–सामाजिक उत्सवों के मध्य होने वाले सांस्कृतिक आयोजनों से जोड़कर देखा जाता है, जिनका मूल उद्देश्य आनंदपरक मनोरंजन था। भरतमुनि ने नाट्यकला की आत्मा नाट्यरस को माना था, जिसके प्रति लेखक, निर्देशक, अभिनेता और सहृदय या दर्शक समान रूप से जबावदेह थे। निश्चित रूप से इसी नाट्यविधा का परिमार्जित रूप सिनेमा है, जो कई दृष्टियों से आज गुणात्मक रूप में बदल चुका है। आज सिनेमा में लेखक, निर्देशक और दर्शक की भूमिकाओं के साथ–साथ उसके संयोजन का भाषिक स्वरूप काफी बदल चुका है। इसमें कोई दो राय नहीं कि मौजुदा सिनेमा विज्ञान और तकनीकी के योग से निष्पन्न होकर निरन्तर जटिल रूप धारण कर रहा है, लेकिन उसकी केन्द्रीयता कहीं अधिक भयावह कहानी बयां करती है। माना कि आज के यांत्रिक युग में मनुष्य की सभ्यता आचार से अधिक कायदे का मुखापेक्षी है। लेकिन इस बदलाब का प्रभाव कला क्षेत्र के अन्य रूपों की अपेक्षा सिनेमा में ज्यादा त्वरित है। समाज, राजनीति और विज्ञान सहित जीवन के सभी निर्णायक संदर्भो में पूँजी के निवेश के बाद कला के क्षेत्र में अबाध एवं अथाह पूँजी का कुछ तो चुपके से और एक बड़ा हिस्सा कारपोरेट के रूप में चले आना सिनेमा के लिए एक बड़ी दुर्घटना है। इस परिवर्तन के कारण सिनेमा के आन्तरिक स्वरूप में हुए कायाकल्प का गहन आकलन अभी होना बाकी है। सिनेमा निर्माण के अंतर्गत मानवीय संबंधों में वित्तीयशक्ति की भूमिका प्रबल हो जाने के बाद मुझे यह कहने में बिल्कुल गुरेज नहीं है कि सिनेमा का आधारतत्त्व 'आनन्द' कहीं पीछे छूट गया है।

चूँकि भारतीय सिनेमा की शुरूआत गुलामी की छाया में हुई थी, इसलिए उसके संपूर्ण कलेवर पर स्वतंत्रता आंदोलन के साथ संयुक्त रूप से चल रहे धार्मिक सामाजिक सुधार आंदोलनों का प्रभाव भी था। उस समय के कलासर्जक स्वाभाविक रुप से विषयगत चयन और अभिव्यक्ति के स्तर पर अपने भाषाई संस्कार तत्कालीन परिवेश से अर्जित कर रहे थे। 'सत्य हरिश्चंद्र' जैसी

असिस्टैंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, पीजीडीएवी (सांध्य) दिल्ली वि.वि., मो. ०९८१०८४३११२

पहली और बाद में बनी 'मदर इंडिया' जैसी कतिपय फिल्मों को देखकर यह निर्णय आसानी से किया जा सकता है कि वे अपनी चेतना का विकास देशी खाद–पानी से ही कर रहे थे। पिछले दो दशक में बने सिनेमा का तेवर काफी कुछ बदला है। १९९० के बाद का दशक भारतीय समाज एवं भारतीय सिनेमा दोनों के लिए अद्भुत किन्तु विचारणीय समय कहा जा सकता है। प्रतिभा, अवसर, चुनौती, पलायन आदि कई दृष्टियों से यह भारतीय समाज की आंतरिक ऊर्जा का प्रस्फुटन है। यह वही दौर है जिसमें 'सुपरस्टारी' आकलन को बेईमानी सिद्ध करते हुए एक साथ कई स्वतंत्र और कुछेक नायक–पुत्रों का सिनेमाई संघर्ष शुरू होता है। यह उन युवा कलाकारों का समय है, जिनके सामने निर्माता–निर्देशकों की ओर से धनाभाव का रोना तो बिल्कुल नहीं है, क्योंकि नामी पूंजीपतियों के अतिरिक्त काले–सफेद कई ज्ञात–अज्ञात स्रोत आज नौ का नब्बे बनाने के लिए इस धंधे में लगे हुए हैं। इसके बावजूद छोटे पर्दे पर जी–तोड़ पसीने बहाते और अपनी नर्सरी से आगे के दाखिले का सपना संजोये एक बड़ा कलाकार वर्ग जरूर है, जिसने घरों में स्वतंत्र कैदी बने स्त्री दर्शकों और दिशा से भटके युवजन को सिर्फ लुभाया ही नहीं, बल्कि उन्हें बाहरी दुनिया से रूबरू भी करवाकर बेहया आलोचक भी बनाया है। कालान्तर में जब इस छोटे पर्दे से एक के बाद एक कई नामी सितारे जुड़े तो दोनों माध्यमों को एक–दूसरे से अलग करना बेइमानी लगने लगा। आज सिनेमा की चर्चा टीवी कार्यक्रमों के बिना करना उचित नहीं है। टीवी की सफलता से हिन्दी सिनेमा के सामने सिर्फ दर्शकों को सिनेमा घरों तक लाने की चुनौती भर नहीं थी, बल्कि इस नये माध्यम ने सिनेमा की विषय–वस्तु और भाषाई तेवर को भी गहराई तक प्रभावित किया। यह और बात है कि यह प्रभाव सकारात्मक कम है। कुछ गिने–चुने चलचित्रों को छोड़ दें तो अधिकतर अपनी रचनात्मकता में पॉपुलर–संस्कृति के पौधे में लगे उन रंग–बिरंगे फूलों की तरह हैं, जिसमें न तो भारतीय परिवेश की खुशबू है और न ही अंतरंग जड़ों से सिंचित अर्स, फिर भी भारतीय दर्शक उनके सौन्दर्य–जाल से अभिभूत हैं।

इस दौर में भारतीय सामाज के सरोकारों से कोसों दूर कई फिल्में बनीं, वह भी सर्वाधिक चर्चित कलाकारों की छत्रछाया में। जब 'आपकी अदालत' नामक कार्यक्रम में आमिर खान से पूछा गया कि 'तारे जमीं पर' और 'रंग दे बसंती' जैसी सार्थक फिल्में बनाने वाले निर्देशक को 'डेल्ही बेली' जैसी फिल्म बनाने की क्या जरूरत पड़ गई तो उनका कहना था कि 'मैं इण्टरटेनर हूँ, मेरा काम जनता का मनोरंजन करना है और यह फिल्म नयी कॉन्सेप्ट पर थी, इसलिए मैंने इसका निर्माण किया।' यह एक बेहद विचारणीय तर्क है जो भारतीय सिनेमा के दायित्व पर एक संजीदे कलाकार के विचार को प्रकट करता है। यह उसी अभिनेता का बयान है, जिसने 'सत्यमेव जयते' जैसे टीवी कार्यक्रमों के माध्यम से भारतीय समाज के अमावस को प्रकाशमय करने का श्लाघणीय कार्य किया। सदी के नायक अमिताभ ने हाल में 'बागवान' जैसी नायाब फिल्म भारतीय समाज को अवश्य दी, लेकिन 'अक्स', राम गोपाल वर्मा की 'आग', 'दव', 'बूम' जैसी कई बेतुकी फिल्में भी उनके नाम रहीं। २५ जनवरी से २८ जनवरी २०१३ तक चलनेवाले जयपुर साहित्य उत्सव के 'बालीवुड एंड नेशनल नैरेटिव' सत्र में शामिल मौजूदा फिल्म लेखकों में सबसे अधिक सक्रिय रहने वाले जावेद अख्तर भी यह मानते हैं कि 'मुख्य

धारा के सिनेमा में बेशक गिरावट आई है, जिसके लिए निर्माता, संगीतकार, गीतकार के साथ–साथ लोग भी जिम्मेवार हैं। दरअसल सिनेमा और समाज एक दूसरे से जुड़े हैं। जैसा समाज होगा, वैसी ही फिल्में बनेंगी और उसी तरह के गाने बनेंगे। पहले फिल्मों में अपनी बात कहने के लिए तमीज होती थी। अब न तमीज है, न तहजीब और न ही भाषा वैसी रही। फिल्मों में समाज के प्रतिबिंबन और मार्गदर्शन का मामला इतना आसान नहीं है, क्योंकि सिनेमा के मूल स्वरूप में छेड़छाड़ किए बगैर समसामयिक चेतना को निरूपित कर देना एक बेहद जटिल कार्य है। ऐसे में पॉपुलर पश्चिमी फिल्मों की नकल मात्र से फिल्म निर्माण के फॉर्मुले को फिट और हिट घोषित किया जा रहा है। गुलजार और महेश भट्ट इसे अनुचित मानते हैं। वे भी जावेद अख्तर से सुर मिलाते हुए घोषित करते हैं कि 'सिनेमा का काम उपदेश या संदेश देना नहीं है। उसका काम अपने समय और समाज का चित्रण करना और उसे आईना दिखाना है।' लेकिन मौजूदा फिल्मों को देखकर क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारतीय समाज ऐसा ही है या ऐसा ही होना चाहिए। कई बार हम ये मान लेते हैं कि किसी कथानक का कथ्य समरेखीय प्रभाव उत्पन्न करता है और पूर्वनिर्धारित होता है, लेकिन क्या हम मौजूदा कई सिने प्रस्तुतियों के 'साइड इफेक्ट' और भाषाई अपसंस्करण से मुँह मोड़ सकते हैं? गाली–गलौज से लेकर विकृत अनुवाद तक कई ऐसे भाषाई प्रसंग हैं, जो हमारे बहुभाषिक समाज के स्वाभाविक जायके को खराब करते हैं और हमारी भाषाई समझ पर कालिख पोतते नजर आते हैं।

सिनेमा कविता की तरह निजी विधा नहीं है, बल्कि यह एक सार्वजनिक कला है, जिसकी पहुँच समाज के बड़े दायरे तक है। इस दायित्व से बेखबर कई फिल्मों में अश्लीलता, हिंसा और भड़कीले संगीत को मुख्य तत्व के रूप में परोसकर निर्माता और कलाकार वाहवाही लूट रहे हैं। यद्यपि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चुनौतियाँ सदैव ही रही हैं, लेकिन कलाक्षेत्र में इस तरह की विकृति और गिरावट कभी नहीं रही। भारतीय समाज का एक आम इंसान होने के कारण मुझे सिनेमा की रचना प्रक्रिया से अधिक लेना देना नहीं है, लेकिन उपभोक्ता–समाज के एक जिम्मेदार सदस्य के तौर एक उत्पाद के रूप में सिनेमा की गुणवत्ता और सामाजिक उपादेयता पर बात करने का पूरा हक है। हम सब इस बात से भलीभाँति परिचित हैं कि सिनेमा के मूल कथ्य के समानांतर सामान्य दर्शक अपना एक प्रतिसंसार अथवा स्वप्नलोक भी रचता है। सिनेमा का प्रभाव सभी दर्शकों पर एक सा नहीं होता। जहाँ सभ्य या चतुर दर्शक उसे माध्यम मात्र समझकर उसके वाह्य ढांचे या संरचनागत–चक्रव्यूह से बहुत जल्दी बाहर निकल जाता है, वहीं अनुभवहीन दर्शक मानसिक विकृति का शिकार हो जाता है। ऐसी कई घटनाएं, जो समाज में अप्रत्याशित रूप से बढ़ गयीं हैं, उनके पीछे अन्य सूचना माध्यमों के साथ सिनेमा का भी योगदान है। एक साथ गाँव–शहर सभी इनके चपेट में हैं। मेरी इन बातों से आप भले ना सहमत हों, किन्तु आपको यह मानना ही पड़ेगा कि 'जब सुदूर गांव के खलिहानों में धान के बोझों के पीछे चल रहे ग्रामीण नाट्यखेल में जब सात–आठ साल के दो भिन्न–लिंगी मजदूर बच्चे आलिंगनबद्ध होने का हूबहू फिल्मी तर्ज पर नाटक करते हैं और दिल्ली शहर के मात्र दूसरी कक्षा की छात्रा और मेरी बेटी बड़े प्रश्नाकुल दृष्टि से 'स्टुडेंट ऑफ द इयर' के चुंबन–दृश्यों को देखकर ऊटपटांग

सवाल करती है, तो मेरा मानसिक संतुलन बिगड़ने लगता है। यही नहीं 'दिल्ली के एक स्कूल में कुछ बच्चे असामान्य अवस्था में पाए गए और उनसे जब पूछा गया कि ये क्या हो रहा है तो उनका स्वाभविक और त्वरित जवाब था– 'हम रेप गेम खेल रहे हैं।' हमारे बच्चों ने यह सब कहाँ से सीखा? दरअसल शहरी जीवन की भावशून्यता के कारण स्वाभाविक सौन्दर्य से महरूम ये बच्चे भटक रहे हैं। पहले परिवार नामक संस्था अपनी जिम्मेवारी समझती थी, जिसमें लोगों के पास वक्त होता था। नैतिक दृष्टि से पूर्ण बहुप्रचलित किस्से–कहानियों से उनका तादात्म होता था और स्वाभाविक रूप से उनके अंदर विद्यमान शुभ और सुंदर को निखारा जाता था, उनकी कल्पनाओं को सिंचा जाता था। समय के साथ मूल्य अवश्य बदले, किन्तु बाल और किशोर मन में मूल्य–प्रत्यारोपण की पुरानी–पद्धति काफी पीछे छूट गई। जो नई पद्धतियाँ विकसित हुईं, वे बेहद यांत्रिक और नियंत्रण से बाहर हैं।

फिल्मों के पटकथा और गीत लेखक प्रसून जोशी कहते हैं कि 'आज के सिनेमा की बात करें तो इसके मायने बहुत बदल गए हैं। अब रेडियो, टीवी, इंटरनेट, शॉपिंग मॉल और न जाने कितने ही ऐसे साधन आ गए हैं जिनसे मनोरंजन के क्षेत्र में बहुत प्रतिस्पर्धा हो गई है। सिनेमा को अपने शुरुआती दौर में इन हालात का सामना नहीं करना पड़ा था। तब हर चीज स्वीकार्य होती थी, क्योंकि तब नॉवेल्टी फैक्टर काम करता था। आज के वक्त में फिल्मकारों के सामने दोहरी चुनौती है। एक तो वह दर्शकों को खींचकर सिनेमा हॉल तक लाए और दूसरा, उनसे अपनी बात कह सके। जो लोग सिनेमा को सिर्फ मनोरंजन कहते हैं उनके लिए मेरा तर्क यह है कि फिर जादूगर या सड़क पर मदारी के खेल और सिनेमा में फर्क ही क्या है? जो सिनेमा आप देखते हैं, वह आम आदमी की जिंदगी से जुड़ी बातें करता है। उनके परिवेश का चित्रण होता है, आपसी रिश्तों की बात होती है और उसके जीवन से जुड़ी समस्याओं का वर्णन होता है। सिनेमा बिजनेस है, मगर सिर्फ बिजनेस नहीं। सिनेमा एक कला है, इसमें गीत होते हैं, शब्द होते हैं, इसके जरिए कहानी कही जाती है। सिनेमा सिर्फ मनोरंजन नहीं, इससे जीवन का सत्य जुड़ा है। सार्थक सिनेमा के अध्येताओं की इस इच्छा का भला क्या होगा, जब सिनेमा की सफलता का आकलन मात्र फिल्मों के व्यवसाय से जोड़कर देखा जाने लगेगा।

जाहिर है ऐसी स्थिति में फिल्म प्रमोशन का हत्थकंडा ज्यादा जरूरी समझा जाने लगेगा। रिलीज से पहले ही फिल्मों को विवादित करने का प्रक्रम या किसी राज्य द्वारा प्रदर्शन पर रोक लगा देना ऐसा ही मामला है। अलबत्ता देश में फिल्मों से जुड़ा सेंसर बोर्ड पहले से ही मौजूद है। हाल ही में कमल हसन द्वारा निर्मित 'विश्वरूपम' को तमिलनाडु उच्च न्यायालय जांच–परख रहा है। कई बार ऐसी फिल्में किसी वर्ग विशेष की भावना को ठेस पहुंचाने के नाम पर प्रतिबंधित हो जाती है। फिर सवाल यह भी उठता है कि क्या संवाद और पटकथा लेखक या निर्देशक भारतीय समाज की वर्गीय संरचना को नहीं समझते या फिल्मों को चर्चा में लाने का यह एक विशेष तरीका है। हाल के वर्षों में ऐसी फिल्मों की संख्या काफी अधिक रही है। दर्शकों में आकर्षण पैदा करने के लिए आज निर्माता–निर्देशक किसी हद तक जाने के लिए तैयार हैं। उन्हें समाज या देशहित की चिन्ता शायद नहीं है। नये निर्माता–निर्देशको ने दर्शकों की इच्छा के

बहाने सिनेमा में मसाले के साथ तड़का लगाना शुरू किया। सामूहिक और उत्सवधर्मी नृत्य काफी पीछे छूटते गए और 'मुजरा', 'छमिया' या 'हेलेनीय' नृत्यों की पराकाष्ठा 'आइटम' गानों के रूप में होने लगी। कई अन्य अश्लील प्रस्तुतियों पर लोगों की भौंहे तनने लगी हैं। इंतेहा तो तब हो गई, जब नायक खलनायक का घालमेल किया जाने लगा। समाज में घृणित समझे जाने वाले चोर–उचक्कों के मानवीय पक्षों को संजीदगी से उभारकर उन्हें गरीबों के बीच फरिश्ता बनाने की युक्ति आज काफी पीछे रह गई। स्त्री–पुरूष, नायक–खलनायक सभी तरह के चरित्रों में क्रूरता और पाश्विक वृत्तियों का महज मात्रात्मक अंतर रह गया है और चतुराई, चालाकी, धूर्तता को 'स्मार्ट' और 'बिंदास' बताकर 'हीरो' में इंजेक्ट कर नया 'महानायक' तैयार किया जाने लगा है। सिनेमाई चरित्रांकन की इस पद्धति से भारतीय समाज का संतुलन बिगड़ गया है। समाज की वर्जनाओं को कला के साथ इस प्रकार संबद्ध करने की साजिश के विरुद्ध पैनी निगाह रखने वाले फिल्म समीक्षकों ने तीखी प्रतिक्रियाएं भी दी हैं। लेकिन भैंस के आगे बिन बजाने से भला क्या होने वाला है। कुछ स्त्री समीक्षक यह स्वीकार करती हैं कि आज की फिल्मों ने हमारी नयी पीढ़ी को जो खोखले किन्तु सबसे पसंदीदा आदर्श दिए हैं वे हैं 'सुंदर, अमीर और सेक्सी दिखना। एक सर्वेक्षण में कम उम्र की लड़कियों से पूछा गया कि वे क्या बनना चाहती है तो अधिकतर बच्चियों ने जवाब दिया– मल्लिका सेहरावत और राखी सावंत। दरअसल बच्चों के इस बचकानी तर्कों के दूरगामी परिणाम अभी समाज को भुगतना बाकी है।

सामाजिक विषयों के कई चिंतक–विश्लेषक इससे वास्ता नहीं रखते और वे सृजनशीलता में होश से अधिक जोश को महत्व देते हैं। वे यह कहते नहीं थकते कि 'इस दौर के सितारों को आप अभिमन्यु, घटोत्कच और बर्बरिक की तरह अनाड़ी भले कह दें लेकिन इनकी प्रतिभा, समर्पण, निर्दोष आत्मा और निर्भीक सृजनशीलता की तारीफ किए बिना नहीं रह सकते। इनकी दर्शन, इतिहास, साहित्य या मिथक की समझ में खोट निकाला जा सकता है लेकिन इन्हे कैमरे से खेलना आता है। इनको तकनीक का भय नहीं है। इनको मौलिकता की सनक नहीं है। इनको कृत्रिम विचारधारा की रूढ़ियों ने नहीं बांध रखा है। ये समकालीन महाभारत का युद्ध भले न जीत पायें, लेकिन समकालीन महारथियों का गर्व तोड़ने के लिए ये काफी हैं। इस पीढ़ी को अपने प्रत्यक्ष अनुभूति पर विश्वास हैं। यह भारतीय समाज एवं भारतीय सिनेमा के मठाधीशों और समीक्षकों को यदि पतनकारी नजर आता है तो मतलब साफ है ये लोग अपने समय और समाज से कटे हुए हैं। ये लोग भारत की लोकप्रिय फिल्में नहीं देखते। यदि पुरानी पीढ़ी के लोग इसमें अपनी भूमिका तलाशना चाहते हैं तो वाणप्रस्थ एवं संन्यास धर्म निभाये।' समाजशास्त्रीय अध्ययन का यह निष्कर्ष उन्हे दूर की कौड़ी भले लग रहा हो, किन्तु अश्वस्थामा के ब्रम्हास्त्र प्रक्षेपण से कम विनाशकारी नहीं है।

सिनेमाई सृजनशीलता में यद्यपि पटाक्षेप की स्थिति नहीं आई, लेकिन इस नयी पीढ़ी ने सृजन के नये प्रतिमानों के तहत विज्ञान के हाइब्रिड प्रणाली को सिनेमा में अपनाया, जिसमें चरित्र तो वहीं हैं, पर उनके हावभाव बदले–बदले से हैं। आवयविक नकल के बावजूद अपनी निष्पत्तियों में यह मौलिक से कम प्रभावोत्पादक नहीं है। हिन्दी सिनेमा में सबसे अधिक चर्चा आज

उसके भाषाई पहलू पर किया जाता है। मोटे तौर पर नयेपन की चाहत बुरी नहीं होती है, लेकिन जब यह नयापन कुछ सीमाओं को भी पार करने लगता है तो यह विकृत स्वरूप में हमारे सामने आ जाता है। एक समय में दादा कोंडके ने मराठी सिनेमा के जरिये द्विअर्थी संवादों से युक्त फिल्मों के निर्माण की शुरूआत की थी, जिन्हें हिन्दी समेत अनेक भाषाओं में डबिंग के साथ प्रदर्शित किया गया था। *अँधेरी रात में दिया तेरे हाथ में, खोल दे... जुबान* आदि इसी कोटि की फिल्में थीं, लेकिन वहाँ अतिक्रमण की भी एक सीमा मौजूद थी। इधर हिन्दी सिनेमा के नाम पर 'डेल्ही बेली', 'रागिनी एम.एम.एस.', 'बुड्ढा होगा तेरा बाप', 'इश्किया', 'इश्किया–२', 'द डर्टी पिक्चर' जैसी फिल्में भी बनीं, जिसमें अशालीन भाषा एवं भद्दी गालियों की भरमार है। दूसरी तरफ हिंग्रेजी का घटाटोप प्रयोग, इसे भाषाई विचलन कहें या मिचली कुछ भी सटीक नहीं बैठेगा। सिनेमा के दिग्गज इसे भाषा की स्वाभाविक परिणति मानते हैं, लेकिन इसे उनकी बाजार संगत नीयति कहना ज्यादा सार्थक होगा। बाजार विज्ञापनों को उत्पाद बेचने का मुख्य जरिया मानता है और आजकल अंग्रेजी मिश्रित शैली के विज्ञापन लोकप्रिय होते हुए दिखाई दे रहे हैं। इसका मूल कारण है बाजार के लिए निर्मित प्रयुक्तियाँ भाषा के मूल स्वरूप पर हावी हो रही हैं और अँग्रेजी मिश्रित भाषा प्रयोगों की लोकप्रियता बढ़ती जा रही है। 'जोर का झटका धीरे से लगा, ये दिल मांगे मोर, एक ब्रेक के बाद, आपूर्ति के बदले सप्लाई, आबंटन के बदले एलाटमेंट, वातानुकूलन के बदले एअरकन्डीशन, यात्रा के लिए जर्नी या ट्रेवेल, पर्यटन के लिए टूर आदि। हिन्दी सिनेमा विज्ञापन के इन भाषाई मुहावरे को धड़ल्ले से प्रयुक्त कर रही है और इसे आम जनता स्वीकार कर रही है। 'चूंकि माध्यमों का लक्ष्य ग्राहकों को अपनी और आकर्षित करना होता है, उनको किसी भी भाषा की संस्कृति अथवा भाषा के समाज एवं भाषाशास्त्र से कोई सरोकार नहीं रहता। इसलिए भाषा का जो भी रूप बिकाऊ होता है उसे वे दर्शकों, श्रोताओं और पाठकों को परोसते हैं।

कुछ अपवादों को छोड़कर पिछले दो दशकों में हिन्दी सिनेमा ने अपनी जातीय और लोक परंपरा को काफी हद तक भुला दिया है। पहले की तरह अब भारतीय फिल्मों का संबंध ग्रामीण यथार्थ से लगभग खत्म हो गया है। आजकल अधिकतर फिल्मों में उस मध्यवर्ग का जीवन चित्रित किया जाता है, जो भारतीय महानगरों या विदेशों में रहता है। इस तथाकथित सभ्य मध्यवर्ग का संबंध उस भारत से खत्म हो गया है, जो आज भी देश की कुल आबादी का ८०–८५ प्रतिशत है। इस मध्यवर्ग के लिए भारत की विभिन्न सांस्कृतिक परंपराओं और मूल्यों का महत्त्व उतना ही है, जितना कि फैशन की दुनिया में एथनिक पोशाकों का होता है। 'इस वर्ग के लिए न साझा सांस्कृतिक परंपरा की कोई प्रासंगिकता है, न हिंदुस्तानी जबान की और न ही लोक परंपराओं की। भूमंडलीकरण और आर्थिक उदारीकरण की जन विरोधी नीतियों के वर्चस्व और साझा संस्कृति और लोक परंपराओं के विरूद्ध सक्रिय ताकतों के दबाव ने भारतीय सिनेमा की बहुसांस्कृतिक और बहुजातीय परंपरा के सामने चुनौतियां खड़ी कर दी हैं। यद्यपि साहित्य और अन्य कला माध्यमों के सामने भी ये चुनौतियां मौजूद हैं, लेकिन उस चुनौती से संघर्ष का अदम्य साहस सिनेमाकर्मियों में दूर तक नहीं है, बल्कि धनकुबेरों के आगे घुटने टेकने

के अलावा उनके पास कोई चारा ही नहीं है। शायद उपादेयता के स्तर पर मनोरंजन मात्र के तर्कों और सरोकारों के विमर्श से बेखबर हिन्दी सिनेमा मदमस्त हस्तिचाल से अपने रास्ते पर अग्रसर है।

संदर्भ :

- आधुनिकता के जंगल– मधु कांकरिया, जनसत्ता २८ जनवरी २०१३
- आपकी अदालत में आमिर खान– इंडिया टीवी
- जयपुर साहित्य उत्सव का रिपोर्ट, जनसत्ता ब्यूरो, २८ जनवरी २०१३
- भारतीय सिनेमा का लोकशास्त्र – डाद्र अमित कुमार शर्मा
- सिनेमा की चुनौतियाँ –प्रसून जोशी
- लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ– जवरीमल्ल पारख
- महानतम कोई नहीं– कुलदीप कुमार, जनसत्ता, ४ नवम्बर २०१२
- हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र – जवरीमल्ल पारख
- सिनेमा, कल आज और कल– विनोद भारद्वाज
- हिन्दी फिल्में और हिन्दी भाषा– विजयमोहन सिंह
- भारतीय सिनेमारूएक अनंत यात्रा– प्रसून सिन्हा
- www.indiancinema.com
- www.wikipedia.org/wiki/bollywood
- www.hindivichar.com
- www.jagaranjunction.com
- www.khabar.ibn.com

•••

इस

बॉलीवुड गीत व गीतकार : तब और अब
(एक रपटीय सफ़रनामा)

मनोज कुमार पाठक

तकनीकी रूप से, इस सच्चाई को नकारा नहीं जा सकता है कि हिन्दी फिल्मों में पहली फिल्म 'आलम आरा' (१९३१) के प्रदर्शित होने से अब तक काफी तब्दीलियाँ आई हैं। अगर आज हम कोई ३० के दशक की फिल्म देखें तो यह जरूर महसूस करते हैं कि यह कोई प्राक्–ऐतिहासिक काल में निर्मित फिल्म हो। पर, विषय वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने पर यह स्पष्ट होता है कि निरंतरता को अगर कोई विधा अक्षुण्ण रख पाई हो तो वह गीत ही है। *आलम आरा* में भी गीत थे और सद्: प्रदर्शित फिल्मों में भी गीत हैं। हिन्दी फिल्मों में गीतों की अपनी एक जगह रही है। करीब अस्सी दशकों के फिल्मी इतिहास में, गीत–शून्य फिल्मों की संख्या दस भी नहीं है। सही मायने में कुछ ही ऐसे साहसिक और विरल सृजनात्मक गुणधारी फिल्मकार रहे जिन्होंने अपनी फिल्मों में कोई भी गीत नहीं रखा पर फिल्में चलीं और संवाद–संप्रेषण सह मनोरंजन की दृष्टिकोण से सफल हुई। अत:, गीत हिन्दी फिल्मों का एक अभिन्न अंग रहा है और नि:संदेह रहेगा।

निश्चित रूप से, गीतों में गुणात्मक परिवर्तन आए हैं। फिल्मों के शुरूआती–दौर में, फिल्मी गीत काफी हद तक साहित्यिक और अलंकारिक भाषा में लिखे जाते थे। फारसी स्रोत के उर्दू लफ़्ज जैसे – उल्फ़त, जुस्तजू, मुश्ताक, बेज़ार, खलिश, रूसवाई आदि उन्मुक्त होकर प्रयोग किये जाते थे। उस दौर के फिल्मी–गीतकार मुशायरों और कवि–सम्मेलनों के मशहूर कवि–शायर ही हुआ करते थे। पर ये कवि–शायर कविता–पाठ या पत्र–पत्रिकाओं से अपने सारी जरूरतों को पूरा नहीं कर पाते थे। यही कारण था कि ये कविगण फिल्मी दुनिया की तरफ आकर्षित हुए। फिल्मों में बेहतर आमदनी की आस में कवि–गीतकार कलकत्ता–बॉम्बे की ओर रुख करने लगे। १९३० से १९४० के बीच जो फिल्में बनीं, गीतों की रिकॉर्डिंग काफी मामूली तौर पर हुआ करती थी और डिस्कों पर गीतकारों का नाम नहीं लिखा जाता था। कहीं–कहीं तो

शोधार्थी, अन्ग्रेजी विभाग, कोल्हान वि.वि., झारखण्ड व सं. द चैलेंज, मो.०९९७३६८०१४६

गायकों का नाम भी नहीं। मिसाल के तौर पर ४० के दशक के एक मशहूर हास्य गीत, फिल्म 'एक थी लड़की' (१९४९) से था जिनके बोल ''लारा लप्पा लारा लप्पा लई रखदा, अड्डी टप्पा अड्डी टप्पा लई रखदा ...' थे। पर्दे पर अभिनेत्री मीना थीं और कई अन्य भी। गीत के स्वर थे लता मंगेशकर, जी.एम. दुर्रानी और साथ में कोरस। पर, आश्चर्य है, पुराने ग्रामोफोन रेकॉर्ड्स में न गीतकार अजीज़ कश्मीरी का नाम है और न ही गायक–गायिका दुर्रानी और लता मंगेशकर के नाम हैं। आश्चर्य और भी होता है जब गायिका का नाम मीना लिखा है। मीना असल में उस फिल्म की नायिका थीं, न कि गायिका।

स्वभावत:, उस दौर के गीतकार अपने नाम को लेकर बहुत संज़ीदा नहीं रहते थे। वे आजीविका के लिये लिखते थे, नाम के लिये नहीं। लेकिन, ये बात दीगर थी कि अपनी रचनाओं के साथ वे सदा ईमानदारी बरतते थे। भावना, भाषा, संप्रेषण–कला, काव्यात्मकता आदि सभी पहलुओं पर वे खासा जोर देते थे। उस दौर के कुछ मशहूर गीतकार रहे– कमाल अमरोही, केदार शर्मा, डॉ. सफदर ''आह'', ''आह'' सीतापुरी, पी.एल. संतोषी, डी.एन. मधोक, आरज़ू लख़नवी, पं. इन्द्र, पं० सुदर्षण, पं. भूषण, वली साहब, कवि प्रदीप, फैयाज़ हाशिमी, नरेन्द्र शर्मा, रमेश गुप्ता और अन्य कई। ये सभी काबिल शायर थे और इनके गीत जब सुमधुर संगीत से सज गये तो ये और भी मकबूल हो गये। इन गीतकारों में से कुछ ऐसे थे जिन्होंने काफी सहज–सरल भाषा का प्रयोग किया जो अल्प–शिक्षित लोग भी समझ सकते थे और गीत के साथ भावनात्मक–पटल पर तारतम्य स्थापित कर पाते थे। उदाहरणस्वरूप, गीतकार डी.एन. मधोक स्थानीय और बोल–चाल की भाषा प्रयोग करते थे। १९४४ में बनी फिल्म 'रत्तन' में उन्होंने ही गीत लिखे। सहज–सरल भाषा की बानगी के तौर पर ये गीत– ''*अँखियाँ मिला के, जिया भरमा के, चले नहीं जाना...*' और ''*सावन के बादलों उन्हें जा कहो ...*'। पर, उसी दौर के एक और फिल्म 'मेरी बहन'' (१९४४), जो **न्यू थियेटर, कलकत्ता** द्वारा बनाई गई थी, अपने बौद्धिक और साहित्यिक गीतों के लिये जानी जाती है। इस फिल्म के गीतकार पं. भूषण थे। गीत के बोल थे– '*ऐ, कातीब ए–तक़दीर मुझे इतना बता दे ...*' और ''*है किस बुत की मोहब्बत में गिरफ्तार हुए, जिन्दगी तलख़ हुई जीने से बेजार हुए...*/' उर्दू शायर आरजू लखनवी, जो न्यू थियेटर से जुड़े थे, ने अपने गीतों में लोक–भाषा का ही प्रयोग किया। उन्होंने अपनी भावनाओं को प्रकाशित करने के लिये लोकोक्तियाँ और दैनन्दिन बोलियों को भी गीतों में पिरोया। उनके कुछ गीत हैं–

- ''*करूँ क्या आस निराश भई ...*'
- ''*गोरे–गोरे चाँद के मुख पर काली काली आँखें हैं ...*'
- ''*चलें पवन की चाल जग में चले ...*'
- ''*गुजर गया वो ज़माना कैसा ...*'
- ''*इक बंगला बने न्यारा...*'

बीतें दिनों के गीतकारों में एक और बात ख़ास थी और वो है उनका हिन्दी–उर्दू दोनों भाषाओं में दख़ल। शकील बदायूँनी, मज़रूह सुल्तानपुरी, राजेन्द्र कृष्ण, कैफ़ी आजमी, राजा मेहंदी अली खान, क़मर जलालाबादी, प्रेम धवन, भरत व्यास, साहिर लुधियानवी, शैलेन्द्र, हसरत

जयपुरी, इन्दीवर, अनजान आदि गीतकारों ने हिन्दी फिल्मी–गीत लिखने में मानक गढ़े और उर्दू–हिन्दी दोनों ही जुबान को गीतों की शक्ल अता करने में कामयाब हुए हैं। शक़ील बदायूँनी तो अक्सर संगीतकारों के साथ बैठकर अपने गीतों को अन्तिम रूप देते थे। उर्दू गज़ल की दुनिया में वे एक सितारे थे। वे अपने गृह–राज्य उत्तर प्रदेश की स्थानीय भाषा का भी प्रयोग गीतों में करने से नहीं चूके। दिलीप कुमार की फिल्म 'गंगा जमुना' का हर गीत शकील बदायूँनी ने ही उत्तर प्रदेश की ग्रामीण भाषा में लिखा। मज़रूह सुल्तानपुरी तो फिल्मी–गीत की दुनिया में अपने बुढ़ापे तक सक्रिय रहे। हिन्दी फिल्मों के लिये उन्होंने कई यादगार और बेहतरीन गीत लिखे। वे एक स्थापित कवि थे और फिल्म–निर्माता ए.आर. कारदार ने उन्हें अपनी फिल्म 'शाहजहाँ (१९४६) के लिए पहली बार फिल्मों में गीत लिखने के लिए निमंत्रित किया। इस फिल्म का हर गीत मशहूर हुआ। विशेषत: के.एल. सहगल द्वारा गायी गई ग़ज़लें– ''*ग़म दिये मुस्तकिल ...*'' और ''*जब दिल ही टूट गया ...*' मज़रूह को सभी फिल्मकारों का प्रिय बना दिया। फिल्म 'शाहजहाँ' के बाद उन्होंने पीछे मुड़कर नहीं देखा। वे हिन्दी फिल्म–गीतकारों में से एक जनप्रिय गीतकार थे।

राजेन्द्र कृष्ण भी उम्दा गीतकार थे। फिल्म 'अनार कली' (१९५३) से वे पहचाने जाने लगे। काफी सुन्दर शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपने गीतों में किया। हर गीत मकबूल हुआ। वे उर्दू के अच्छे जानकार थे। उनकी गज़लें काफी अच्छी थीं। जैसे–

- *''ये हवा ये रात ये चाँदनी,*
- *'तेरी इक निगाह पे निसार है ....' (संगदिल, १९५२)*
- *''जाग दर्दे–इश्क जाग ....'' (अनारकली, १९५३)*
- *''हम प्यार में जलने वालों को चैन कहाँ ....(जेलर, १९५५)*
- *''यूँ हसरतों के दाग .... (अदालत, १९५८)*

कवि प्रदीप भी एक स्थापित हिन्दी कवि थे। ***बॉम्बे टॉकीज फिल्मस्*** के लिये उन्होंने गीत लिखना शुरू किया। उनकी विधा थी राष्ट्रभक्ति गीत और चरित्र–निर्माण, जीवन व मानवीय मूल्यों पर आधारित गीत। 'किस्मत' (१९४३) फिल्म के इस गीत '*दूर हटो दूर हटो ऐ दुनियावालों हिन्दुस्तान हमारा है ...*'' ने पूरे देश में स्वतंत्रता संग्राम को गति प्रदान की थी। दंगा–फसाद या सांप्रदायिक हमले कैसे देश को बाँट सकते हैं, ये बात उन्होंने 'नास्तिक' (१९५४) फिल्म में कही। गीत के बोल थे–''*देख तेरे संसार की हालत क्या हो गई भगवान, कितना बदल गया इंसान ...*'।

हसरत जयपुरी और शैलेन्द्र राज कपूर की खोज थे। शंकर–जयकिशन के साथ संगीतमय सफर में इन दोनों ने कई यादगार गीत लिखे। कैफ़ी आज़मी भी एक जाने–माने उर्दू शायर थे। उन्होंने १९५१ में फिल्म 'बुजदिल' से फिल्मी गीत लिखना शुरू किया। उर्दू लेखक इस्मत चुगताई ने इसकी कहानी लिखी थी। कुछ फिल्में जिनके लिये उन्होंने गीत लिखा– सोने की चिड़िया, कागज़ के फूल, हकीकत, अनुपमा, पाकीज़ा, हंसते ज़ख्म, अर्थ, रज़िया सुल्तान, नसीम।

७०–८० के दशक में फिल्मी गीतों की दुनिया में जिन्होंने एक पहचान बनाई, वे थे– आनन्द बख़्शी, समीर अनजान, देव कोहली, जावेद अख़्तर, गुलजार व अन्य। इन सबमें आनन्द बख़्शी सबसे लोकप्रिय हुये। ८०–९० के दशक में समीर काफी व्यस्त गीतकार हुआ करते थे जो आज भी गीत लिख रहे हैं। इस दौर के गीतों में प्रेम–प्रसंग ज्यादा छाये रहे। वर्तमान गीतकारों में दो काफी नामचीन हैं– गुलजार, जावेद अख़्तर। दोनों ही सधे हुये गीतकार व पटकथाकार हैं। गुलज़ार एक सफल निर्देशक भी हैं। प्रसून जोशी ने भी कई अच्छे गीत लिखे हैं। नए गीतकार भी आज फिल्मों में जगह बना लेने में कामयाब हो रहे हैं। इनमें से कुछ हैं– अमिताभ भट्टाचार्या, फैज़ अनवर, अंशुमान खुराना, निलेश मिश्रा, स्वानन्द किरकरे और इरशाद क़ामिल।

पहले से आज ज़्यादा फिल्में बन रही हैं, ख़र्च में भी वृद्धि हुई है, तकनीक ईजाद हुई है, विषय–विस्तार हुआ है पर गीतों के मामले में संकुचन है। आज के गीत कर्ण–प्रिय नहीं हैं, गीतों में भावना पक्ष गौण है, बहुभाषीय मिश्रण देखे जा सकते हैं और मूल्यों पर तो कोई बात ही नहीं है। आज के गीत बरसाती बादल है, दूसरे शुक्रवार तक भी टिक नहीं पाते। जीवन के विविध पहलुओं को समेटने में नाकाम साबित हो रहा है आज का गीत। शब्दों पर वाद्य–झंकार और अनर्गल स्वर–चाप हावी है जिससे श्रोता रक्त–चाप के शिकार हो रहे हैं। अगर आंचलिक भाषा–प्रयोग की बात है तो पहले उस प्रयोग से किसी अंचल की ख़ासियत का पता चलता था जैसे गीतों के माध्यम से ही कई लोग ये जान पाए कि बरेली में झुमका प्रसिद्ध है, या पान बनारस का। आज उसी भाषा में ज़िगर की आग से बीड़ी जलाने की बात होती है या प्रियतमा के द्वारा प्यार की पुंगी बजाने की बात। फिल्मी–गीतों से सामाजिक सरोकार और व्यवस्था की बातें उजागर होती थीं जो आज सिर्फ हुस्न–बयानी तक सीमित है। यही कारण है कि लोग पुराने गीतों मे ही सुकूँ महसूस करते हैं और आज के अधिकतर गीतों को समझ ही नहीं पाते। भाषाई मिश्रण, अपरिपक्व काव्यात्मकता और सस्ती लोक प्रियता की जुगत में वर्तमान फिल्मी–गीत फूहड़पन का माध्यम बनकर रह गया है और हम बर्बस आज से चालीस साल पहले तक के गीतों को सुनने की इच्छा रखते हैं। पहले गीतों को फिल्मों में पिरोया जाता था पर अब तो ठूँसा जाता है। हाँ, एक महीन धारा सूफीयाना संगीत की है, जिसे पॉप कल्चर से बचाये रखने कई लिहाज से जरूरी है।

...

जनमाध्यमों की महत्ता उनके द्वारा संप्रेषित विषयवस्तु पर निर्भर करती है...

फिल्मकार, लेखक, निर्माता—निर्देशक वेद राही* से जनार्दन दास** की बातचीत

ज.— *सर! राही शब्द आपके एवं कश्मीरी लेखक रहमान राही से जुड़ा हुआ है, क्या यह महज़ संयोग है?*

वेद.— कश्मीरी मैं भी हूँ। वे कश्मीरी में लिखते हैं, मैं डोंगरी में लिखता हूँ। राही मूलतः फारसी का शब्द है। चूंकि आप हिन्दी एवं भोजपुरी से आते हैं, तो आपको पता होगा कि यह हिन्दी में भी प्रचलित शब्द है।

ज.— *आपकी साहित्यिक और सिनेमाई यात्रा कैसे प्रारंभ हुई?*

वेद— मेरी साहित्यिक यात्रा मेरे घर के साहित्यिक माहौल के कारण प्रारंभ हुई। मेरे पिता जम्मू—कश्मीर में प्रथम समाचार—पत्र निकाले थे (१९२९ ई. में)। वे पत्रकार थे। साहित्य के प्रति विशेष अनुराग रखते थे। घर में साहित्यकारों एवं पुस्तकों का आना—जाना लगा रहता था। इसलिए बचपन में ही सोच लिया था कि लेखक ही बनना है। बड़े होकर लेखन की शुरुआत उर्दू से हुई, फिर डोंगरी में लिखने लगा। बाद में हिन्दी में भी लिखने लगा। जीवन के क्रम में रेडियो से जुड़ना हुआ। सरकारी पत्रिका 'योजना' से जुड़ा ताकि साहित्यकर्म चलता रहे। रामानंद सागर के साथ जुड़ गया। वे लेखक, निर्देशक एवं निर्माता भी थे। उनके साथ मैंने कई फ़िल्में की।

ज.— *एक लेखक को पेशेवर सिनेमाकार के बरक्स सिने जगत में किस तरह की अतिरिक्त मुश्किलात का सामना करना पड़ता है?*

वेद.— लेखक शब्दों के माध्यम से अपनी बात कहता है; सिनेमा दृश्यों में लिखी जाती है, जिसे निर्देशक कैमरा, ध्वनि एवं कथानक के माध्यम से जोड़ता है। अक्सर लोग समझते हैं कि अच्छी कहानी, अच्छी पटकथा एवं संवाद, अच्छी फिल्म बनाने के लिए पर्याप्त हैं। किन्तु यह पूरा सच नहीं है। इनके अतिरिक्त कुछ और है, जो बेहतरीन फिल्म निर्माण के लिए जरूरी है; वह है—

***बी— ३०३, जैस्मीन, सुदर्शन स्काई गार्डन, घोड़बन्दर रोड, हायपर सिटी, थाने (वेस्ट), मुंबई, महाराष्ट्र**

दृश्य बंधों का ज्ञान, पात्र की मनोभूमि एवं पृष्ठभूमि से साहचर्य स्थापित करता अभिनय, साज–सज्जा एवं ध्वनि–विधान। यदि एक लेखक को यह सब नहीं पता है तो उसे सिनेमा निर्माण में सफलता नहीं मिलेगी। मैंने फिल्मों में प्रवेश अपनी बेहतरीन कहानी 'दरार' पर उसी नाम की फिल्म बनाकर किया, किन्तु सिने माध्यम की जानकारी न होने के कारण असफलता हाँथ लगी। 'प्रेम पर्वत' जैसी बेहतरीन कहानी वाली फिल्म भी असफल रही। प्रारंभिक असफलता के बाद पाश्चात्य साहित्यकारों एवं फिल्मकारों के आलेखों का अध्ययन किया, सिनेमा के सेमिनारों में भाग लिया। धीरे–धीरे सिनेमा की समझ बनती गई। आप इन मुद्दों पर अलग से चर्चा करो, बहुत आवश्यक है इन्हें जानना। मेरी ये समस्त परेशानियां बतौर लेखक सिने समझ के अभाव में सामने आई, जिनसे दूसरे लेखकों को भी दो–चार होना पड़ता है। शब्द में कहे गए को दृश्यों में दिखाने की कला तो आनी ही चाहिए। मान लो लेखक ने कहा या लिखा कि 'उसका दिल डूब रहा है'; अब इस दिल डूबने को दिखाने की चुनौती सिनेमाकार के सामने है। उसे इस 'दिल डूबने' को दिखाने के लिए सर्जनात्मक, गत्यात्मक एवं मनोवैज्ञानिक दृश्य को कल्पित करना होगा– He should imagine creative, dynamic and vibrant vissuals for that.–

इन कलाओं का आना अतिरिक्त लाभ देता है और इनका न आना अतिरिक्त मुश्किलें बढ़ा देता है।

ज.– *साहित्य अकादमी द्वारा सम्मानित आपकी रचना **आले** का हिन्दी में क्या अर्थ है?*

वेद– *आले* का हिन्दी में मतलब 'किसी का आवाज देना' है। मैंने इस कहानी को डोंगरी में लिखा था। यह युद्ध की विभीषिका की कहानी है। यह कहानी उत्पल दत्त को बहुत पसंद थी। उन्होंने कहा था, "Rahi I never listened such a great story." बाद में इस कहानी का नाट्यांतरण भी कई भाषाओं में हुआ। यह बार्डर के पास के ऐसे गांव की कहानी है, जिसके सभी गांववासी युद्ध के डर से भाग गए हैं। वहाँ सिर्फ एक अंधी बुढ़िया है, जो प्रतिदिन लोगों के दरवाजे खटखटाती है और सोचती है कि लोग आ गए हैं। किंतु बाद में मैंने दिखाया है कि वह जानती है कि गांव में कोई नहीं है। वह सिर्फ अपना दिल बहलाने के लिए ऐसा करती है।

ज.– *सूफी सन्त लल्द्द पर आपको डोंगरी में उपन्यास लेखन के लिए जम्मू–कश्मीर सरकार द्वारा सम्मानित किया गया। हाल–फिलहाल की जो स्थिति जम्मू–कश्मीर में है, उसका वहाँ के साहित्यिक परिवेश पर क्या अथवा कैसा असर पड़ा है? साहित्य को प्रोत्साहित करने में कश्मीरी सरकार का कैसा रूख है?*

वेद– (हँसते हुए) इससे आपको क्या लेना कि जम्मू–कश्मीर सरकार क्या कर रही है! देश में साहित्य और भाषा के प्रोत्साहन के लिए संस्थाएं जैसे काम करती हैं, वैसे ही कश्मीर में कश्मीरी अकादमी एवं डोंगरी अकादमी करती हैं। पूरे देश में साहित्य एवं कला के लिए बहुत आकर्षक एवं उत्साहवर्धक माहौल नहीं है, फिर भी हम हैं कि लिखे जा रहे हैं; जबकि लेखन से लेकर प्रकाशन तक खुद करना पड़ता है। क्षेत्रीय भाषाओं का यह आम दर्द है, जो अंग्रेजी लेखन में नहीं है।

लल्द्द पर मुझे कश्मीर सरकार द्वारा 'लाइफ टाईम अचीवमेंट' पुरस्कार प्राप्त हुआ

क्योंकि लल्दद वहाँ के घर–घर में जानी जाती हैं। इसलिए उस पर लेखन का सम्मान तो होना ही था। पर क्षेत्रीय भाषाओं में लिखना बड़ा मुश्किल होता जा रहा है। लिखें भी तो पढ़े कौन? पाठक तक पुस्तकें पहुँचे कैसे? पेचीदा मसला है। भारतीय भाषाओं का लेखक अपने दम पर लिख रहा है, क्योंकि बिना लिखे वह रह नहीं सकता। इसीलिए बड़ा जेनुइन लेखन होता है। जिसकी बेकद्री से प्रादेशिक ज्ञान की परंपरा खंडित होती जा रही है।

ज.– *आपके उपन्यास अन्धी सुरंग की पृष्ठभूमि में जम्मू–कश्मीर के हालात से उपजी तल्खियों का जिक्र है। प्रभुसत्ता द्वारा चरण एवं रानी के लिए किस तरह के विकल्प छोड़े जा रहे हैं? कहीं विकल्पहीनता की स्थिति तो नहीं पनप रही है?*

वेद– भाई मेरे! किताब लिखने से ऐसी स्थितियां/परिस्थितियां नहीं खड़ी हुई हैं। मैंने इस उपन्यास का लेखन डोंगरी में १९९२ में किया और जम्मू–कश्मीर में इस तरह की समस्याएं १९६० से ही क्रुरू हो गई थीं। मैंने जो जैसा है, बस वैसा लिखा भर है। बेरोजगारी, बेदखली एवं वेश्यावृत्ति वहाँ पहले से ही शुरू थे। सच में अवाम के सामने ये विकल्प नहीं हैं। क्यों नहीं हैं, इसे आप भी जानते हैं।

ज.– *इसी उपन्यास का एक पात्र प्रो. गोपाल कहता है कि "नाटक मैंने इसलिए नहीं लिखा कि लोग शराब पीना छोड़ दें। मेरा मतलब तो यह था कि मैं कुछ बड़ों के नजर में आ जाऊँ और साल में डबल इंक्रीमेंट ले पाऊँ।" आजकल फिल्मों में भी कुछ विशेष कहने या दिखाने के पीछे कहीं न कहीं वही मनोवृत्ति तो काम नहीं कर रही है?*

वेद– यह पात्र पाकिस्तान से बर्बाद होकर आया था। सबकुछ हार कर आया पात्र है, धीरे–धीरे वह सफलता प्राप्त करने के लिए तमाम हथकण्डे अपनाना शुरू कर देता है। वैसे यह उपन्यास आपको कैसे मिला?

ज.– *सब बाजार की लीला है सर! बड़ा लेखक जो भी लिखता है, जिस भाषा में लिखता है वह पाठक तक पहुँच जाता है। आपका अधिकांश साहित्य हिंदी सहित तमाम भाषाओं में अनुदित हो चुका है। मैंने इसे हिंदी में पढ़ा है। ...आपने इसका नाम 'अन्धी सुरंग' क्यों रखा?*

वेद– जिसे तुम विकल्पहीनता की स्थिति कहते हो उसे मैंने अन्धी सुरंग कह दिया है।

ज.– *इसी उपन्यास में एक जगह रेड लाइट गली में लिखते हैं, 'पूरी गली में अंधेरा पसरा था।' रेड लाइट एरिया का जब भी उल्लेख आया है आपने हमेशा ऐसा ही लिखा है, यह यूँ ही है, या इसका कोई प्रतीकात्मक ध्येय भी है?*

वेद– देखो मुझे पूरा याद नहीं है। फिर भी इतना तो कह ही सकता हूँ कि जब कोई पात्र चाहे वह साहित्य का हो या सिनेमा का, किसी सैड सिचुऐशन या पतन की ओर जाता है तो, उसे व्यक्त करने के लिए इस तरह के प्रतीकों को लाना पड़ता है। सिनेमा में यह कैमरा करता है और साहित्य में कलम।

ज.– *विभाजन पर कई रचनाकारों जैसे यशपाल, अमृता प्रीतम, भीष्म साहनी, असगर वज़ाहत एवं गुलज़ार साहब ने लिखा है। इनकी रचनाओं में विभाजन का दंश समाज–केन्द्रित या समुदाय–केन्द्रित है। आपकी कहानी 'दरार' में यह और पैना और गहरा है। उसकी चपेट में*

व्यक्तिगत जीवन, दाम्पत्य जीवन तक आ चुका है। बिल्कुल अलग प्लॉट का चुनाव किन कारणों से संभव हुआ?

वेद– 'दरार' प्रत्यक्ष विभाजन की कहानी है। परोक्षत: उसका प्रभाव मान सकते हैं। विभाजन के समय मेरी उम्र १२ वर्ष के आस–पास थी। वैसे यही वह कहानी है, जिस पर मैंने इसी नाम से फिल्म बनाई, जो मेरी पहली फिल्म थी। इसे आप १९७१ की कहानी कह सकते हैं। हाँ, यह विभाजन के भय वाली कहानी जरूर है। और जब युद्ध होते हैं तो उसके ख़ौफ से बहुत से रिश्ते दरक जाते हैं। मेरा जहाँ घर था, वहाँ से बार्डर ५–७ कि.मी. की दूरी पर था। गोले–बारूद की आवाज हमारे लिए सामान्य बात थी। युद्ध के भय से विलगित रिश्तों की प्लॉट इसी परिवेश की देन है, जिसमें थोड़ी कल्पना भी है। वैसे भी युद्ध से वृद्ध, बच्चे एवं स्त्रियां ज्यादा प्रभावित होती हैं। 'दरार' में प्रसूता स्त्री युद्ध के भय से आतंकित बताई गई है।

ज.– *क्या आप किसी ऐसी फिल्म का निर्माण करना चाहेंगे, जिसमें विभाजन की ट्रेजडी अधिक संवेदनात्मक ढंग से प्रस्तुत हो? या कुछ ऐसा जो अभी कहा न जा सका हो?*

वेद– एम.एस. सत्थु की 'गर्म हवा' विभाजन की पीड़ा को बहुत ही संवेदनशील ढंग से प्रस्तुत करने वाली फिल्म है। मेरी फिल्म 'दरार' को सत्थु ने 'टाइम्स ऑफ इंडिया' की एक भेंटवार्ता में भारत एवं पाकिस्तान के रिश्तों पर बात करने वाली एक बेहतरीन फिल्म कहा था। आप जिस संवेदना की बात कर रहे हैं, उसे तो मैंने अपनी पहली ही फिल्म में कहा है। बाद की कुछ फिल्मों में भी कहा है। अब कोई विशेष इच्छा नहीं है। हाँ, लेखन में निरंतर लिख रहा हूँ। कुछ बातें लेखन में आ सकती हैं।

ज.– *रेहाना सुल्तान जैसी कुछ काबिल एवं प्रशिक्षित व बोल्ड अभिनेत्री को प्रारंभिक सफलता के बाद भी, वे अधिक फिल्मों में नहीं दिखाई दीं। बतौर कलाकार आप उनके विषय में क्या कहना चाहते हैं?*

वेद– रेहाना सुल्तान एक बेहतरीन अभिनेत्री हैं। नेशनल अवार्ड प्राप्त कर चुकी हैं। चेतना के विषय में जानते ही हो। अब बाद में नहीं चली तो उसके बहुत से कारण होंगे। मेरी फिल्मों में उसने बेतरीन काम किया है।

ज.– *पवित्र पापी में बलराज साहनी थे। आप इस फिल्म से जुड़े थे। उनके साथ बिताए गए पल पर चर्चा करें।*

वेद– मैं उक्त फिल्म का लेखक था। बलराज साहनी पंजाबी एवं हिंदी के लेखक भी थे। वे नाटक यानी थियेटर भी करते थे। मैं उनके घर पर ही कभी–कभी किसी कहानी पर चर्चा करता था। मुझे एक वाकया याद है, जब रामानंद सागर की शुरूआती दौर की फिल्म जिसका मैं लेखक था, जिसमें बलराज साहनी अभिनेता थे। हाँ, फिल्म का नाम बाजुबन्द था। बलराज को इस फिल्म में शराबी का रोल प्ले करना था, जिसकी तैयारी के लिए न केवल वे शराब पिए बल्कि शराबियों के हाव–भाव भी सीखे। मैंने उनसे पूछा भी कि आपने शराब पी रखी है? वो बोले, हाँ पी है। अब क्या–क्याा याद करें। उनकी अनेक स्मृतियां हैं।

ज.– *आपकी फिल्म 'प्रेम पर्वत' की गीत 'ये दिल और उनकी निगाहों के साये' में मल्टिपल*

इस गीत के फिल्मांकन के विशेष पल या वाकये को साझा करना चाहेंगे!

वेद– आप मेरी असफल फिल्म की चर्चा कर रहे हैं। वैसे इस गीत की फोटोग्राफी मैंने ही की है। अब वह स्मृति का हिस्सा भर है। मेरी अच्छी फिल्म 'वीर सावरकर' थी जिसकी प्रशंसा ऋषिकेश मुखर्जी ने की। कुछ लोग बाद में मैंने टी.वी. पर दूरदर्शन के लिए जो कार्य किया, उनसे मैं संतुष्ट हूँ। 'कथा सागर', 'जिंदगी' और 'गुल–गुलशन–गुलफाम' जैसे धारावाहिक से मुझे आत्मसंतुष्टि मिली। घर–घर तक लोग मुझे इन्हीं कार्यों से जानने लगे। 'कथा सागर' में कार्य करते हुए श्याम बेनेगल के अलावा मैं भी निर्देशक था। विश्व साहित्य एवं भारतीय साहित्य के अद्‌भुत संयोजन से बनाया गया धारावाहिक 'कथा सागर' स्वयं में आश्वस्तिदायक अनुभव था।

ज.– *संप्रेषण एवं प्रतिबद्ध जनमाध्यम के रूप में साहित्य एवं सिनेमा में किसे सशक्त पाते हैं?*

वेद– प्रेमचंद, तॉलस्तॉय, चेखब एवं मंटो द्वारा लिखित साहित्य को मैं सशक्त जनमाध्यम मानता हूँ। कासाब्लांका, बायस्कल, थीव्स एवं पाथेर पांचाली को भी मैं सशक्त जनमाध्यम मानता हूँ। अच्छी किताबें और अच्छी फिल्में जिनसे पाठक एवं दर्शक का उन्नयन होता है, वे स्वयं में सशक्त जनसंप्रेषण माध्यम हैं। अर्थात जनमाध्यमों की महत्ता उनके द्वारा संप्रेषित विषयवस्तु पर निर्भर करती है।

****कनिष्ठ तकनीकि अधीक्षक (हिन्दी कक्ष), आई.आई.टी., मुबई, मो. ०८२८६३३३४०४**

...

१. आलम आरा फिल्म का विज्ञापन पत्रक

२. आलम आरा फिल्म का एक दृश्य

आज की फिल्में संवेदनाओं को सर्वजन सुलभ बना रही हैं

(आलोचक, चिंतक, कवि, रंगस्रष्टा प्रयाग शुक्ल से दुर्योधन सिंह की बातचीत)

प्रयाग जी से इस बातचीत की शुरूआत कलारूपों की वर्तमान चुनौतियों से होती है, जो एक व्यापक कलारूप सिनेमा पर गंभीर चर्चा की तरफ अग्रसर होती जाती है। यहाँ बातचीत का अंशतः संपादित रूप दिया जा रहा है...

दुर्योधन— *कला और कलाकृतियां आम लोगों तक नहीं पहुँच पा रही हैं, उन्हें प्रभावित नहीं कर पा रहीं, क्यों?*

प्रयाग शुक्ल— मैं ऐसा नहीं मानता। कला (चाहे वह कोई भी कला क्यों न हो) मनुष्य द्वारा रची जाकर मनुष्य को ही संबोधित होती है। मनुष्य से निरपेक्ष कला हो ही नहीं सकती। हाँ, यह अवश्य कह सकते हैं कि कलाकृतियाँ आम आदमी के दिलों को नहीं छू पा रहीं। उस पर वह वांछित प्रभाव नहीं डाल पाती; किन्तु हर काल में ऐसा ही होता रहा है, किसी भी कालखंड में कलाएं आम आदमी के मनोरंजन के केन्द्र में नहीं रहीं। किसी कलाकृति के संप्रेष्य भाव एवं उसकी कलात्मकता की समझ भी दर्शक—पाठक में होनी चाहिए, जो कला—संस्कार से ही आ सकती है। यह हर व्यक्ति के लिए आसान नहीं। इसलिए कला की समझ भी सबमें नहीं हो सकती। लेकिन इसके लिए कला को नहीं समझ पाने वाले ही जिम्मेवार नहीं, उन्हें इसके लिए संस्कृत होने का वातावरण नहीं दे पा रहा समाज भी इसके लिए जिम्मेवार है।

दुर्योधन—*वह कैसे?*

प्रयाग शुक्ल— अब चित्रकला को ही लीजिए, चित्रों के लिए कितने संग्रहालय हैं देश में? कितनी गैलरियां हैं जहाँ चित्रकृतियों को प्रदर्शित किया जा सके, लोग बैठकर उनकी बारीकियों पर संवाद कर सकें? अब देखिए, कला—संवाद के कई चरण होते हैं कलाकृति और दर्शक (पाठक) के बीच। किसी ने कलाकृति देखी, फिर वह अच्छी लगी या अच्छी नहीं लगी, यह विमर्श पहले उसके अंदर चलता है, फिर वह अन्य लोगों से उसकी चर्चा करता है, जिससे कला की समझ का विस्तार होता है। पर आज स्थिति क्या है? हम हर चीज पर चर्चा करते हैं; लेकिन कलाओं,

संगीत नाटक अकादमी, रवीन्द्र भवन, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली, मो. ०९८१०९७३५९०

कलाकृतियों को लेकर ऐसी चर्चाएं प्राय: नहीं होतीं। पहले ऐसी चीजों पर और ऐसा विमर्श थोड़ा ही सही, पर होता अवश्य था।

दुर्योधन– *क्यों उत्पन्न हुई ऐसी स्थिति?*

प्रयाग शुक्ल– इसके कारणों की चर्चा से पूर्व यह स्पष्ट कर दें कि यहीं से इसकी पहल हो सकती है। इस विमर्श के लिए बड़ी आनुष्ठानिक शुरुआत ही आवश्यक नहीं। छोटे–छोटे दलों, मित्रों के बीच ही इन विषयों पर चर्चाएं शुरू की जा सकती हैं, एक संवाद खड़ा किया जा सकता है। जिससे कलाओं का भी सम्यक विकास होगा और उनके प्रति लोगों की समझ भी मंझती जायेगी। साथ ही, संवाद से टूटे सूत्र भी फिर से जुड़ने लगेंगे।

अब आयें संवाद भंग होने के कारणों पर। हम भारतीय चीजों को नये संदर्भों में रखकर समझने में पीछे रहे हैं। हमारी परंपराप्रियता बल्कि कहें रूढ़िवादिता इसमें बाधक रही है। पश्चिम ने अपनी हर चीज को नये संदर्भों में रखकर देखना आरंभ किया, जिससे पुरानी चीजों के (कला के भी) नये आयाम खुलते चले गये। दर्शक एक ही कलाकृति को देखता–समझता नहीं रह सकता, चाहे पूरब हो या पश्चिम। हम चीजों को नये आयाम ढूँढ़ने में पीछे रह गये, इसीलिए हमारे कला दर्शक पश्चिम की ओर आकृष्ट होने लगे हैं।

दुर्योधन– *रंगमंच सूने होते जा रहे हैं...?*

प्रयाग शुक्ल– नाटकों के संदर्भ में आपकी यह चिंता कुछ तक सही हो सकती है, विशेष रूप से ग्रामीण एवं छोटे शहरों के संदर्भ में। किंतु बड़े शहरों में स्थिति ऐसी नहीं हैं। स्थान विशेष के कला–संस्कार इसमें अहम भूमिका निभाते हैं। दिल्ली, मुबई, भोपाल जैसे बड़े शहरों आप चाहे जितनी की टिकटें लगा दें, नाटक देखनेवाले जुटेंगे ही। बावजूद इसके रंग सक्रियता घटी है, इसमें संदेह नहीं। जीवन की बुनियादी जरूरतों की जद्दोजहद बढ़ने से लोगों के लिए कलामात्र के लिए समय निकालना मुश्किल हो रहा है। इसके साथ ही, चर्चाओं के अभाव या संवाद भंग होने की स्थिति के कारण ही इस क्षेत्र में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई है। सबसे बड़ी बात यह कि पुराने दिनों जैसे अड्डे अब नहीं रहे। उन अड्डों पर अन्य बातों के अतिरिक्त कला–कलाकारों–कलाकृतियों पर भी बेबाक एवं जमकर चर्चाएं हुआ करती थीं। ग्रामीण चौपालों पर भी अक्सर ऐसी चर्चाएं होती थीं। अब वह माहौल नहीं रहा, किंतु आज भी कई विकल्प हैं, जिन्हें आजमाया जा सकता है। थियेटर का अर्थ सिर्फ नाटक ही नहीं होता। कविताओं, कहानियों, एकांकियों आदि के पाठ को भी इसके अंतर्गत समाहित किया जा सकता है। लेकिन इसके लिए पहले आधार तैयार करना जरूरी है। फिर तो कई विकल्प आजमाए जा सकते हैं। कम से कम शुरुआत तो हो ही सकती है। पहले दस आयेंगे, फिर बीस, तीस, पचास लोग बढ़ेंगे। इस संदर्भ में मैं अपने मित्र दिनेश ठाकुर (अब दिवंगत) का नाम लेना चाहूँगा, जो दर्शकों की संख्या की परवाह किये बिना प्रस्तुतियां देते रहे, जिसने उन्हें एक बेहतरीन कलाकार बनाया।

दुर्योधन– *फिल्मों के सन्दर्भ में क्या कहेंगे?*

प्रयाग शुक्ल– वर्ष २००० के पश्चात इस क्षेत्र में कई यंग टैलेंट आये। आज भी युवा फिल्मों में आ रहे हैं जो अपनी दमदार उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं। आज डॉक्यूमेंट्रीज काफी संख्या में

बन रही है। फिल्म फेस्टिवल की संख्या बढ़ रही है। पुरानी फिल्मों की नयी प्रिंट तैयार हो रही है। काफी कुछ लिखा जा रहा है फिल्मों पर। पुरानी अच्छी फिल्मों के प्रति भी लोगों में उत्सुकता बनी हुई है। लोगों के लिए सीडी पर अच्छी फिल्मों के कलेक्शन उपलब्ध हैं।

दुर्योधन– *आज पहले जैसी कलात्मक फिल्में क्यों नहीं बन पातीं जो लोकप्रिय भी हों?*

प्रयाग शुक्ल– देखिए, मैं श्रृंखला में विश्वास करता हूँ। सभी फिल्में एक जैसी ही बनने लगे तो वह इस व्यापक माध्यम के लिए सबसे बुरा दिन होगा। देश में बन रही फिल्मों का रेंज बड़ा है– कलात्मकता की दृष्टि से भी, विषय की दृष्टि से भी, तकनीक और ट्रीटमेंट की दृष्टि से भी। अब प्रश्न है लोकप्रियता का तो उसका पैमाना बदल रहा है। मणि कौल जैसी फिल्में बनाते हैं, उनका दर्शक मास नहीं, क्लास है। सभी नहीं जाएंगे उसे देखने के लिए। आज प्रकाश झा सोशियो–पोलिटिकल इश्यूज पर फिल्में बनाते हैं तो दूसरे फिल्मकार मानवीय संवेदनाओं को विषय बना रहे हैं। फिल्म समारोहों में इन्हे सराहना भी मिल रही है। ईरान, चीन, जापान जैसे देशों में सिने–प्रेमियों के क्लब बने हैं, जहाँ लोग फिल्मों पर चर्चाएं करते हैं। मीडिया उन्हें पर्याप्त महत्व भी देता है। अपने देश में मीडिया ऐसी चर्चाएं सामने नहीं लाता। वह अभिनेता–अभिनेत्रियों के बारे में बताकर, अधिकांश उनके निजी जीवन की चर्चाओं तक ही रह जाता है, फिल्मों को, उनके गुण–दोष की बात प्राय: नहीं करता।

दुर्योधन– *भारतीय फिल्मों से संवेदना गुम हो रही है?*

प्रयाग शुक्ल– इस पर अलग–अलग राय हो सकती है। यहीं आम फिल्में हैं जिनके संबंध में शायद ऐसा कहा जा सकता है तो आमिर, विशाल भारद्वाज, फरहान अख्तर जैसे फिल्मकारों की फिल्में भी हैं, जो मानवीय संवेदनाओं की गहराइयों में उतरती चली जाती हैं। आज कहें तो फिल्में अधिक संवेदनशील होती जा रही हैं, उसे विस्तार दे रही हैं, संवेदनाओं की सूक्ष्मता के साथ पड़ताल कर रही हैं। उन पर फोकस कर रही हैं। ये फिल्में संवेदनाओं को सर्वजन सुलभ बना रही हैं। हमारी फिल्मों की या अन्य कहानियां लिखता एक ही व्यक्ति है लेकिन बात कभी–कभी ही बनती है। वही काल, वही क्षण उस कलाकार का चरमोत्कर्ष होता है। बाद में वह खुद को दुहराता भर है। इससे नये–नये लोगों को आना चाहिए फिल्म के क्षेत्र में, जो नयी सोच, नये विषयों पर फिल्में बनायें। रेणु के उपन्यासों पर फिल्में बनें, नयी तरह से बनें। पुरानी रचनाओं जैसे शाकुंतलम्, मृच्छकटिकम् आदि पुराने नाटकों पर फिर से फिल्में बनें। पूर्वोत्तर में मणिपुर के रंगकर्मी हैं रतन थियम। उन्होंने काफी लगन के साथ तैयार की है ऋतुसंहार की मंचीय प्रस्तुति।

पर इसमें रुकावटें बहुत हैं। निर्देशक तो फिल्में बनाये, पर फिनांसर, डिस्ट्रीब्यूटर नहीं मिलते। लोगों में इच्छा की कमी है। संगीतकार शैलेन्द्र ने तीसरी कसम बनायी। लेकिन सबकुछ जोखिम में डालकर उनका जुनून ही अलग था उस समय। वैसे ही जुनून की फिर से जरूरत है।

वार्ता प्रतिनिधि : दुर्योधन सिंह, वरीय संपादक, प्रभात खबर (दैनिक), जमशेदपुर, मो. ०९३०८१९७०७३

•••

बन रही है। फिल्म फेस्टिवल की संख्या बढ़ रही है। पुरानी फिल्मों की नयी प्रिंट तैयार हो रही है। काफी कुछ लिखा जा रहा है फिल्मों पर। पुरानी अच्छी फिल्मों के प्रति भी लोगों में उत्सुकता बनी हुई है। लोगों के लिए सीडी पर अच्छी फिल्मों के कलेक्शन उपलब्ध हैं।

दुर्योधन— *आज पहले जैसी कलात्मक फिल्में क्यों नहीं बन पातीं जो लोकप्रिय भी हों?*

प्रयाग शुक्ल— देखिए, मैं शृंखला में विश्वास करता हूँ। सभी फिल्में एक जैसी ही बनने लगें तो वह इस व्यापक माध्यम के लिए सबसे बुरा दिन होगा। देश में बन रही फिल्मों का रेंज बड़ा है— कलात्मकता की दृष्टि से भी, विषय की दृष्टि से भी, तकनीक और ट्रीटमेंट की दृष्टि से भी। अब प्रश्न है लोकप्रियता का तो उसका पैमाना बदल रहा है। मणि कौल जैसी फिल्में बनाते हैं उनका दर्शक मास नहीं, क्लास है। सभी नहीं जाएंगे उसे देखने के लिए। आज प्रकाश झा सोशियो–पोलिटिकल इश्यूज पर फिल्में बनाते हैं तो दूसरे फिल्मकार मानवीय संवेदनाओं को विषय बना रहे हैं। फिल्म समारोहों में इन्हे सराहना भी मिल रही है। ईरान, चीन, जापान जैसे देशों में सिने–प्रेमियों के क्लब बने हैं, जहाँ लोग फिल्मों पर चर्चाएं करते हैं। मीडिया उन्हें पर्याप्त महत्व भी देता है। अपने देश में मीडिया ऐसी चर्चाएं सामने नहीं लाता। वह अभिनेता–अभिनेत्रियों के बारे में बताकर, अधिकांश उनके निजी जीवन की चर्चाओं तक ही रह जाता है, फिल्मों के, उनके गुण–दोष की बात प्राय: नहीं करता।

दुर्योधन— *भारतीय फिल्मों से संवेदना गुम हो रही है?*

प्रयाग शुक्ल— इस पर अलग–अलग राय हो सकती है। यहीं आम फिल्में हैं जिनके संबंध में शायद ऐसा कहा जा सकता है तो आमिर, विशाल भारद्वाज, फरहान अख्तर जैसे फिल्मकारों की फिल्में भी हैं, जो मानवीय संवेदनाओं की गहराइयों में उतरती चली जाती हैं। आज कहें तो फिल्में अधिक संवेदनशील होती जा रही हैं, उसे विस्तार दे रही हैं, संवेदनाओं की सूक्ष्मता के साथ पड़ताल कर रही हैं। उन पर फोकस कर रही हैं। ये फिल्में संवेदनाओं को सर्वजन सुलभ बना रही हैं। हमारी फिल्मों की या अन्य कहानियां लिखता एक ही व्यक्ति है लेकिन बात कभी–कभी ही बनती है। वही काल, वही क्षण उस कलाकार का चरमोत्कर्ष होता है। बाद में वह खुद को दुहराता भर है। इससे नये–नये लोगों को आना चाहिए फिल्म के क्षेत्र में, जो नयी सोच, नये विषयों पर फिल्में बनायें। रेणु के उपन्यासों पर फिल्में बनें, नयी तरह से बनें। पुरानी रचनाओं जैसे शाकुंतलम्, मृच्छकटिकम् आदि पुराने नाटकों पर फिर से फिल्में बनें। पूर्वोत्तर में मणिपुर के रंगकर्मी हैं रतन थियम। उन्होंने काफी लगन के साथ तैयार की है ऋतुसंहार की मंचीय प्रस्तुति।

पर इसमें रुकावटें बहुत हैं। निर्देशक तो फिल्में बनाये, पर फिनांसर, डिस्ट्रीब्यूटर नहीं मिलते। लोगों में इच्छा की कमी है। संगीतकार शैलेन्द्र ने तीसरी कसम बनायी। लेकिन सबकुछ जोखम में डालकर उनका जुनून ही अलग था उस समय। वैसे ही जुनून की फिर से जरूरत है।

वार्ता प्रतिनिधि : दुर्योधन सिंह, वरीय संपादक, प्रभात खबर (दैनिक), जमशेदपुर, मो. ०९३०८१९७०७३

•••

बन रही है। फिल्म फेस्टिवल की संख्या बढ़ रही है। पुरानी फिल्मों की नयी प्रिंट तैयार हो रही है। काफी कुछ लिखा जा रहा है फिल्मों पर। पुरानी अच्छी फिल्मों के प्रति भी लोगों में उत्सुकता बनी हुई है। लोगों के लिए सीडी पर अच्छी फिल्मों के कलेक्शन उपलब्ध हैं।

दुर्योधन– *आज पहले जैसी कलात्मक फिल्में क्यों नहीं बन पातीं जो लोकप्रिय भी हों?*

प्रयाग शुक्ल– देखिए, मैं श्रृंखला में विश्वास करता हूँ। सभी फिल्में एक जैसी ही बनने लगें तो वह इस व्यापक माध्यम के लिए सबसे बुरा दिन होगा। देश में बन रही फिल्मों का रेंज बड़ा है– कलात्मकता की दृष्टि से भी, विषय की दृष्टि से भी, तकनीक और ट्रीटमेंट की दृष्टि से भी। अब प्रश्न है लोकप्रियता का तो उसका पैमाना बदल रहा है। मणि कौल जैसी फिल्में बनाते हैं उनका दर्शक मास नहीं, क्लास है। सभी नहीं जाएंगे उसे देखने के लिए। आज प्रकाश झा सोशियो–पोलिटिकल इश्यूज पर फिल्में बनाते हैं तो दूसरे फिल्मकार मानवीय संवेदनाओं को विषय बना रहे हैं। फिल्म समारोहों में इन्हे सराहना भी मिल रही है। ईरान, चीन, जापान जैसे देशों में सिने–प्रेमियों के क्लब बने हैं, जहाँ लोग फिल्मों पर चर्चाएं करते हैं। मीडिया उन्हें पर्याप्त महत्व भी देता है। अपने देश में मीडिया ऐसी चर्चाएं सामने नहीं लाता। वह अभिनेता–अभिनेत्रियों के बारे में बताकर, अधिकांश उनके निजी जीवन की चर्चाओं तक ही रह जाता है, फिल्मों को, उनके गुण–दोष की बात प्रायः नहीं करता।

दुर्योधन– *भारतीय फिल्मों से संवेदना गुम हो रही है?*

प्रयाग शुक्ल– इस पर अलग–अलग राय हो सकती है। यहीं आम फिल्में हैं जिनके संबंध में शायद ऐसा कहा जा सकता है तो आमिर, विशाल भारद्वाज, फरहान अख्तर जैसे फिल्मकारों की फिल्में भी हैं, जो मानवीय संवेदनाओं की गहराइयों में उतरती चली जाती हैं। आज कहें तो फिल्में अधिक संवेदनशील होती जा रही हैं, उसे विस्तार दे रही हैं, संवेदनाओं की सूक्ष्मता के साथ पड़ताल कर रही हैं। उन पर फोकस कर रही हैं। ये फिल्में संवेदनाओं को सर्वजन सुलभ बना रही हैं। हमारी फिल्मों की या अन्य कहानियां लिखता एक ही व्यक्ति है लेकिन बात कभी–कभी ही बनती है। वही काल, वही क्षण उस कलाकार का चरमोत्कर्ष होता है। बाद में वह खुद को दुहराता भर है। इससे नये–नये लोगों को आना चाहिए फिल्म के क्षेत्र में, जो नयी सोच, नये विषयों पर फिल्में बनायें। रेणु के उपन्यासों पर फिल्में बनें, नयी तरह से बनें। पुरानी रचनाओं जैसे शाकुंतलम्, मृच्छकटिकम् आदि पुराने नाटकों पर फिर से फिल्में बनें। पूर्वोत्तर में मणिपुर के रंगकर्मी हैं रतन थियम। उन्होंने काफी लगन के साथ तैयार की है ऋतुसंहार की मंचीय प्रस्तुति।

पर इसमें रुकावटें बहुत हैं। निर्देशक तो फिल्में बनाये, पर फिनांसर, डिस्ट्रीब्यूटर नहीं मिलते। लोगों में इच्छा की कमी है। संगीतकार शैलेन्द्र ने तीसरी कसम बनायी। लेकिन सबकुछ जोखिम में डालकर उनका जुनून ही अलग था उस समय। वैसे ही जुनून की फिर से जरूरत है।

वार्ता प्रतिनिधि : दुर्योधन सिंह, वरीय संपादक, प्रभात खबर (दैनिक), जमशेदपुर, मो. ०९३०८१९७०७३

•••

हिंदी फिल्मों का गीत–सफर

नरेन

हिंदुस्तानी फिल्मों के मिजाज को हिंदुस्तानी इसके गीत ही बनाते हैं। हमारी फिल्मों के साहस की सबसे पहली निशानी भी इसके गीत ही हैं। भारत में फिल्मों की विकास यात्रा में बोलती फिल्मों से पहले तक पश्चिमी परिपाटी का जबरदस्त असर था। लेकिन बोलने वाली फिल्मों से भारतीय सिनेमा ने जो राह पकड़ी वह बिल्कुल नई थी। यह पश्चिम के गीत–रहित सिनेमा के ब्रजाय हिंदुस्तान की अपनी, गीतों से लबालब रहने वाले लोक–मायमों की डगर थी। इसीलिए १९३१ में आई भारत की सबसे पहली बोलती फिल्म ***आलम आरा*** में सात गाने थे। शायद ***आलम आरा*** के हिस्से में आई कुल चर्चा उसके हिट गानों की वजह से ही थी।

हालांकि ***आलम आरा*** के संगीत में जादू जैसा कुछ नहीं था, मगर इसने अगर धूम मचाई तो इसके पीछे सबसे बड़ी वजह आसान धुनों पर सजे असरदार अल्फाज थे। असल में यह फिल्म पारसी थिएटर के लबो–लहजे वाली फिल्म थी जिसमें लेखन का विभाग हमेशा मार्के के शायरों से सजा होता था। इसके बाद अगले चार–पाँच साल तक आने वाली हर फिल्म में गीतों की भरमार रही।

आरंभिक दौर के ज्यादातर गीतकार असल में पारसी थिएटर या अन्य नाट्य मंडलियों से जुड़े हुए शायर–कवि थे। इनमें राधेश्याम कथावाचक, डीएन कश्मीरी, पंडित सुदर्शन आदि प्रमुख थे। इनमें फिल्मी गीतों के क्षेत्र में सबसे बड़ा योगदान आरजू लखनवी का है। साहिर कहा करते थे कि आरजू ने ही फिल्मी गीतों को उसका सबसे पहला मुहावरा, सांचा और जुबान दी। आरजू का दिया यह मुहावरा नब्बे के दशक तक चलन में रहा। १९३५ के आस–पास जब विशेषज्ञ संगीतकारों जैसे आरसी बोराल, पंकज मलिक, तिमिर बरन ने फिल्मी दुनिया में कदम जमाए तब पहली बार सिनेमा को जादुई धुनें मिलनी शुरू हुई और यहीं से यादगार गीतों का सिलसिला भी शुरू हो गया।

हमारे फिल्मी गीतों की विषयवस्तु शुरुआत में तीन प्रवृत्तियों के इर्द–गिर्द घूमती थी। इनमें सबसे पहली थी प्रेम। अन्य दो धाराएं भक्ति और देश–प्रेम की थीं। प्रेम की प्रवृत्ति आज तक हिंदी फिल्मी गीतों की रीढ़ बनी हुई है। आरजू लखनवी ने आरंभिक दौर के ज्यादातर रूमानी नगमें और गजलें सिनेमा को दीं। इस सिलसिले में दूसरा नाम केदार शर्मा का आता है। ***न्यू थिएटर***

प्रतिभा निवास, फ्लैट सं. ४, तारकेश्वर पथ, पटना, बिहार, मो. ०९८३५०५२९९६

के गीतकारों में सबसे ज्यादा चर्चित केदार शर्मा ही थे। इसी समय बहुमुखी प्रतिभा के धनी डीएन मधोक भी प्रेम और भक्ति की उम्दा रचनाओं से हिंदी फिल्मों को धनी कर रहे थे। पीएल संतोषी भी इस कड़ी में एक अहम नाम थे। लेकिन आरंभिक फिल्मी गीतों का जिक्र अधूरा है अगर इनमें मौजूद राष्ट्रीय धारा वाले गीतों की बात न हो। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौर में आई फिल्म **किस्मत** के लिए लिखे गए प्रदीप के गीत *दूर हटो ऐ दुनिया वालों, हिंदुस्तान हमारा है* ने अंग्रेजी शासन की नींद हराम कर दी थी। बाद के वर्षों में भी कवि प्रदीप ने राष्ट्रीय चेतना और देशप्रेम को समर्पित ऐसे–ऐसे उम्दा गीत लिखे कि वे एक तरह से हमारे देश के लिए राष्ट्रीय गीतकार ही बन गए। लेकिन असल मायनों में हिंदी सिनेमा के कभी न भुलाए जा सकने वाले गीतों का दौर १९४५ के बाद शुरू हुआ। संगीत के साथ गीतों का स्वर्ण–युग भी यही है। इस दौर में उर्दू–हिंदी के पहली श्रेणी के शायरों ने फिल्म इंडस्ट्री का रुख किया। इनमें साहिर लुधियानवी, शकील बदायूंनी, कैफी आजमी, मजरूह सुल्तानपुरी, खुमार बाराबंकवी, जांनिसार अख्तर, राजा मेहंदी अली खान, हसरत जयपुरी या फिल्मों में हिंदी धारा लाने वाले पंडित नरेंद्र शर्मा, इंदीवर, भरत व्यास, राजेन्द्र कृष्ण, प्रेम धवन, शैलेन्द्र आदि सबसे प्रभावी नाम रहे। इन सभी ने अगले तकरीबन २५ साल तक फिल्मी गीतों को साहित्य की कसौटी पर ढीला नहीं पड़ने दिया। इस दौर में भी फिल्मी गीतों की सबसे मुख्य अभिव्यक्ति प्रेम की ही रही। देशभक्ति और भक्ति दो अन्य मुख्य विषय थे। मगर अब एक और बिल्कुल नया रंग फिल्मी गीतों को मिल गया था। यह रंग था प्रगतिशील विद्रोह का। फिर भी इस पूरे दौर के गीतों की सबसे बड़ी खासियत प्रेम के अलग–अलग रंगों की छटा ही रही। १९४६ की फिल्म शाहजहां में मजरूह के लिखे *गम दिए मुस्तकिल* का सोज आज भी बरकरार है। वहीं शकील बंदायूनी के **दर्द** (१९४७) के लिए लिखे *अफसाना लिख रही हूँ* को कौन भूल सकता है। वहीं शैलेन्द्र के १९४९ में ***बरसात*** के लिए लिखे गए *बरसात में हमसे मिले तुम*, १९५१ में ***आवारा*** के लिए लिखे गए *आवारा हूँ* और *घर आया मेरा परदेसी* आदि गीतों ने इनमें सादगी और सुख की अनुभूति को भी खूब आगे बढ़ाया। इसी वक्त शकील बदायूंनी ने ***बैजू बावरा, अमर*** जैसी फिल्मों में जितने सुंदर भजन लिखे उसने देश को कौमी एकता की एक नई मिसाल दी। शकील की ही तरह बाद के वर्षों में साहिर लुधियानवी की कलम से भी ***सीमा, नया दौर*** जैसी फिल्मों के लिए कुछ बेहद लोकप्रिय भक्ति गीत निकले।

अगले कुछ वर्ष साहिर, शकील, कैफी, राजेन्द्र कृष्ण और शैलेंद्र के ही नाम रहे। साहिर लुधियानवी ने ***प्यासा*** से हिंदी फिल्मों के गीतों को एक नया तेवर और बेबाकी दी। *जिन्हें नाज है जिंद पर वो कहां है* और *ये दुनिया अगर मिल भी जाए तो क्या है* जैसे गाने साहित्य के फिल्मों से मिलन की अनूठी मिसाल थे। इसके अलावा **धूल का फूल** के *तू हिंदू बनेगा न मुसलमान बनेगा* और ***साधना*** के *औरत ने जन्म दिया मर्दों को* के गीत के साथ साहिर ने अपनी विद्रोही अभिव्यक्ति जारी रखी। ***साधना*** का गीत तो औरत को समर्पित फिल्मी गीतों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। साहिर की निजी जिंदगी से निकला यह गीत वास्तव में रोंगटे खड़े कर देने वाली रचना थी। वहीं शकील ने इसी साल आई ***मदर इंडिया*** में गंवई लोकसंस्कारों से सजे गीत जितने लालित्य के साथ पेश किए उसने उन्हें भी साहिर के कद का ही गीतकार बनाए रखा। शैलेंद्र भी **यहूदी** और **मधुमती**

जैसी फिल्मों के जरिए अपने अलग अंदाज के गीत सिनेमा को दे रहे थे। गीतकारों के लिए पहला फिल्मफेयर भी शैलेंद्र को ही **यहूदी** के अद्भुत गाने *ये मेरा दीवानापन है* के लिए मिला। वहीं इस समय भी पंडित भरत व्यास और कवि प्रदीप अपने भक्ति गीतों की वजह से लोगों की जुबान पर थे। १९५७ में आई वी. शांताराम की ***दो आंखें बारह हाथ*** में भरत व्यास का लिखा *ऐ मालिक तेरे बंदे हम* आज भी भक्ति गीतों में सबसे यादगार माना जाता है। १९५९ में कैफी आजमी ने भी गुरुदत्त के साथ जुड़ कर **कागज के फूल** के लिए अमर गीत लिखे। लेकिन अगले साल १९६० में आई ***मुगले आजम*** के गीतों की ऐतिहासिक कामयाबी ने मुख्य मुकाबला फिर साहिर लुधियानवी और शकील बदायूंनी के बीच कर दिया। इसी साल साहिर के फिल्म ***बरसात की रात*** के लिए लिखे गाने जबरदस्त धूम मचा रहे थे। ***मुगले आजम*** के गीतों में शकील ने पारंपरिक प्रेम के साथ विद्रोह को भी मिला दिया जो अभी तक साहिर की विशेषता थी। फिल्म के *जब प्यार किया तो डरना क्या* और *ऐ मुहब्बत जिंदाबाद* जैसे गीत इसकी बानगी हैं। ***मुगले आजम*** के साथ ही **कोहिनूर** और ***चौदहवीं का चांद*** जैसी फिल्मों में लिखे गए खूबसूरत नगमों ने भी शकील को साहिर के मुकाबले कुछ बड़ा ही किया। बाद के सालों में यह पूरी बहस यह कहकर खत्म करनी पड़ी की शकील रूमानियत के तो बादशाह हैं लेकिन अपने विद्रोही तेवरों के चलते फिल्मी गीतों के विशाल फलक पर साहिर का कद उनसे ज्यादा बड़ा नजर आता है। साहिर के बड़े होने का एक प्रमुख कारण उर्दू अदब में उनका शकील से बड़ा होना भी रहा।

१९६० के बाद के वर्षों में साहिर, शकील, शैलेंद्र के अलावा मजरूह सुल्तानपुरी, हसरत जयपुरी और राजेंद्र कृष्ण ने अपने रूमानी नगमों से लोगों का दिल जीता। यहाँ साहिर के ***ताजमहल, गजल, गुमराह, हमराज***, शकील के ***गंगा जमुना, लीडर, राम और श्याम***, शैलेंद्र के ***गाइड, तीसरी कसम*** और मजरूह के ***दोस्ती, चिराग*** के लिए लिखे गीत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके साथ एक अन्य गीतकार जो बेहद लोकप्रिय रहे, वे थे, गजलों के बादशाह मदन मोहन के जोड़ीदार राजा मेहंदी अली खान। जिन्होंने ***वे कौन थी?, अनपढ़, मेरा साया*** आदि फिल्मों में बेहद खूबसूरत गीत लिखे। लेकिन इस पूरे दशक को प्रेम के नगमों से पहले इस वजह से याद किया जाना चाहिए कि इसमें देशभक्ति को समर्पित सबसे अच्छे गीत लिखे गए। इन गीतों में सबसे पहला नाम प्रेम धवन के गीतों का आएगा जिन्होंने *छोड़ो कल की बातें, ऐ मेरे प्यारे वतन, ऐ वतन ऐ वतन*, मेरा रंग दे बसंती चोला जैसे बेहद लोकप्रिय देशभक्ति गीत फिल्मों को दिए। इसके अलावा कैफी आजमी ने भी फिल्म ***हकीकत*** में देशभक्ति का जोश भर देने वाला गीत *कर चले हम फिदा* लिखा। ***हकीकत*** कैफी के लिखे रूमानी नगमों जैसे *हो के मजबूर मुझे* और *मैं ये सोच करें..* के लिए भी याद रखी जाएगी। कैफी ने ही *मेरी आवाज सुनो* जैसा मार्मिक गीत भी लिखा। इसी दशक में शकील बदायूंनी ने भी *अपनी आजादी को हम, नन्हा मुन्ना राही हूं* और *इंसाफ की डगर पे* जैसे गीत फिल्मों को दिए। १९६५ के बाद के सालों में इंदीवर ने मनोज कुमार की फिल्म ***पूरब और पश्चिम*** के लिए *है प्रीत जहां की रीत सदा* जैसे कालजयी देशभक्ति गीत लिखे और मनोज कुमार की ही फिल्म उपकार में गुलशन बावरा के लिखे *मेरे देश की धरती सोना उगले...* को भुलाया नहीं जा सकता।

इसी दौर में कुछ और नए, पैर जमाने की कोशिश में लगे गीतकारों ने भी बहुत खूबसूरत गीत लिखे। इनमें हिंदी के लोकप्रिय गीतकार गोपालदास नीरज, आनंद बख्शी और गुलजार के नाम प्रमुख हैं। बाद वाले दोनों नाम १९७० के बाद के बीस वर्षों में सबसे बड़े फिल्मी गीतकार बनकर उभरे। १९७०–८० के बीच कई पुराने गीतकार सक्रिय भी नहीं रहे थे। संगीत ने बदलकर गीतों को पीछे ढकेलना शुरू कर दिया था। फिर भी साहिर, मजरूह, और नरेंद्र शर्मा जैसे पुराने गीतकारों के साथ आनंद बख्शी, गुलजार और योगेश ही गीतों का स्तर बचाने में कामयाब रहे। १९७५ की फिल्म ***जय संतोषी मां*** के भजनों के जरिए प्रदीप मुश्किल दौर में भी भक्ति गीतों को हिट कराने में कामयाब रहे। इस दौर में भी प्रेम की प्रधानता तो गीतों में बनी रही लेकिन देशप्रेम और भक्ति गायब हो गए। प्रेम भी पचास और साठ के दशक का न रहकर लाउड होने लगा था। १९८० के बाद के वर्षों में जब स्वर्ण युग खत्म हो चुका था और शोर ने शब्दों को दबा लिया था, तब भी गुलजार और आनंद बख्शी के साथ जावेद अख्तर खूबसूरत गीत लिख रहे थे। गुलजार ने ***इजाजत, मासूम*** तो आनंद बख्शी ने ***कर्ज, एक दूजे के लिए*** और जावेद अख्तर ने ***सिलसिला, सागर*** आदि फिल्मों के लिए गोल्डन एरा की बराबरी वाले गीत लिखे।

१९९० में भी यही तीन लोग गीतों के मेयार का झंडा थामे रहे, हालांकि आनंद बख्शी भी अब *चोली के पीछे* लिख रहे थे और गुलजार में भी संवेदना का पहले जैसा स्तर नहीं था और जावेद अख्तर की प्रतिभा जागती–बुझती रहती थी। लेकिन फिर भी समीर के *जाने जाना–जाने तमन्ना* टाइप गीतों के दौर में ये ठंडी हवा की तरह थे। १९९० से लेकर २००० का पूरा दौर समीर का था जिन्होंने ***दीवाना, साजन*** और ***आशिकी*** जैसी कुछ फिल्मों में कुछ सुंदर गाने भी लिखे लेकिन ज्यादा काम करने की हवस ने उनके गीतों का जादू खत्म कर दिया। ज्यादातर गीत ऐसे होते थे मानो उन्हीं पुराने शब्दों और उपमाओं को किसी मशीन में डालकर गीत निकाल लिया हो। समीर के नाम सबसे ज्यादा फिल्मों के लिए गीत लिखने का गिनीज बुक रिकॉर्ड तो आया लेकिन अच्छे गीतों की रिकॉर्ड–बुक में वे सबसे पिछले पन्नों में चले गए।

हालांकि २००० के बाद से अभी तक के दौर में भी संगीत ने शब्दों को दबा रखा है और आइटम सांग के चलन के कारण खारिज करने लायक गीत भी हिट हो रहे हैं; लेकिन बदनाम होती मुन्नियों और जवान होती शीलाओं के बीच भी इस दौर में ९० के दशक की अपेक्षा कहीं ज्यादा उम्मीद दिखाई देती है। इस दशक में हमें *तारे जमीन पर* लिखते प्रसून जोशी मिलते हैं और *जो भी मैं कहना चाहूं, बर्बाद करें अल्फाज मेरे* लिखने वाले इरशाद कामिल भी। *मौला मेरे ले ले मेरी जान* वाले जयदीप साहनी भी हैं, *खोया खोया चांद लिखने वाले* स्वानंद किरकिरे भी और सबसे नए अमिताभ भट्टाचार्य जिन्होंने डीके बोस के भागने के बीच ***उड़ान*** के अविस्मरणीय गीत लिखे हैं। ये सब अपने नए शब्दकोशों, अभिव्यक्तियों और मुहावरों को फिल्मी गीतों में लाने वाले गीतकार हैं और फिर से फिल्मी गीतों को कविता के करीब ले जाते हैं। गुलजार भी *दिल तो बच्चा है जी* की अपनी ताजगी के साथ नयों के बराबर और कभी–कभी उनसे ज्यादा सक्रिय हैं। २००९ में आई ***गुलाल*** के एक गीत में पीयूष मिश्रा लिखते हैं– *जिस कवि की कल्पना*

इसी दौर में कुछ और नए, पैर जमाने की कोशिश में लगे गीतकारों ने भी कई खूबसूरत गीत लिखे। इनमें हिंदी के लोकप्रिय गीतकार गोपालदास नीरज, आनंद बख्शी और गुलजार के नाम प्रमुख हैं। बाद वाले दोनों नाम १९७० के बाद के बीस वर्षों में सबसे बड़े फिल्मी गीतकार बनकर उभरे। १९७०–८० के बीच कई पुराने गीतकार सक्रिय भी नहीं रहे थे। संगीत ने बदलकर गीतों को पीछे ढकेलना शुरू कर दिया था। फिर भी साहिर, मजरूह, और नरेंद्र शर्मा जैसे पुराने गीतकारों के साथ आनंद बख्शी, गुलजार और योगेश ही गीतों का स्तर बचाने में कामयाब रहे। १९७५ की फिल्म ***जय संतोषी मां*** के भजनों के जरिए प्रदीप मुश्किल दौर में भी भक्ति गीतों को हिट कराने में कामयाब रहे। इस दौर में भी प्रेम की प्रधानता तो गीतों में बनी रही लेकिन देशप्रेम और भक्ति गायब हो गए। प्रेम भी पचास और साठ के दशक का न रहकर लाउड होने लगा था। १९८० के बाद के वर्षों में जब स्वर्ण युग खत्म हो चुका था और शोर ने शब्दों को दबा लिया था, तब भी गुलजार और आनंद बख्शी के साथ जावेद अख्तर खूबसूरत गीत लिख रहे थे। गुलजार ने ***इजाजत, मासूम*** तो आनंद बख्शी ने ***कर्ज, एक दूजे के लिए*** और जावेद अख्तर ने ***सिलसिला, सागर*** आदि फिल्मों के लिए गोल्डन एरा की बराबरी वाले गीत लिखे।

१९९० में भी यही तीन लोग गीतों के मेयार का झंडा थामे रहे, हालांकि आनंद बख्शी भी अब *चोली के पीछे* लिख रहे थे और गुलजार में भी संवेदना का पहले जैसा स्तर नहीं था और जावेद अख्तर की प्रतिभा जागती–बुझती रहती थी। लेकिन फिर भी समीर के *जाने जाना–जाने तमन्ना* टाइप गीतों के दौर में ये ठंडी हवा की तरह थे। १९९० से लेकर २००० का पूरा दौर समीर का था जिन्होंने ***दीवाना, साजन*** और ***आशिकी*** जैसी कुछ फिल्मों में कुछ सुंदर गाने भी लिखे लेकिन ज्यादा काम करने की हवस ने उनके गीतों का जादू खत्म कर दिया। ज्यादातर गीत ऐसे होते थे मानो उन्हीं पुराने शब्दों और उपमाओं को किसी मशीन में डालकर गीत निकाल लिया हो। समीर के नाम सबसे ज्यादा फिल्मों के लिए गीत लिखने का गिनीज बुक रिकॉर्ड तो आया लेकिन अच्छे गीतों की रिकॉर्ड–बुक में वे सबसे पिछले पन्नों में चले गए।

हालांकि २००० के बाद से अभी तक के दौर में भी संगीत ने शब्दों को दबा रखा है और आइटम सांग के चलन के कारण खारिज करने लायक गीत भी हिट हो रहे हैं; लेकिन बदनाम होती मुन्नियों और जवान होती शीलाओं के बीच भी इस दौर में ९० के दशक की अपेक्षा कहीं ज्यादा उम्मीद दिखाई देती है। इस दशक में हमें *तारे जमीन पर* लिखते प्रसून जोशी मिलते हैं और *जो भी मैं कहना चाहूं, बर्बाद करें अल्फाज मेरे* लिखने वाले इरशाद कामिल भी। *मौला मेरे ले ले मेरी जान* वाले जयदीप साहनी भी हैं, *खोया खोया चांद लिखने वाले* स्वानंद किरकिरे भी और सबसे नए अमिताभ भट्टाचार्य जिन्होंने डीके बोस के भागने के बीच ***उड़ान*** के अविस्मरणीय गीत लिखे हैं। ये सब अपने नए शब्दकोशों, अभिव्यक्तियों और मुहावरों को फिल्मी गीतों में लाने वाले गीतकार हैं और फिर से फिल्मी गीतों को कविता के करीब ले जाते हैं। गुलजार भी *दिल तो बच्चा है जी* की अपनी ताजगी के साथ नयों के बराबर और कभी–कभी उनसे ज्यादा सक्रिय हैं। २००९ में आई ***गुलाल*** के एक गीत में पीयूष मिश्रा लिखते हैं– *जिस कवि की कल्पना*

में जिंदगी हो प्रेमगीत, उस कवि को आज तुम नकार दो। रूमानियत की इस नकार में साहिर के गुस्से की खुशबू है और यही सबसे उम्मीद भरी बात है।

इस तरह कहा जा सकता है कि हिन्दी फिल्मों का गीत–सफर भावना से कामना तक आकर रुकना चाहता है। कभी वह भी समय था जब भावुक बना देनेवाले गीत भक्ति की शरण में आकर आध्यात्म–सुख पैदा करना चाहा करते थे और कभी देशभक्ति का जज्बा पैदा कर हमें उमंगोत्साह से भरने का प्रयास किया करते थे; वही आज मुन्नी के साथ बदनाम होकर भी कमाऊ बना हुआ है। यह बाजार का खेल है, जिसमें गीत अपनी आत्मा की तलाश तो कर सकता है, पर मिल ही जाय, यह आवश्यक नहीं।

...

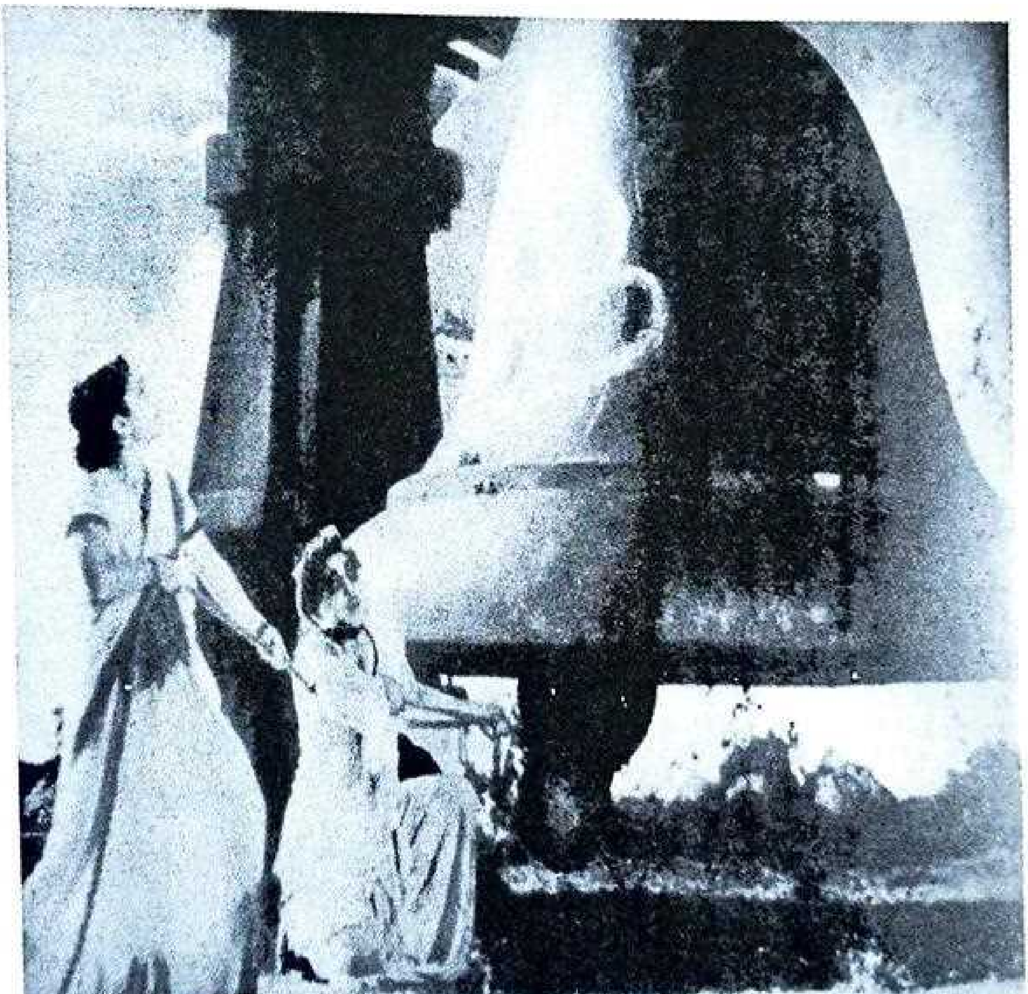

फिल्म पर्वत पर अपना डेरा का मार्मिक दृश्य

से कितने ही प्रेमगीत, उस कवि को आज तुम नकार दो। रूमानियत की इस नकार में साहिर के गुस्से की खुशबू है और यही सबसे उम्मीद भरी बात है।

इस तरह कहा जा सकता है कि हिन्दी फिल्मों का गीत–सफर भावना से कामना तक आकर रुकना चाहता है। कभी वह भी समय था जब भावुक बना देनेवाले गीत भक्ति की शरण में आकर आध्यात्म–सुख पैदा करना चाहा करते थे और कभी देशभक्ति का जज्बा पैदा कर हमें उमंगोत्साह से भरने का प्रयास किया करते थे; वही आज मुन्नी के साथ बदनाम होकर भी कमाऊ बना हुआ है। यह बाजार का खेल है, जिसमें गीत अपनी आत्मा की तलाश तो कर सकता है, पर मिल ही जाय, यह आवश्यक नहीं।

...

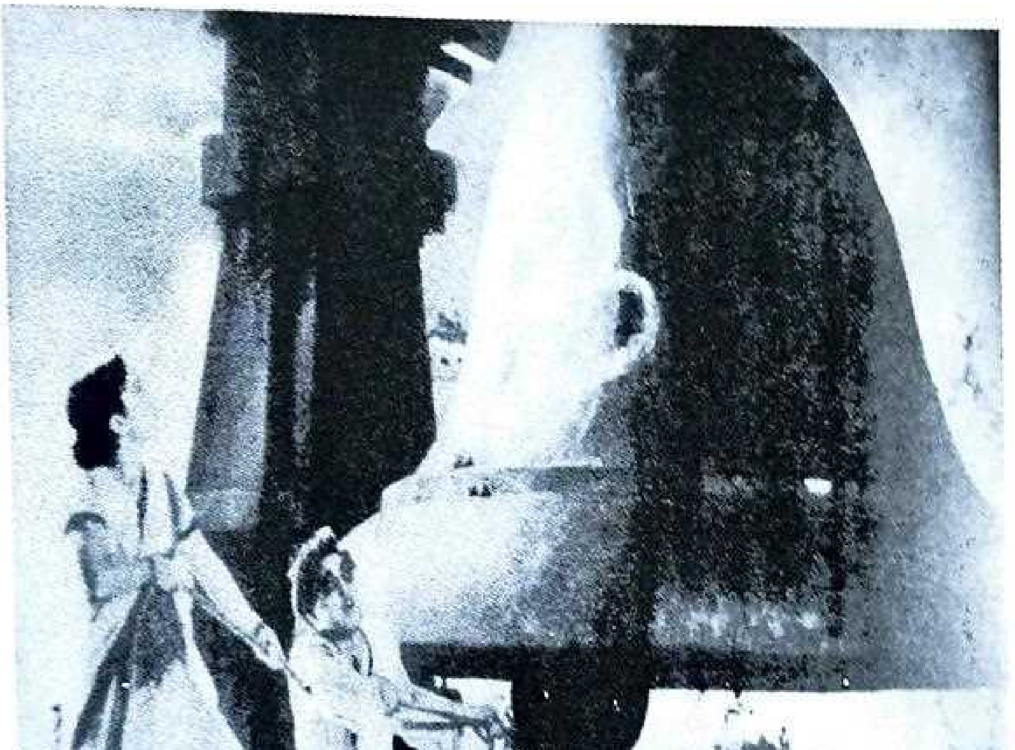

फिल्म पर्वत पर अपना डेरा का मार्मिक दृश्य

फिल्म *पाथेर पांचाली* का एक ऐतिहासिक दृश्य

साहित्य और सिनेमा का सामाजिक परिप्रेक्ष्य

धीरज यादव

साहित्य और सिनेमा ऐसे विषय हैं जिनमें से साहित्य में समाज कागज पर प्रतिबिंबित होता है तो सिनेमा में पर्दे पर। आज के आपाधापी भरे माहौल में सिनेमा इतना अधिक विस्तारित है कि इसमें समाज का दृश्य तथा उसको प्रभावित करने वाले विषयों का समावेश हो जाता है। साथ ही सिनेमा की एक अतिरिक्त विशेषता यह है कि यह समाज के एक बहुत बड़े तबके को खुशहाली के चंद लम्हें देता है। कहने का आशय है कि सिनेमा ने अब हमारे समाज में अपनी जगह सुनिश्चित कर ली है। यह भी रेखांकित करना आवश्यक है सिर्फ कूल्हे मटकाने या ताबड़तोड़ हाथ–पैर या गोली चलाकर लोगों को मारने वालों की एक नाटक–मंडली, सिनेमा नहीं होता है। वास्तव में सिनेमा पर्दे पर दिखाया–सुनाया जाने वाला जन साहित्य है, उसी प्रकार जैसे पुस्तको में लिखा जाने वाला।

जिस प्रकार साहित्य में दो कोटियाँ हैं उसी प्रकार का विभाजन सिनेमा में भी होता है। जैसा कि हम जानते हैं कि एक प्रकार का साहित्य भावात्मक उद्वेलन के लिए लिखा गया है तथा दूसरे प्रकार का साहित्य गंभीर और रचनात्मक मूल्यों से युक्त साहित्य है। भावात्मक उद्वेलन के लिए लिखे गए साहित्य में वेद प्रकाश शर्मा, गुलशन नंदा जैसे लेखक आते हैं तो रचनात्मक साहित्य में प्रेमचंद, रेणु, जैनेन्द्र जैसे रचनाकार। एक वर्ग जिसंमें रोमांटिक उपन्यास, जासूसी और अपराध कथाओं को शामिल कर सकते हैं, को लोकप्रिय लेखन भी कहा जा सकता है। इस तरह के लेखक अपने वर्ग विशेष के बाजार के लिए लिखते हैं तथा इसके खत्म हो जानेपर वे भी विलुप्त हो जाते हैं। लेकिन यह बात रचनात्मक साहित्य के बारे में नहीं कही जा सकती, जो कि प्रेमचंद प्रभृति लेखकों की देन है। यह बहुत हद तक सत्य है कि वेद प्रकाश शर्मा की प्रतियाँ प्रेमचंद से अधिक बिकी हैं, लेकिन हिंदी और उर्दू साहित्य में पिछले सात–आठ दशकों से प्रेमचंद महान साहित्यकार के रूप में न सिर्फ प्रतिष्ठित हैं बल्कि उनको लगातार पढ़ा भी जाता रहा है। ऐसे में सवाल उठना अनिवार्य है कि क्या सिनेमा में भी लोकप्रिय सिनेमा तथा रचनात्मक सिनेमा जैसा विभाजन किया जा सकता है? लोकप्रियता सिनेमा में अधिक महत्त्वपूर्ण है। लोकप्रियता के

शोधार्थी (हिन्दी अनुवाद), भारतीय भाषा केन्द्र, जेएनयू, नई दिल्ली, मो. ०९९५३०७८६४४

पीछे व्यावसायिकता है। जिस फिल्म निर्माता का ध्यान पूर्णत: लाभकेंद्रित हो वहाँ पर व्यावसायिक दृष्टिकोण पूर्णत: हावी रहता है। इसीलिए सिनेमा का 'निर्माण' तथा साहित्य का 'सृजन' किया जाताहै। फिल्म निर्माण साहित्य लेखन की तरह नहीं है क्योंकि कोई भी फिल्म पूरी तरह से व्यावसायिकता की उपेक्षा करके नहीं बनाई जा सकती। फिल्म के निर्माण में काफी पूँजी की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि कोई भी फिल्मकार फिल्मनिर्माण से पहले यह सुनिश्चित करना चाहता है कि जो पैसा उसने फिल्म को बनाने में लगाया है उसको वापस निकाल सके तथा इतना मुनाफा भी कमा सके कि आगे फिल्म निर्माण भी संभव हो सके। इसी व्यावसायिकता को मद्देनजर रखते हुए फिल्मों का निर्माण हो रहा (विशेषत: वर्तमान में) है। जबकि ८० के दशक तक के अधिकतर फिल्मकार फिल्म इसलिए बनाते थे ताकि प्राप्त मुनाफे से वे और फिल्में बना सकें। आज यह दृष्टिकोण उलटा सा प्रतीत होता है। अब फिल्में इसलिए भी बन रही हैं ताकि मुनाफा कमाया जा सके।

साहित्य की एक प्रमुख विधा के रूप में मूलत: कहानी ने भी सिनेमा और साहित्य के संबंधों को उत्तरोत्तर विकसित किया है। तुलनात्मक रूप से देखें तो उपन्यास की अपेक्षा कहानी को सिनेमा के माध्यम से सामने लाना कठिन होता है। क्योंकि कहानी में एक विशेष समय घटना या विविध प्रकार के छोटे प्रसंग इस कार्य को दुरूह बना देते हैं। कहानी या साहित्य की अन्य विधा को फिल्म में उसी रूप में लाने में उसके मूल कथ्य के परिवर्तन का भय रहता है, क्योंकि कहानी का विस्तार छोटा होता है जिससे दो–तीन घंटे का सिनेमा निर्माण उसकी आकृति से छेड़–छाड़ की माँग करता है। फलत: नए बिंब नए दृश्य बहुधा कथ्य से अलग हटकर सामने आते हैं। इस संदर्भ में चंद्रधरशर्मा 'गुलेरी' की कहानी "उसने कहा था" की चर्चा कर सकते हैं। यह कहानी आज भी उतनी ही प्रसिद्ध है जितनी कि अपने समय (१९१५) में थी। वस्तुत: यह हिंदी की ऐसी प्रथम कहानी है जिसके द्वारा कहानी में प्रेम का उदात्त रूप हमारे सामने आया। इस कहानी पर सन् १९६० ई. में विमल रॉय प्रोडक्शन के अंतर्गत निर्देशक मौनी भट्टाचार्य ने फिल्म बनाई। इस फिल्म में कहानी का मूल संदेश प्रेम, कर्त्तव्य, युगबोध आदि हाशिए पर चला जाता है जबकि निर्देशक की कल्पना हिलारे लेती है। मूल कहानी के पात्रों के नाम बदल देना, नायक का सिख न दिखाया जाना, नायक को अच्छा व्यक्ति सिद्ध करने के लिए फौज में भर्ती होना हजम नहीं हो पाता है। जबकि मूल कहानी में पात्रों के नामों में स्वाभाविकता है, सिख धर्म की अपनी अलग विशेषता है, और इनसे इतर मुख्य बात यह कि तब के समय में शायद ही किसी वर्ग में फौज में जाना गौरव की बात समझी जाती होगी जबकि देश गुलाम था। इस तरह से एक निर्देशक के द्वारा कथा की आत्मा के साथ न्याय न कर पाने के कारण एक सतही फिल्म का निर्माण कर दिया गया।

दूसरी और हिंदी के प्रतिष्ठित साहित्यकार रेणु की कहानी 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' पर प्रसिद्ध निर्देशक बासु भट्टाचार्य ने 'तीसरी कसम' नामक फिल्म का निर्माण करके

"राष्ट्रपति का स्वर्ण पदक"(१९६६ ई. में) भी लिया है। जबकि रेणु का कथा संसार ग्राम्य धरती तथा अंचल विशेष में पोषित हुआ है। हीरामन और हीराबाई के उदात्त प्रेम को फिल्म में तोड़ा मरोड़ा नहीं गया। गीतों में, संवादों में लोकभाषा का प्रयोग हुआ है–"सजनवा बैरी हो गए हमार"। जिन प्रसंगों में रेणु ने कुछ नहीं कहलवाया है वहाँ भी निर्देशक परिवेश की कल्पना की व्यंजना करने में सफल हुआ है। रात की चांदनी में हीरामन का गीत, गाँव की गलियों से हीराबाई को बिठा के ले जाना तथा बच्चों का कौतूहल व उल्लासमय होकर गाना–"पिया की पियारी भोली भाली रे दुलहनियाँ'। वस्तुत: 'तीसरी कसम' ने साहित्य और सिनेमा के मध्य उन संभावनाओं को उजागर किया है जो अब तक दबी रही थीं। इसके माध्यम से समाज में संदेश गया कि अच्छी साहित्यिक कहानियों पर भी सुंदर फिल्मों का निर्माण किया जा सकता है।

हिंदी साहित्य के सशक्त हस्ताक्षर प्रेमचंद १९३४ में बंबई फिल्म व्यवसाय में जाने से पहले खराब आर्थिक स्थिति से गुज़र रहे थे। इसका पता जैनेन्द्र को लिखे उनके पत्र से चलता है जो १५ अगस्त १९३२ को लिखा : "धन का अभाव है। *हंस* में कई हज़ार घाटा उठा चुका हूँ।"(माधुरी ,९ अक्टूबर १९६४)। बंबई पहुँचने के बाद प्रेमचंद का कुछ ही दिनों में मोहभंग हो गया। हालांकि उनको आरंभ में ८,००० सालाना की नौकरी तथा 'सेवासदन' के लिए ७५०रू. भी मिले थे। इसका पता भी जैनेन्द्र को लिखे उनके पत्र से मिलता है। इसमें उन्होंने 'अपने मन–मुताबिक कुछ भी न कर पाने की असमर्थता व्यक्त की थी तथा निर्देशकों के लिए वल्गैरिटी को 'इंटरटेनमेंट वैल्यू' बताया था। आज अस्सी–पच्चासी वर्ष बीत जाने पर भी स्थिति में कमोबेश परिवर्तन नहीं हुआ है तथा हिंदी फिल्मों पर व्यावसायिकता हावी है तथा वल्गैरिटी प्रमुख होती जा रही है।

प्रेमचंद की किसी भी रचना पर बनाई गई पहली फिल्म 'मिल' या 'मजदूर' थी जो कि १९३४ में अजंता सिनेटोज, मुंबई द्वारा निर्मित की गई।"[१] रिलीज होने से पहले ही सरकार द्वारा प्रतिबंधित कर दी गई तथा डेढ़ वर्ष पश्चात जब प्रतिबंध हटा तो मूल फिल्म को काट–छाँटकर रख दिया और नाम रखा 'गरीब मजदूर'। जब इसको बनारस में प्रेमचंद ने देखा तो 'हंस' पत्रिका के एक पुराने लेखक को कहा "यह है प्रेमचंद की हत्या।"[२] प्रेमचंद आशान्वित् होकर मुंबई गए थे कि वे अपना साहित्य जनता तक इस जनसंचार के माध्यम से पहुँचा सकेंगे। शायद ऐसा प्रेमचंद इसलिए सोचते थे कि साक्षरता का स्तर नीचा है तथा लोगों में गंभीर साहित्य पढ़ने की रुचि भी कम है लेकिन, सेंसर के षड़यंत्रकारी रवैये ने ऐसा संभव नहीं होने दिया। हालाँकि जिस निर्माता ने प्रेमचंद को नियंत्रण दिया था– वे मोहन भवनानी थे। ये 'मिल' का निर्माण करने से पहले 'ड्रीमलैंड' उपन्यास पर आधारित फिल्म 'ख्वाब–ए–हस्ती' का निर्माण कर चुके थे अत: व्यावहारिक अनुभव उनको प्राप्त था तथा प्रेमचंद से संबंधित होने के कारण अत्यंत श्रम से इसको निर्मित भी किया गया लेकिन विषयवस्तु को सेंसर ने विवादास्पद माना।[३]

प्रेमचंद की एक और कृति 'सेवासदन' पर पहले हिंदी में तथा बाद में तमिल में फिल्म निर्माण हुआ। हिंदी की 'सेवासदन' में पर्याप्त से अधिक कांट–छांट हुई तथा वेश्यावृत्ति के कारण और परिणामों पर बल देकर उसको ग्लैमराइज करनेपर विशेष बल दिया। जबकि तमिल 'सेवासदन' व्यावसासिक व आलोचनात्मक दृष्टियों से सफल रही। हालांकि सफलता हिंदी *सेवासदन* को भी मिली लेकिन इसका कारण नाच–गाने थे। एक लंबे अंतराल के बाद प्रेमचंद की कहानी 'दो बैलों की कथा' पर 'हीरा–मोती' नामक फिल्म १९५९ ई. में कृष्ण चोपड़ा ने बनाई। प्रेमचंद की अन्य साहित्यिक कृतियों के आधार पर बनने वाली फिल्मों में यह काफी सफल थी। ऐसा लगता है कि बैलों के माध्यम से लेखक तत्कालीन समाज में स्वाधीनता तथा जनमानस में अंग्रेजों के प्रति बगावत के स्वर उभारना चाहता था। हालांकि समांतर कथाएँ तथा प्रसंग इसमें जोड़े गए हैं लेकिन फिल्मांकन अत्यंत सुंदर हैं। बाद में 'गोदान' पर त्रिलोक जेटली ने १९६३ में फिल्म बनाई जिसमें इस उपन्यास का महाकाव्यत्व सुरक्षित नहीं रह सका। 'गबन' को कृष्ण चोपड़ा ने एक बार फिर फिल्मांतरित करने का प्रयास किया लेकिन असामयिक मृत्यु ने इसको अपूर्ण रहने दिया। लेकिन कृष्ण चोपड़ा इतनी अच्छी पटकथा लिख चुके थे कि बाद में ऋषिकेश मुखर्जी ने फिल्म को पूरा किया।

फिल्मी दुनिया के बरक्स साहित्य एक अन्य कलारूप है। अत: किसी एक का दूसरे में रूपांतरण किया जाता है तो परिवर्तन अवश्यंभावी होता है। लेकिन पर्याप्त प्रयास से यह अंतर कम किया जा सकता है। साहित्यिक कृतियों का फिल्मांतरण असंभव तो नहीं है किंतु सभी कृतियों का फिल्मांतरण कठिन अवश्य है। जैसे जैनेन्द्र के मनोवैज्ञानिक उपन्यास हो अथवा भाषाई चमत्कार वाला 'रागदरबारी'। इसके बावजूद यह नहीं कहा जा सकता कि अच्छी फिल्मों का निर्माण साहित्यिक रचनाओं पर निर्भर करता है। दरअसल ये दोनों माध्यम एक–दूसरे से स्वतंत्र है तथा यह पूर्णत: फिल्मकार के विवेक पर निर्भर करता है कि वह किस साहित्यिक कृति पर फिल्म निर्माण करे। दर्शकों को यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अगर ऐसा फिल्म निर्माण हो भी रहा तो वह व्यापारिक दवाब का नतीजा होगा फिल्मकार का साहित्यिक अनुराग नहीं।

सन्दर्भ :

१. प्रेमचंद रचनावली १९, पृ. ४४४
२. प्रेमचंद रचनावली १९, पृ. ४४४
३. मेरे साक्षात्कार : कमलेश्वर, पृ. २७७

...

भारतीय साहित्य, भाषा और सिनेमा

ऋतेष चौधरी

हिंदी वालो ने अपने अहंकार में इल्मी और फ़िल्मी जैसे मुहावरे गढ़ कर जनमानस अजीब और ग़लत समझ पैदा कर दी। फ़िल्म को घटिया और रद्दी कला मान कर ख़ारिज़ कर दिया, जब कि फिल्म पिछली सदी में उभरी ऐसी सर्वांग संपूर्ण कला है जैसी इस से पहले कभी नहीं देखी गई। कुशल निर्माता निर्देशक के हाथ से ऐसी चीज़ निकलती है जो पूरे समाज को, देश को बदल सकती है। अच्छी फ़िल्मों की संख्या कम नहीं है। जैसे हर प्रकाशित पुस्तक उच्च कोटि का साहित्य नहीं होती, वैसे ही हर फ़िल्म उच्च कोटि की नहीं होती।

–अरविन्द कुमार (संपादक : माधुरी) के ब्लॉग से

साहित्य और सिनेमा के रिश्ते की ज़ब भी चर्चा होती है, भाषाविदों में एक तरह की वैचारिक गर्मी आ जाती है। किसी साहित्यिक कृति पर बनी फिल्म को लेकर अक्सर साहित्यकारों को शिकायत रहती है कि फिल्मकार या निर्देशक ने उसकी रचना की आत्मा को मार डाला। हिमांशु जोशी ने अपनी कहानी **सुराज** पर बनी फिल्म में मनमाने बदलाव के बाद भविष्य में अपनी कहानी पर फिल्म बनाने की अनुमति देने से कान ही पकड़ लिये। हालांकि राजेंद्र यादव, जिनके मशहूर उपन्यास ***सारा आकाश*** पर इसी नाम से फिल्म बन चुकी है, मानते रहे हैं कि कहानी और उपन्यास जहाँ लेखक की रचना होती है, वहीं फिल्म पूरी तरह निर्देशक की कृति होती है। मशहूर फिल्मकार के. बिक्रम सिंह का कहना है कि साहित्य और सिनेमा के रिश्ते पर चर्चा के वक्त विवाद की असल वजह है कि दरअसल साहित्य में विजुअल आधारित सोच का विकास नहीं हुआ है, बल्कि सोच में शाब्दिकता का जोर ज्यादा है। उनका कहना है कि सिनेमा में कला, संगीत, सिनेमैटोग्राफी, कला निर्देशन जैसी कई विधाओं का संगम होता है। ऐसे में साहित्य को पूरी तरह से सेल्युलायड पर उतारना संभव नहीं होता। उन्होंने सत्यजीत रे की फिल्म ***पाथेर पांचाली*** का उदाहरण देते हुए कहा कि इस उपन्यास में जहाँ करीब पांच सौ चरित्र हैं, वहीं फिल्म में महज दस–बारह। उन्होंने श्रीलंका के मशहूर उपन्यासकार लेक्सटर जेंस पेरी का उदाहरण देते हुए कहा कि उनके उपन्यास ***टेकावा*** पर जब फिल्म बनी और उनसे प्रतिक्रिया पूछी गई तो पेरी ने कहा था कि उपन्यास उनका है, जबकि फिल्म निर्देशक की है। उन्होंने रवींद्र नाथ टैगोर के हवाले से कहा कि सिनेमा कला के तौर पर तभी स्थापित हो सकेगा, जब वह साहित्य से छुटकारा पा लेगा। हालांकि मशहूर फिल्म

अतिथि प्रवक्ता, पत्रकारिता व जनसंचार संस्थान, लखनऊ वि.वि., लखनऊ, मो. ०९९३६८२५६८९

समीक्षक और कवि विनोद भारद्वाज ने रवींद्र नाथ टैगोर की कहानी **चारूलता** का उदाहरण देते हुए कहा कि अच्छे साहित्य पर अच्छी फिल्में बनाई जा सकती हैं। जिस पर सत्यजीत रे ने बेहतरीन फिल्म बनाई है। विनोद भारद्वाज ने शारत चंद्र के उपन्यास **देवदास** पर बनी विमल राय की फिल्म **देवदास** और अनुराग कश्यप की **देव डी** का उदाहरण देते हुए कहा कि एक ही कृति पर अलग–अलग ढंग से सोचते हुए अच्छी फिल्में जरूर बनाई जा सकती हैं। उनका सुझाव है कि साहित्यकारों को यह सोचना चाहिए कि महान साहित्यिक कृतियों के फिल्मांकन के वक्त छेड़छाड़ उस कृति की महानता से छेड़छाड़ नहीं है। साहित्यिक कृतियों पर बनने वाली फिल्मों की रिलीज के बाद साहित्य और सिनेमा के रिश्तों में आने वाली तल्खी का ध्यान फ्रेंच फिल्मकार गोदार को भी था। यही वजह है कि वे अच्छी और महान कृति पर फिल्म बनाने का विरोध करते थे। वैसे सिनेमा और साहित्य के रिश्ते को समझने के लिए फिल्म एवं टेलीविजन संस्थान, पुणे के पूर्व निदेशक त्रिपुरारिशरण नया नजरिया देते हैं। उनका कहना है कि चूंकि साहित्य का जोर कहने और सिनेमा का जोर देखने पर होता है, लिहाजा भारत में दोनों विधाओं के रिश्तों में खींचतान दिखती रही है। उनका मानना है कि चूंकि यूरोप में कहने और देखने का अनुशासन विकसित हो चुका है, लिहाजा वहां साहित्य और सिनेमा के रिश्ते को लेकर वैसे सवाल नहीं उठते, जैसे भारत में उठते हैं। त्रिपुरारिशरण के मुताबिक यही वजह है कि भारत में प्रबुद्ध सिनेकार महत्वपूर्ण रचनाओं को छूना तक नहीं चाहते। उनका सुझाव है कि सिनेमा और साहित्य असल में दो तरह की विधाएं हैं, लिहाजा उनके बीच तुलना होनी ही नहीं चाहिए।

साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंधों और अंतर्विरोधों के संबंध में कुछ जाने–माने साहित्यकारों और फिल्मकारों की राय जानने को मिली तो मामला सुलझा नहीं, कुछ और ही उलझ गया। ***मजदूर*** (प्रेमचंद) और मार्खेज के नोबेल पुरस्कार प्राप्त उपन्यास 'वन हंड्रेड इयर्स ऑफ सॉलीच्यूड' से लेकर ***मोहनदास*** (उदय प्रकाश) और ***अनवर*** (प्रियंवद) के फिल्मांकन प्रसंगों की कहानियां एक सी नहीं, अलग–अलग हैं। साहित्य साहित्यकार की एकांकी और मनोगत कृति होता है जबकि फिल्म सामूहिक और बर्हिगत समुच्चयीकरण। फिल्मों के ग्लैमर और पैसे और पहुंच से कौन–सा साहित्यकार उसकी ओर आकर्षित नहीं होता। कइयों ने तो अपने नाम से जुड़ी फिल्मों में अंशत: अभिनय भी किया, यथा 'मजदूर' में प्रेमचंद 'विदेशिया' में भिखारी ठाकुर, 'प्रेम पुजारी' में नीरज, 'तमस' सीरियल में भीष्म साहनी आदि। शुरू–शुरू में प्रेमचंद को लगा था, कुछ न कुछ अवश्य कर डालेंगे। उन्होंने जैनेंद्र जी को भी फिल्म के लायक कहानी भेजने, यानी इस माध्यम का इस्तेमाल करने का सुझाव दिया था लेकिन 'अजंता सिनेटोन' के निर्माता–निर्देशक मोहन भवनानी के लिए उत्साह से काम करने का उत्साह एक ही वर्ष में काफूर हो गया। प्रेमचंद के अनुसार 'साहित्य ऊँचे भाव, पवित्र भाव अथवा सुंदरम् को सामने लाता है। पारसी ड्रामे, होली, कजरी, बारहमासी चित्रपट आदि साहित्य नहीं हैं क्योंकि इन्हें सुरुचि से कोई प्रयोजन नहीं है। सिनेमा में वही तमाशे खूब चलते हैं जिनमें निम्न भावनाओं की विशेष तृप्ति हो। साहित्य दूध होने का दावेदार है, जबकि सिनेमा ताड़ी या शराब की भूख को शांत करता है। साहित्य जनरुचि का पथ–प्रदर्शक होता है, उसका अनुगामी नहीं सिनेमा जनरूचि के पीछे चलता

है। साहित्य और सिनेमा का मेल कठिन है। हिंदी के कई साहित्यकार सिनेमा की उपासना में लगे है। देखना है कि सिनेमा इन्हें बदल देता है या ये सिनेमा की काया—पलट कर देते हैं।' यह उक्ति संभवत: १९३४ की है. 'मजदूर' की अच्छी ख्याति के बावजूद सेंसर के इतने अवरोध आए कि अंतत: मोहन भवनानी साहब को 'अजंता सिनेटोन' कंपनी ही बंद कर देनी पड़ी। अपने गिरते स्वास्थ्य, पारिवारिक दूरी और फिल्मों से अपनी प्रत्याशा पर ठेस खाए प्रेमचंद बनारस लौट आए। उद्देश्यों में एक उद्देश्य यह भी था कि अपनी दोनों पत्रिकाएं 'हंस' और 'जागरण' को (फिल्म से मिले पैसों से) बंद होने से बचा लेंगे। लेकिन हुआ वही जो महाभारत के **शांति पर्व** में कहा गया है– 'असत् का अंत होता है और सत् का भी अंत होता है, बचता कुछ नहीं।' अजंता सिनेटोन, मिल—मजदूर, 'हंस', 'जागरण' सब बंद हुए, स्वयं प्रेमचंद का दो वर्षोपरांत मात्र ५६ वर्ष की आयु में देहांत हो गया। प्रेमचंद को इतना कम समय मिला कि उन पर 'अतिवाद' का कोई इल्जाम नहीं लगाया जा सकता, वैसे उनकी प्राथमिकताएं भी अलग थीं और वे पूर्णत: गलत भी न थे। लेकिन इसी साहित्य और सिनेमा की दुनिया में समान दखल रखने वाले गुलजार का कुछ और मानना है। गुलजार धारा को मोड़ देने वाले थे उसे अपने पीछे—पीछे आने को बाध्य करने की अपेक्षा धारा के साथ—साथ बहने को ज्यादा वरीयता देते हैं। उन्हें व्यावसायिक हिंदी सिनेमा में कोई खोट नजर नहीं आता, उसके नकली चरित्र, नकली परिवेश और उनकी नीम चालाकियां भी, कहते हैं, 'मुझे मिसाल के तौर पर बताइए कि कौन—सी फिल्में हैं जो आज के समाज से रिलेट नहीं कर रहीं' मुझे लगता है, आप अपने उसी मिडिल क्लास वाले ५० और ६० के दशक के दायरे में सिनेमा देखने के आदी हैं। आप उसके बाहर आने को तैयार नहीं है जबकि सच ये है कि आज की तमाम जिंदगी हमारे सिनेमा में आ रही है। गुलज़ार ने परिवर्तन को स्वीकार करते हुए लिखा, *'न लिहाफ—न गिलाफ—ठंडी हवा भी खिलाफ— ससुरी, इतनी सर्दी है—किसी का लिहाफ ले ले, जा पड़ोसी के चूल्हे से आग ले ले; बीड़ी जलइले जिगर से पिया, जिगर में बड़ी आग है।* ये साहित्यिक भाषा नहीं है लेकिन आम जनता के बीच इस भाषा को खूब सराहना मिली। इस गीत की पंक्ति पर वे लोग भी थिरकते हुए देखे जा सकते है जिन्हें हिंदी बिल्कुल नहीं आती। वे कहते है की जब आज का व्यक्ति दिन भर भेजा उड़ाने की बात करता है तो वो ये तो नहीं गायेगा, *'ऐ दिले नादाँ...'*, वो तो यही गायेगा, *'गोली मारो भेजे में, भेजा शोर करता है'*। एक और उदाहरण लें मशहूर गीतकार शैलेन्द्र ने ऐसे गीतों की रचना की जो आम बोलचाल से मिलते थे, *'मेरा जूता है जापानी'* लेकिन फिल्म *इश्किया* तक आते आते जूते की भाषा बदली और बन गयी, *'इब्ने बतूता—पैर में जूता, पहने तो करता है* चूररर । गौरतलब है कि फिल्म 'अनोखी रात' में रौशन का संगीत, कैफी आजमी और इंदीवर के गीत थे। *'ओह रे ताल मिले नदी के जल से'* जैसे उम्दा गीत भी, जिनकी उदात्तता अपने आप में विरल थी। संजीव कुमार जैसे सक्षम कलाकार भी थे फिर भी फिल्म वह प्रतिमान नहीं कायम कर सकी जिसकी उससे अपेक्षा थी। यही आकर साहित्य और फिल्म की सीमाएं स्पष्ट होने लगती हैं। साहित्य में मात्र और मात्र साहित्यका का सृजन होता है, जबकि फिल्म में निर्देशक का सृजन ठीक वैसा ही नहीं होता, जैसा साहित्य में होता है। दो विधाओं का मामला होता है और दो व्यक्तित्वों के टकराव का भी। अक्सर दो

के बोध का स्तर भी एक–सा नहीं होता, फिर फिल्म एक सामूहिक तथा तकनीकी माध्यम है। यह एक ऐसा द्वंद्व समास है जिसके दोनों पद प्रधान होते हैं जबकि सामासिकता में साहित्य अटता नहीं, कभी वह तत्पुरुष है, कभी कर्मधारय या द्विगु और कभी–कभी तो खालिस बहुव्रीहि। अतः साहित्यिक कृतियों का सिनेमाई रूपांतरण साहित्य को नई संचारात्मक और संप्रेषण शक्ति प्रदान कर देता है। निरक्षर लोग और गैर भाषाई लोगों तक भी साहित्य की पहुँच इसके फलस्वरूप हो जाती है। यदि देखें तो हम पाते हैं कि साहित्य की रचना का मूलाधार भाषा है जबकि वही साहित्य जब फिल्मी पर्दे पर आता है तो दृश्य उसके केन्द्र में होता है। भाषाओं का भूगोल सीमित और दृश्यों का व्यापक होता है। जरूरी नहीं कि दृश्य हमेशा असीमित भौगोलिक विस्तार को संबोधित करने की क्षमता रखते हों। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। अंडमान द्वीप के कई आदिवासियों ने अपने ऊपर से उड़ते हवाई जहाज को देखा तो उन्होंने इसे विराट पक्षी के रूप में परिकल्पित किया। दृश्य यथार्थ बिम्बों के अभाव में अपना अर्थ संप्रेषण नहीं कर सकते हैं लेकिन भाषा कि तुलना में वे अधिक संप्रेष्य कहे जा सकते हैं। पहाड़, पेड़, पक्षियों के दृश्य पूरी मानवता को संबोधित कर सकते हैं लेकिन हवाई जहाज सीमित लोगों की पहुँच के चलते सीमित लोगों तक ही अपने अर्थ का प्रतिपादन करने में सक्षम होते हैं। माथे की बिंदी एक सांस्कृतिक प्रतीक होने के चलते भारत के विभिन्न भाषा–भाषी समूहों पर सहज ही अर्थ प्रकट कर सकती है परंतु पश्चिमी दुनिया के लिए उसका अर्थ व अभिप्राय लगाना कठिन होता है। संस्कृति बिम्बों के द्वारा निर्मित होती है, भाषा उनकी सहायक होती है। हिंदी साहित्य की महान कृतियों का फिल्म विधा में रूपांतरण उनकी लोकप्रियता और पहुँच को सुनिश्चित करता है। 'तीसरी कसम' फणीश्वरनाथ रेणु की महत्वपूर्ण कहानी है इसी पर बासु भट्टाचार्य ने जब फिल्म का निर्माण किया तो वह गैर हिंदी भाषियों के लिए भी सहज संप्रेष्य हो उठी। उसमें गानों ने अतिरिक्त ऊर्जा का समावेश करा दिया और उसे व्यापकता दी। अभिनय, संगीत, दृश्यांकन ने मिलकर इस कहानी का कायाकल्प कर दिया। कहानी में अनेक मार्मिक स्थल; स्टेशन पर हीरामन, हीराबाई का विछोह आदि भारतीय समाज के स्मृति पटल पर सदैव के लिए अंकित हो गए। हम देख सकते हैं कि साहित्य में भाषा संप्रेषण के लिहाज से जो कुछ छोड़ देती है, सिनेमा उस अंतराल को कुशल दृश्य संयोजन से 'कवर' कर लेता है। हाँ, इस प्रक्रिया में भाषाई स्वायत्तता में तोड़फोड़ की गुंजाईश तो बन ही जाती है।

सन्दर्भ :

- कुमार हरीश, सिनेमा और साहित्य, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९८
- रितिक राय, लमही (सिनेमा विशेषांक), जुलाई–सितम्बर, २०१०
- अरविंद कुमार का ब्लॉग http://arvindlexicon.com
- मीडिया विमर्श, त्रैमासिक पत्रिका, सिनेमा विशेषांक, दिसम्बर २०१२, भोपाल

•••

सिनेमा में स्थान और शरीर की अंत:क्रिया

दिलीप कुमार कौल

सिनेमा हमेशा से ही स्थान से संबद्ध कलारूप रहा है। तकनीकी संरचना और प्रदर्शन की दृष्टि से नगर ही इसका आधारभूत स्थान रहा है। इसकी समूची तकनीक नगरों में ही विकसित हुई है, हो रही है। फिल्मों का प्रदर्शन भी प्रमुखत: नगरों में ही होता है। किसी फिल्म में हमारा अपना नगर या कभी हमारा गांव हो तो हमें अलग ही अनुभूति होता है यद्यपि विदेशी नगरों में भी फिल्मों की कथाओं के भाग घटित होते हैं जिन्हें लोग बड़े चाव से देखते रहे हैं। फिल्म में अपना नगर, अपना स्थान देखने से जो विशिष्ट अनुभूति होती है उसी से अपने स्थान से हमारे विशेष लगाव का संकेत मिलता है। यह विशेष संबंध व्यक्तिगत स्तर पर तो होता ही है हमारे सामाजिक संबंध भी इसे आकार देते हैं। हरित समीक्षा (Ecocriticism) जो साहित्य और सिनेमा जैसे अन्य रचनात्मक माध्यमों के पर्यावरणगत आयामों का पर्यावरण संबंधी चिंताओं के परिप्रेक्ष्य में अवलोकन करती है; स्थान संबंधी अनुभवों पर विशेष ध्यान देती है।

सिनेमा के चलते हुए चित्रों में हमें अपने तात्कालिक स्थान से फिल्म में दिखाए जा रहे अन्य स्थान में ले जाने की क्षमता होती है। हमारे मस्तिष्क की संरचना ही ऐसी है कि दृश्यबोध से संबंधित इसके क्षेत्र किसी वस्तु की कल्पना मात्र से ही सक्रिय हो जाते हैं। मस्तिष्क के जिन क्षेत्रों में बोध्य निविष्टियों की व्याख्या होती है वे ही कल्पित बोध के लिए भी जिम्मेदार होते हैं। किसी फिल्म में जो कुछ भी दिखाया जाता है वह हमारे वास्तविक दृश्य बोध के अत्यंत निकट होता है जिससे हमारे मस्तिष्क पर वास्तविक दृश्यों के समान ही प्रभाव पड़ता है और इसमें ध्वनि तो दृश्य के साथ होती ही है। फिल्में देखकर रोते हुए या हंसते हुए लोग अकसर देखने को मिल जाते हैं। यों भी संसार का हमारा बोध अधिकांशत: दृश्य ही होता है। इन्द्रियों की शक्ति का परीक्षण करने के लिए दृष्टि को प्रयोगशाला में परीक्षण की स्थितियों में अन्य इन्द्रियों के साथ द्वन्द्व की स्थिति में रखा गया तो दृष्टि प्रभुत्वशाली इन्द्रिय साबित हुई। सौन्दर्य का निर्णय करने की अनेक स्थितियों में दृश्य, श्रव्य और अन्य मापकों का संयोजित उपयोग किया गया तो संयोजित बोध का पलड़ा दृश्य की ओर अत्यंत भारी होकर झुक जाता था। अत: जिस पर्यावरण का हमें बोध होता है वह व्यापक स्तर पर दृश्य है। सिनेमा जैसे दृश्य माध्यम की शक्ति इस बात

क्वार्टर नं. २७, जवाहर नवोदय विद्यालय, गणेशपुर, नई दिल्ली ३९, मो. ९९१००४७६१२

से भी साबित होती है कि अन्य इन्द्रियां जितनी भी महत्वपूर्ण हों हमारा अधिकतर बोध दृश्य ही होता है क्योंकि मानव शरीर के ७० प्रतिशत ऐन्द्रिय अभिग्राही हमारे नेत्रों में मौजूद हैं। सिनेमा हमारे शरीर की सबसे शक्तिशाली इन्द्रिय द्वारा सीधे.ग्रहण किया जाता है। व्यक्तियों के शरीर और स्थान के बिना किसी भी फिल्म की कथा संभव नहीं है और उसे नेत्रों से ग्रहण करने वाला हमारा शरीर भी किसी स्थान में ही स्थित होता है। फिल्मों में शरीर और स्थान के संबंधों के अवलोकन के अभाव में कथावस्तु के विशेषकर पर्यावरणिक आयाम पूरी शक्ति से उभर नहीं पाते जिससे सम्प्रेषणीयता की संभावनाएं बाधित हो जाती हैं, व्यापक संसार से इसके संबंध उजागर नही हो पाते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि शरीर और स्थान के संबंध को हम लगातार जीते रहते हैं और इनके सत्तापरक राजनीतिक आयाम भी होते हैं जिन्हें कुछ फिल्में बड़े ही रोचक ढंग से उभारती हैं। हाल के वर्षों में ***पीपली लाइव*** इस तरह की एक सशक्त फिल्म रही है।

फिल्मों पर बात करने से पहले 'स्थान' के स्वरूप पर थोड़ा सा विचार कर लेना उचित रहेगा। जिस स्थल पर हम रहते हैं क्या वह स्थान होता है? उस स्थल पर मौजूद सभी प्राकृतिक ईकाईयां तब तक स्थान का निर्माण नहीं कर सकतीं जब तक उस स्थल के साथ एक रिश्ता महसूस न हो अर्थात उस स्थल की चेतना हमारे भीतर न हो। अत: जिन स्थलों को 'स्थान' कहा जा सकता है वे अनगिनत हो सकते हैं। यह एक सोफे में सिमट सकता है और समूची पृथ्वी जैसा विस्तार प्राप्त कर सकता है। यह अत्यंत लचीले व्यक्तिगत, सामाजिक और भौतिक आयामों से निर्मित होता है और इनमें से कोई एक आयाम नहीं अपितु सभी इसकी संरचना के लिए अनिवार्य होते हैं। कुल मिलाकर यह (सामाजिक) स्थल, (भौगोलिक) भूमि, और स्थान चेतना से निर्मित होता है। यह प्राकृतिक तत्त्वों (आधारभूत शक्तियों), सामाजिक संबंधों (वर्ग, लिंग आदि), और अर्थ (मन, विचार, प्रतीक) का सम्मिलन होता है। स्थान से एक भौतिक स्थल का अर्थ निकलता है यद्यपि केवल भौतिक स्थल से ही स्थान का निर्माण नहीं होता। इससे व्यक्तिगत प्रभाव का भी अर्थ निकलता है अर्थात यह एक बहुत ही व्यक्तिगत स्थिति होती है जो हमारे जीवन–संसार और रोजमर्रा के व्यवहार पर आधारित होती है। यद्यपि अर्थवान स्थानों का मानसिक बोध अंशत: सामूहिक मानदण्डों के साथ–साथ भूभाग के तत्त्वों और व्यक्तिगत रुझान से निर्धारित होता है फिर भी स्थान जातिगत, राजनीतिक, सूचनागत, सांस्कृतिक और धार्मिक व्यवस्थाओं से संबंधित बहुलवादी भूगोलों से निर्मित होता है। परंतु ये निर्मितियां भी पारिस्थितिक स्तर पर उन भौतिक पर्यावरणों द्वारा मध्यस्थित होती हैं जिन्हें वे भी मध्यस्थित करती हैं। दूसरे शब्दों में स्थान हमारे आसपास के अंतराल को कोई मूल्य, कोई अर्थ देने से बनता है। अंतराल हमारे आसपास के किसी भी बिन्दु से अन्य किसी भी बिन्दु तक हो सकता है जिसे वैज्ञानिक शब्दावली में 'स्पेस' कहा जाता है। मनुष्य की चेतना इसे अर्थ दे देती है तो, यह स्थान बन जाता है।

फिल्मों में अक्सर स्थान को पृष्ठभूमि में रखा जाता है और घटनाएं अग्रभूमि में रहती हैं। स्थान को अग्रभूमि में लाने से वे सभी तत्त्व भी अग्रभूमि में आ जाएंगे जिनके बारे में ऊपर बताया जा चुका है और अर्थ की संप्रेषणीयता बढ़ जाएगी। हाल के वर्षों में ऐसी कई फिल्में बनी हैं जिनमें स्थान अग्रभूमि में है और उसी के साथ वे पर्यावरणिक स्थितियां भी जो स्थान से

जुड़ी होती है। इनमें मौसम के बदलाव हैं मानव निर्मित पर्यावरण के कई आयामों जैसे भवन निर्माण, कृषि आदि, जैसी स्थितियां हैं, प्राकृतिक स्थितियों के साथ–साथ शारीरिक प्रक्रियाओं का भी इस्तेमाल है। स्थान को अग्रभूमि में ले आने से हमारे नागरिक जीवन के दृश्य बोध में अकसर बाहर रहने वाले स्थान और पर्यावरण फिर से हमारे बोध में स्थान प्राप्त कर सकते हैं और फिल्म देखने की हमारी आदतों में बदलाव आ सकता है।

स्थान और शरीर के संबंधों का विश्लेषण करते हुए स्थान विचारक एडवर्ड कैसी ने लिखा है कि 'मेरा शरीर निरंतर मुझे स्थान में ले जाता रहता है। यह एक ही समय में स्थान में स्थित होने का कर्ता और माध्यम, अभिव्यक्तिकारक और साक्षी होता है। यद्यपि हम इसकी सही–सही भूमिका पर कभी–कभार ही ध्यान देते है लेकिन जब हम ध्यान देते हैं तो इसका महत्व सामने आ ही जाता है। अपने शरीरों की अनुकम्पा और अद्वितीय सेवाओं के बिना, हम न केवल अत्यंत दिग्भ्रमित होकर और उलझन में पड़कर स्थान में गुम ही हो जाते अपितु स्वयं स्थान की सुस्पष्ट चेतना भी हम में न होती। न ही ऐसी कोई चीज होती जिसे हम जिया गया स्थान कहते, अर्थात वे स्थान जहाँ हम जीवन जीते, इधर–उधर घूमते और अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं। स्थान की समूची रूपरेखाओं की संरचना और उसका रचना विन्यास हमारे जीवित गतिशील शरीरों के माध्यम से ही संभव हो पाता है। सिनेमा के पर्दे पर भी हमें जीवित शरीर के क्रियाकलाप ही देखने को मिलते हैं जो किसी स्थान पर ही स्थित होता है। शरीर और स्थान की अंतःक्रिया सिनेमा में कैसे अभिव्यक्त होती है इसे हम चार फिल्मों के माध्यम से देखने का प्रयत्न करेंगे। *थ्री ईडियट्स, अतिथि तुम कब जाओगे, खोसला का घोंसला* और *पीपली लाइव*।

थ्री ईडियट्स की कथा के आधारभूत संयोजन बिन्दु शरीर की प्राकृतिक क्रियाओं को केन्द्र में रखकर स्थापित किए गए हैं। इसके लिए मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं का इस्तेमाल तो किया ही गया है; स्थितियों की व्याख्या के लिए मानवेतर संसार से जुड़े रूपक भी प्रयुक्त हुए हैं जो इंजीनियरिंग संस्थान की सामाजिक पारिस्थितिकी के विघटन की अभिव्यक्ति करते हैं, जिसमें कोई भी किसी से जुड़ाव महसूस नहीं करता। कथा के मुख्य पात्र रैन्चो का प्रवेश तब होता है जब इंजीनियरिंग कॉलेज में वरिष्ठ छात्र नए छात्रों की रैगिंग कर रहे होते हैं। यह रैगिंग शरीर के साथ दुर्व्यवहार की ही प्रक्रिया है जहाँ नए छात्रों के कपड़े उतरवा कर उनसे तरह–तरह के हुक्म मनवाए जाते हैं। वरिष्ठ विद्यार्थियों से बचकर रैन्चो कमरे में घुस जाता है तो वरिष्ठ छात्र धमकी दे देता है कि दस तक गिनने से पहले वह कमरे से बाहर आ जाए नहीं तो पूरे सेमिस्टर वह रैन्चो के दरवाजे पर मूत्र विसर्जन करता रहेगा। यहाँ शारीरिक प्रक्रियाओं को, जो कि प्राकृतिक क्रियाएं भी हैं, दूसरे को परेशान और अपमानित करने के लिए इस्तेमाल करने की धमकी दी जा रही है। लेकिन रैन्चो अपनी वैज्ञानिक समझ के व्यावहारिक क्रियान्वयन की क्षमता का इस्तेमाल करके एक चम्मच के साथ बिजली का तार जोड़ कर दरवाजे के नीचेवाली झिरी से बाहर कर देता है जिसपर वरिष्ठ विद्यार्थी के मूत्र विसर्जन करते ही उसे बिजली का झटका लग जाता है। रैगिंग के माध्यम से शरीर का अपमान करने वाला व्यक्ति रैन्चो की प्राकृतिक तत्त्वों की समझ के कारण उपहास का पात्र बन जाता है। यहीं से फिल्म का मूल दर्शन स्थापित हो जाता है। जिस इंजीनियरिंग

संस्थान में ये विद्यार्थी पढ़ रहे हैं वहाँ प्रकृति और संस्कृति को अलग मानने की विचारधारा हावी है। ऐसी विचारधारा का प्रतिरोध ही हरित समीक्षा का उद्देश्य है। उस संस्थान में प्रवेश पाते ही मनुष्य के प्राकृतिक, भौतिक अस्तित्व को तकलीफ सहनी पड़ती है और उसके प्रतिवाद को कोई नहीं सुनता। पारिस्थितिक विचारक टिम हेवर्ड ने लिखा है कि केवल उसी संस्कृति में प्रकृति के प्रतिवादों को सुने जाने की संभावना होती है जिसमें मनुष्यों को एक दूसरे की बात सुनने की आदत हो। प्रख्यात हरितनारीवादी (Ecofeminist) वाल प्लमवुड ने भी कहा है कि पारिस्थितिक विवेक वाला समाज उस जगह नहीं बनाया जा सकता जहाँ मानवीय न्याय और संप्रेषणीयता के लिए आवश्यक राजनीतिक संरचनाओं और संस्कृति का अभाव हो। यही बात प्रकृति पर भी लागू होती है। पारिस्थितिक विचारधारा का आधार यह है कि संसार में प्रत्येक वस्तु एक दूसरे पर आश्रित है। "थ्री ईडियट्स" में दिखाए गए इंजीनियरिंग संस्थान में इस विचारधारा का अभाव है।

इस संस्थान के डायरेक्टर वीरू सहस्रबुद्धे से ही संसार की वस्तुओं को हीन और श्रेष्ठ में बाँटने वाली विचारधारा का संचार होता है। विभेद की मानसिकता यहीं से आरम्भ होती है। हर सत्ताधारी की तरह वे भी मनुष्यों के बीच विभेद को न्यायसंगत ठहराने के लिए जो विमर्श तैयार करते हैं उसे प्राकृतिक तथ्यों से सजाते हैं। यह विमर्श वे हर वर्ष फर्स्ट इयर के छात्रों के सामने दोहराते हैं। एक घोंसले में कोयल पक्षी का मॉडल लेकर वे जाते हैं और छात्रों के सामने भाषण देते हैं कि कोयल अपने अंडे दूसरों के घोंसले में देती है। बच्चे जब इस दुनिया में आते हैं तो दूसरे पक्षी के अंडों को धक्का मारकर घोंसले से गिरा देते हैं। इस बिन्दु पर सहस्रबुद्धे एक वास्तविक अंडा नीचे गिराकर फोड़ देते हैं और क्लोज शॉट में फूटा अंडा दिखता है और सहस्रबुद्धे का भाषण चलता रहता है। वे कोयल के बच्चों के इस कर्म को स्वयं कर के दिखाते हैं।

परन्तु स्थिति केवल अंडा फोड़ने तक सीमित नहीं है। इसके पारिस्थितिक अर्थ तब स्पष्ट हो सकते हैं जब इस बात पर ध्यान दिया जाए कि अंडा कहाँ से प्राप्त किया गया। कोयल, जैसा कि सहस्रबुद्धे कहते हैं, दूसरे पक्षी के घोंसले में अंडा देती है। सहस्रबुद्धे इसी दूसरे पक्षी का अंडा लाए हैं और जैसा कि फिल्म की स्थितियों से पता चलता है वे हर साल अंडा फोड़ते हैं। अर्थात कोयल तो दूसरे पक्षी का अंडा फोड़ती ही है सहस्रबुद्धे भी एक अंडा फोड़ देते हैं। कोयल की यह प्राकृतिक प्रवृत्ति है जिसके गुणसूत्रीय (genetic) कारणों को समझने के लिए विश्व भर में शोध हो रहे हैं। परन्तु सहस्रबुद्धे इससे अपनी सत्ता को स्थापित करने वाला अभिजातवादी विमर्श तैयार करते हैं। वे प्रकृति का इस्तेमाल अपनी अभिजातवादी संस्कृति को स्थापित करने के लिए करते हैं और फिल्म की कथाधारा में प्रकृति और संस्कृति के द्वित्व की मानसिकता का प्रतिनिधित्व करते हैं। सृष्टि की सभी वस्तुओं के अन्योन्याश्रित होने पर आधारित पारिस्थितिक विचारधारा से उन्हें मतलब नहीं है। वे संस्कृति के लिए प्रकृति को कुरबान करने वाली मानसिकता के हिमायती हैं। इसके विपरीत रैन्चो प्रकृति को निर्धारक शक्ति मानता है चाहे वह व्यक्ति की आंतरिक प्रकृति ही क्यों न हो!

फूटे अंडे के साथ ही वे कहते हैं, "Competition over- The life begins with

murder- That is nature- Compete or die...!'' इस दर्शन के साथ उनकी एकात्मता की दृश्य–अभिव्यक्ति उनके अंडा फोड़ने से होती है। यही दर्शन फिल्म की कथा के द्वन्द्व का भी आधार है। अंडा फूटने का यह छोटा सा दृश्य फिल्म के कथात्मक आख्यान का सबसे महत्वपूर्ण दृश्य है क्योंकि यही उन स्थितियों का आधार है जिनके प्रतिरोध में रैन्चो खड़ा है। यही उस स्थिति का दृश्य प्रतिनिधायन है जिसके आधार पर सहस्रबुद्धे कहते हैं कि हर वर्ष उनके इंजीनियरिंग संस्थान में चार लाख आवेदन पत्र आते हैं जिनमें से केवल दो सौ चुने जाते हैं। वे इन्हीं चुने हुए छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि वे भी कोयल की तरह ही हैं जो दूसरों को धक्का मारकर उस संस्थान में पहुंचे हैं। वे अस्वीकृत आवेदनों को बिखेरते हुए कहते हैं, ''These are all finished broken eggs...'' संसार उनके लिए सीमित हो गया है। जो उनके संस्थान में न आ पाया बेकार फूटा हुआ अंडा हो जाता है। यह मनुष्य के भौतिक अस्तित्व अर्थात शरीर को हीन समझने वाली और तथाकथित बौद्धिक क्षमताओं को श्रेष्ठ मानने वाली विचारधारा है। प्रकृति–संकृति के बाद यह दूसरे प्रकार का अर्थात शरीर–बुद्धि का द्वित्व है। सहस्रबुद्धे का व्यक्तित्व स्पष्ट करता है कि प्रकृति और संस्कृति का द्वित्व कई तरह के द्वित्वों का निर्माण करता है।

चतुर रामलिंगम वीरू सहस्रबुद्धे का विस्तार है। जहाँ सहस्रबुद्धे में शरीर को हीन और बुद्धि को श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति सूक्ष्म स्तर पर है वहीं चतुर में इसी प्रवृत्ति की स्थूल अभिव्यक्ति है। शारीरिक प्रक्रियाओं को वह हीन समझता है और असाधारण बौद्धिक दिखने का प्रयत्न करता है। उसे पेट में गैस की तकलीफ है जिसके लिए वह कोई चूर्ण खाता है लेकिन गैस है कि जाने का नाम ही नहीं लेती। वह हमेशा कहता है कि गैस पास बैठे किसी अन्य व्यक्ति ने छोड़ी है चतुर ने नहीं अर्थात गैस छोड़ने वाला हीन है जबकि यह एक सामान्य शारीरिक समस्या है। शारीरिक प्रक्रियाओं को हीन मानने के पीछे शरीर को हीन मानने की प्रवृत्ति है क्योंकि उनकी चेतना से आभिजात्य भंग होता है। शारीरिक प्रक्रियाओं से जुड़ी ऐसी स्थितियों का अंकन कई फिल्मों में हुआ है जिससे मात्र भावनाओं का खेल माने जाने वाले सिनेमा में भौतिक शरीर की उपस्थिति के अंकन को बल मिला है जिससे सिनेमा के निर्माण और उसे देखने के तरीके में बदलाव का संकेत मिलता है।

अतिथि तुम कब जाओगे में लंबोदर चाचा को भी पेट में गैस की तकलीफ है परंतु 'वायु प्रवाह' को लेकर वे किसी वर्जना के शिकार नहीं है। पेट में गैस की तकलीफ के माध्यम से शरीर और स्थान के संबंधों की रोचक अभिव्यक्ति इस फिल्म में हुई है। गांव के खुले वातावरण से लंबोदर चाचा आए हैं जहाँ गोबर और चूल्हों के धुंए की गंध के बीच एक व्यक्ति द्वारा किए गए वायु विसर्जन का कोई महत्व नहीं है। परंतु मुंबई के महानगरीय वातावरण में बने फ्लैट में रह रहे पुनीत और मुनमुन को लंबोदर चाचा के वायु प्रवाह से समस्या हो जाती है। फ्लैट के मानव निर्मित पर्यावरण के बीच शारीरिक प्रक्रियाओं को लेकर उन्मुक्तता नहीं होती। ऐसी प्रक्रियाएं वहाँ बन्द बाथरूम में होती हैं जहाँ बदबू को दबाने के लिए अनेक प्रसाधनों का प्रयोग होता है। गाँव में कोई व्यक्ति गरारे करता है तो ऐसा वह खुले में करता है जिससे आवाज गूँजती नहीं

है। लेकिन फ्लैट में लंबोदर चाचा गरारे करते हैं तो ऐसी भयंकर आवाज निकलती है कि पुनीत और मुनमुन जाग जाते हैं और उनका बच्चा घबराकर रोने लगता है। सीमेंट से बनी और पेंट की गई चिकनी दीवारें गरारे की आवाज को गुंजाकर उसे भयंकर बना देती हैं। महानगरीय फ्लैटें के सीमेंटी निर्माण की दृश्य अभिव्यक्ति अनेक फिल्मों में देखने को मिल जाती है लेकिन एक ग्रामीण चरित्र द्वारा किए गए शारीरिक कर्म के माध्यम से ग्रामीण और नागरिक स्थानों के विभेद की यह श्रव्य अभिव्यक्ति बेजोड़ सिनेमाई अनुभव की सृष्टि करती है। यहाँ चरित्र, स्थान, दृश्य और ध्वनि का अनोखा संगम देखने को मिलता है जो उस ग्रामीण पर्यावरण को भी महानगरीय दृश्य का हिस्सा बना देता है जिसकी उस दृश्य में उपस्थिति ही नहीं है। स्थान और शरीर के संबंध का यह विलक्षण सिनेमाई उपयोग है। इससे पता चलता है कि लंबोदर चाचा को जो गैस की तकलीफ है फिल्म में उसका उपयोग मात्र हास्य की सृष्टि के लिए नहीं हुआ है। पेट में गैस के कारण जिन स्थितियों का निर्माण फिल्म में होता है उनके पीछे ऐन्द्रिय अनुभवों की संवेदनशील समझ है। कोई भी आदमी पेट से गैस निकालता है तो हमारा बोध उसे पाचन संस्थान में मौजूद मल से जोड़ता है। इसलिए उसके साथ नकारात्मक भावनाएं जुड़ी होती हैं जिनके कारण हम उसकी गंध के साथ अनुकूलन नहीं कर पाते। शोध से पता चला है कि जिन लोगों को गंध से संबंधित नकारात्मक सूचनाएं दी गईं उन्हें अनुकूलन करने में कठिनाई हुई जबकि सकारात्मक सूचनाएं प्राप्त करने वालों ने आसानी से अनुकूलन कर लिया। गांव से आए व्यक्ति का मानवेतर संसार विशेषकर पशुओं से आत्मीय संबंध होता है इसलिए गोबर की गंध उसके लिए नकारात्मक नहीं होती। गोबर की गंध के साथ अनुकूलन करने वाले के लिए मनुष्य का वायु प्रवाह कोई समस्या नहीं हो सकता। गंध के स्रोत के विषय में हम जो निर्णय लेते हैं वे इस बात पर निर्भर करते हैं कि उस स्रोत के बारे में हम कितना जानते हैं। फ्लैट में जो मध्यवर्ग निवास करता है वह अपने तात्कालिक स्थान अर्थात घर से दुर्गंध को यथासंभव दूर रखना चाहता है। फ्लश लगे बाथरूम की नियमित सफाई करके उसे दुर्गंधरहित रखा जाता है। गाँव में शहर के मुकाबले गंधों का अनुभव व्यापक होता है जबकि शहर में उसे सीमित करके रखा जाता है। फिल्म में 'वायु प्रवाह' की स्थिति की अभिव्यक्ति को जितना गहन बनाया गया है उससे शरीर के स्थानों से संबंध के आयाम खुलते जाते हैं। शायद ही किसी फिल्म में मनुष्य के शरीर में से वायु प्रवाह की ध्वनि रखी गई है। निर्देशक ने जैसे भी संभव हो सका है गंध को स्थापित करने की कोशिश की है जिसके लिए ध्वनि एक महत्वपूर्ण उपकरण है। विभिन्न शोधों से इस बात की पुष्टि हुई है कि लोग सहज ही ध्वनि को उसके उतार–चढ़ाव की मात्रा के आधार पर गंधों से सही–सही जोड़ लेते हैं। यहाँ लंबोदर चाचा के पेट से हुए वायु प्रवाह की ध्वनि सहज ही दुर्गन्ध से जुड़ जाती है। दृश्य के माध्यम से भी गंध को स्थापित किया गया है जब मुनमुन 'वायु प्रवाह' की दुर्गंध को दबाने के लिए रूम फ्रेशनर के कैन पर कैन खाली करती जाती है। रूम फ्रेशनर नगरीय बाजार की वस्तु है जिसे खरीद कर हम अपने पर्यावरण में उस गंध को स्थापित कर सकते हैं जिसके साथ हमारा अनुकूलन हो सके। यहीं नगर और गाँव के पर्यावरण के विभेद के साथ–साथ स्थानों के रूप में भी उनका अंतर सामने आता है। एक मामूली सी दिखने वाली सिनेमाई स्थिति

में शरीर और स्थान की अंत क्रिया के साथ कितने पर्यावरणिक और स्थानगत अर्थों को अभिव्यक्त कर सकती है यह इसका एक अच्छा उदाहरण है। इससे अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में सिनेमा की शक्ति सामने आती है।

खोसला का घोंसला का आरंभ ही खोसला साहब के पेट में गैस होने से होता है। वे सपना देखकर जाग जाते हैं और साथ लेटी पत्नी से कहते है, ''तीस साल से रिक्वेस्ट कर रहा हूँ कि रात को राजमा मत दो। हो गई ना गैस।'' इस एक संवाद से ही उनका मूलभूत स्थान यानी घर उनके विवाहित जीवन के तीस वर्षों के इतिहास और रोजमर्रा की प्रक्रियाओं के साथ फिल्म में स्थापित हो जाता है। यहाँ एक खास किस्म के भोजन के शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव के माध्यम से शरीर और स्थान की अंत:क्रिया को उभारा गया है। भोजन पकाने से उनकी पत्नी जुड़ी हैं जिससे उनकी भी स्थान से अंत:क्रिया रेखांकित होती है। परंतु वे एक बड़ा घर चाहते हैं क्योंकि उनके बच्चे बड़े हो चुके हैं। वह घर बनाने के लिए भूमि खरीदने के चक्कर में वे भूमाफिया डॉन किशन खुराना के चंगुल में फंस जाते हैं जो उनकी जिन्दगी भर की कमाई से खरीदी गई जमीन पर पहलवान बिठा कर कब्जा कर लेता है। किसी भी भूमि पर अधिकार शरीर के माध्यम से ही होता है परंतु उस पर घर बनाने वाले के पास उस भूमि से एक रिश्ता होता है, एक भावी जीवन की कल्पना होती है जबकि उसका उत्पादीकरण करने वाले का एकमात्र उद्देश्य पैसा कमाना होता है।

खोसला साहब मदद के लिए वकीलों से लेकर एन. जी. ओ. तक जाते हैं लेकिन हर कोई केवल जमीन छोड़ने के लिए माँगा जा रहा पैसा कम करवाने को तैयार होता है और ऐसा करवाने के लिए अलग से पैसे माँगता है। हार कर खोसला साहब का परिवार भी पहलवान बुलवा कर खुराना के पहलवान को भगा देता है और जमीन पर कब्जा कर लेता है। ऐसा करने का लिए खुराना साहब को जेल जाना पड़ता है तो पता चलता है कि समूची व्यवस्था ही खुराना के साथ है। उपभोग की यह संस्कृति जमीन को उत्पाद ही मानती है जिसके लिए विभिन्न तरीकों से स्थान का विघटन किया जाता है। अक्सर व्यवस्था संसाधनों को लोगों तक पहुंचने ही नहीं देती। राजनीतिक कारणों से कुछ स्थानों को प्राथमिकता दी जाती है और कुछ को वंचित रखा जाता है। खुराना साहब जैसे मध्यवर्गीय आदमी के लिए भी कोई न्यायिक या अन्य प्रकार की व्यवस्था नहीं है जो उनके स्थान को सुरक्षित रख सके। *खोसला का घोंसला* में व्यवस्था की यह प्रवृत्ति एक परिवार के स्तर पर है तो *पीपली लाइव* में इस प्रवृत्ति के सामाजिक–राजनीतिक आयामों पर बल दिया गया है। स्थिति ऐसी बना दी जाती है कि अपने स्थान से जुड़े एक व्यक्ति को अपने स्थान से ही उखाड़ कर फेंक दिया जाता है। *खोसला का घोंसला* में खोई हुई जमीन को नाटक के माध्यम से थियेटर कलाकारों की सहायता से वापस ले लिया जाता है। नाटक ए ऐसा कलारूप है जो स्थान और शरीर की अंत:क्रिया के बिना संभव ही नहीं हो सकता। रंगमं एक वास्तविक स्थान होता है जिस पर कलाकारों के वास्तविक शरीर अभिनय करते हैं। भूमाफि डॉन किशन खुराना को बेवकूफ बनाने के लिए जो नाटक रचा जाता है उसमें भाग लेने व कलाकारों के मूल स्थान के प्रभाव अद्वितीय सिनेमाई प्रभाव उत्पन्न करते हैं और स्पष्ट करते

मे शरीर और स्थान की अंत:क्रिया के साथ कितने पर्यावरणिक और स्थानगत अर्थों को अभिव्यक्त कर सकती है यह इसका एक अच्छा उदाहरण है। इससे अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में सिनेमा की शक्ति सामने आती है।

खोसला का घोंसला का आरंभ ही खोसला साहब के पेट में गैस होने से होता है। वे सपना देखकर जाग जाते हैं और साथ लेटी पत्नी से कहते है, ''तीस साल से रिक्वेस्ट कर रहा हूं कि रात को राजमा मत दो। हो गई ना गैस।'' इस एक संवाद से ही उनका मूलभूत स्थान यानी घर उनके विवाहित जीवन के तीस वर्षों के इतिहास और रोजमर्रा की प्रक्रियाओं के साथ फिल्म में स्थापित हो जाता है। यहाँ एक खास किस्म के भोजन के शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव के माध्यम से शरीर और स्थान की अंत:क्रिया को उभारा गया है। भोजन पकाने से उनकी पत्नी जुड़ी हैं जिससे उनकी भी स्थान से अंत:क्रिया रेखांकित होती है। परंतु वे एक बड़ा घर चाहते हैं क्योंकि उनके बच्चे बड़े हो चुके हैं। वह घर बनाने के लिए भूमि खरीदने के चक्कर में वे भूमाफिया डॉन किशन खुराना के चंगुल में फंस जाते हैं जो उनकी जिन्दगी भर की कमाई से खरीदी गई जमीन पर पहलवान बिठा कर कब्जा कर लेता है। किसी भी भूमि पर अधिकार शरीर के माध्यम से ही होता है परंतु उस पर घर बनाने वाले के पास उस भूमि से एक रिश्ता होता है, एक भावी जीवन की कल्पना होती है जबकि उसका उत्पादीकरण करने वाले का एकमात्र उद्देश्य पैसा कमाना होता है।

खोसला साहब मदद के लिए वकीलों से लेकर एन. जी. ओ. तक जाते हैं लेकिन हर कोई केवल जमीन छोड़ने के लिए माँगा जा रहा पैसा कम करवाने को तैयार होता है और ऐसा करवाने के लिए अलग से पैसे माँगता है। हार कर खोसला साहब का परिवार भी पहलवान बुलवा कर खुराना के पहलवान को भगा देता है और जमीन पर कब्जा कर लेता है। ऐसा करने का लिए खुराना साहब को जेल जाना पड़ता है तो पता चलता है कि समूची व्यवस्था ही खुराना के साथ है। उपभोग की यह संस्कृति जमीन को उत्पाद ही मानती है जिसके लिए विभिन्न तरीकों से स्थान का विघटन किया जाता है। अक्सर व्यवस्था संसाधनों को लोगों तक पहुंचने ही नहीं देती। राजनीतिक कारणों से कुछ स्थानों को प्राथमिकता दी जाती है और कुछ को वंचित रखा जाता है। खुराना साहब जैसे मध्यवर्गीय आदमी के लिए भी कोई न्यायिक या अन्य प्रकार की व्यवस्था नहीं है जो उनके स्थान को सुरक्षित रख सके। *खोसला का घोंसला* में व्यवस्था की यह प्रवृत्ति एक परिवार के स्तर पर है तो *पीपली लाइव* में इस प्रवृत्ति के सामाजिक–राजनीतिक आयामों पर बल दिया गया है। स्थिति ऐसी बना दी जाती है कि अपने स्थान से जुड़े एक व्यक्ति को अपने स्थान से ही उखाड़ कर फेंक दिया जाता है। *खोसला का घोंसला* में खोई हुई जमीन को नाटक के माध्यम से थियेटर कलाकारों की सहायता से वापस ले लिया जाता है। नाटक एव ऐसा कलारूप है जो स्थान और शरीर की अंत:क्रिया के बिना संभव ही नहीं हो सकता। रंगमं एक वास्तविक स्थान होता है जिस पर कलाकारों के वास्तविक शरीर अभिनय करते हैं। भूमाफि डॉन किशन खुराना को बेवकूफ बनाने के लिए जो नाटक रचा जाता है उसमें भाग लेने वा कलाकारों के मूल स्थान के प्रभाव अद्वितीय सिनेमाई प्रभाव उत्पन्न करते हैं और स्पष्ट करते

कि स्थान मनुष्य के मन को किस सीमा तक प्रभावित करता है। वास्तविक जीवन में खेले जा रहे इस नाटक में दुबई निवासी एन. आर. आई. सेठी की भूमिका कर रहे वरिष्ठ कलाकार बापू सेक्रेटरी की भूमिका कर रहे मणि के साथ रिहर्सल करते हैं तो मणि उनसे पता पूछता है। दुबई का पता बताने की बजाय उनके मुंह से निकलता है 'जोपड़ा'। इससे पता चलता है कि निवास स्थान के बारे में पूछे जाने पर व्यक्ति के मुंह से सहज ही उस स्थान का नाम निकलता है जिसके साथ रोज ही उसकी अंतःक्रिया होती है। स्थान हमारा तात्कालिक पर्यावरण भी होता है और मंजा हुआ कलाकार भी इसके प्रभावों को भुला नहीं सकता। फिल्म में सभी अपने अपने स्थानों को याद करते हैं। आसिफ इकबाल मूलतः सहारनपुर का है जिसकी पुश्तैनी जमीन खुराना ने अपने हथकंडों का इस्तेमाल करके हड़प ली थी। मणि मुगलसराय का है। मेघना दिल्ली में अकेली रहती है और उसके माता-पिता तलाक लेने के बाद बंगलौर और कलकत्ता में रहते हैं। यहाँ स्थान के रूप में दिल्ली का चरित्र भी सामने आता है जहाँ संभावनाओं की तलाश में भारत के विभिन्न स्थानों से लोग आते हैं। लोग आते हैं तो नई आवासीय कॉलोनियां बनने लगती हैं जहां नगरपालिका की सुविधाएं उपलब्ध नहीं होतीं। प्लॉटों पर दीवारें खड़ी कर दी जाती हैं जिनके साथ लगकर लोग अक्सर पेशाब करने लगते हैं। *थ्री ईडियट्स* के अंतिम लद्दाख वाले दृश्यों में चतुर भी ऐसा करता है जिसे दो बच्चे पेशाब करने के दौरान बिजली का बल्ब गिराकर सबक सिखाते हैं। बल्ब पेशाब से गीली हो चुकी जगह पर गिर कर टूट जाता है और उसमें दौड़ रहा करंट चतुर को लगता है। परंतु पर्यावरण को पेशाब की बदबू से मुक्त रखने का यह तरीका महानगरों की निर्माणाधीन आवासीय कॉलोनियों में नहीं चल सकता। इसलिए वहाँ की दीवारों पर अक्सर लिखा रहता है ''यहाँ पेशाब करना मना है।'' *खोसला का घोसला* में इस पर्यावरणिक वाक्य को एक दृश्य का हिस्सा बनाया गया है हालांकि निर्माणाधीन कॉलोनी की जिस दीवार पर यह लिखा गया है वहाँ ''पैशाब'' लिखा गया है। फिल्म में एक सामान्य शारीरिक प्रक्रिया से जुड़ा यह सामान्य सा वाक्य उस स्थल के सिनेमाई अनुभव को प्रामाणिकता प्रदान करने के साथ-साथ खुराना साहब के परिवार के तनाव को भी व्यक्त करता है क्योंकि यह वाक्य स्थल चिन्ह यानी *लैंडमार्क* नहीं हो सकता जिसके आधार पर वे अपने प्लॉट को पहचान पाते। मछलीपालन विभाग की जिस जमीन का इस्तेमाल करके खुराना से पैसे निकाले जाते हैं उसके बारे में आसिफ इकबाल से पूछा जाता है कि वहाँ मछलीपालन का दफ्तर क्यों नहीं बनाया गया? तब वह कहता है, ''सरकार के पास इन्सानों के लिए टाइम नहीं है, मछलियों का नंबर कहाँ से आएगा!'' यहाँ टिम हेवर्ड का कथन याद आता है कि केवल उसी संस्कृति में प्रकृति के प्रतिवादों को सुने जाने की संभावना होती है जिसमें मनुष्यों को एक दूसरे की बात सुनने की आदत हो।

इन्सानों की न सुनने वाली सरकार प्रकृति की भी नहीं सुनती जिससे *पीपली लाइव* में दिखाई गई स्थितियां जन्म लेती हैं। कृषि के लिए भी स्थानीय बीज नहीं विदेशी बीजों पर निर्भरता बढ़ाई जा रही है और इस प्रकार स्थान और उसके इतिहास से जुड़े स्थानीय कृषि विवेक को समाप्त किया जा रहा है। *पीपली लाइव* में किसान कहते हैं कि अमेरिकन बीज और खाद डालो और फिर भगवान से आस लगाए बैठे रहो कि पानी हो जाए। ग्लोबल बाजार के चलते बीज

और खाद विदेशों से तो आ सकते हैं मगर पानी जैसी प्राकृतिक ईकाईयों के लिए तो स्थानीय जलवायु पर ही निर्भर रहना पड़ेगा। लेकिन सिंचाई के लिए सरकार कुछ नहीं करती जिससे कि विदेशी बीज उपज दे सकें। होता यह है कि प्रकृति के नियमों और उनकी सार्वभौमिकता के स्थान पर पुलिसिया राज्य के नियम आ गए जिसने लोगों को उनके मूलभूत निवासस्थानों से उखाड़ दिया ताकि विश्व बाजार के तर्क के लिए रास्ता साफ हो सके। इसी तर्क के आधार पर कृषि मंत्री सलीम किदवई कहते हैं कि किसानों की आत्महत्याओं को रोकना उद्योगीकरण से संभव हो पाएगा। जमीन के साथ जुड़ाव उनके लिए महत्वपूर्ण नहीं है। फिल्म में प्रशासन और मीडिया के जिन लोगों का अंकन हुआ है वे प्राकृतिक पर्यावरण से अलगाव के शिकार हैं। उन्हें प्राकृतिक तथ्यों की समझ नहीं है। स्थानीय पत्रकार राकेश की सहायता से एक बड़े चैनल की पत्रकार नन्दिता नत्था की बकरियों का मूवमेंट लेने की कोशिश करती है ताकि नत्था की जीवनचर्या का शॉट लिया जा सके। राकेश हाथ में पत्तों वाली एक टहनी लेकर बकरियों को चलाने की कोशिश करता है। तब बुधिया कहता है ''अरे भाई साहब, ये वो वाले पत्ते नहीं खाती हैं।'' मीडिया के लोग जानवरों की आदतों के बारे में जानने की आवश्यकता ही नहीं समझते। उन्हें तो बस स्टोरी करने से मतलब है।

लेकिन नत्था और बुधिया को अपनी पुश्तैनी जमीन अस्तित्व का हिस्सा लगती है। जमीन स्थान से अभिन्न होती है और नत्था, बुधिया के लिए वह जीवन का आधार ही है। फिल्म के आरम्भ में ही टैंपो में यात्रा कर रहा नत्था बुधिया से पूछता है, ''भैया, जमीन चली गई तो का होगा?'' बुधिया चुप रहता है लेकिन इसके बाद नत्था को उलटी हो जाती है जैसा कि बस या टैंपो में यात्रा करने वाले कुछ लोगों के साथ होता है। उलटी सड़क पर फैल जाती है और टैंपो आगे बढ़ता रहता है। यह जैसे नत्था के प्रश्न का उत्तर है। सड़क पर गाड़ियों में यात्रा कर रहे अनेक लोगों को उलटी होती है जिसे शायद ही कोई याद रखता है। ऐसा ही नत्था के साथ भी होगा। जमीन गँवा चुके अनगिनत किसानों में से वह भी एक होगा और सड़क पर गिरी उलटी की तरह स्मृति से मिट जाएगा। कैमरे के माध्यम से जमीन से उखड़ने का यह दृश्य रूपक शरीर और स्थान की अंत:क्रिया के एक त्रासद आयाम की सिनेमाई अभिव्यक्ति करता है। यहाँ भी उलटी अर्थात एक मामूली शारीरिक क्रिया को सिनेमाई अभिव्यक्ति का आधार बनाया गया है।

सरकार जिन्दा आदमी के लिए तो कुछ नहीं करती लेकिन उसके मरने पर एक लाख रूपया देती है। शरीर के अस्तित्व का नहीं बल्कि उसके नष्ट होने का महत्व है। इसीलिए नत्थ कर्जा उतारकर जमीन छुड़ाने के लिए आत्महत्या करने की सोचता है। यहाँ स्थान और शरीर संबंध का चरम बिन्दु देखने को मिलता है जहाँ स्थान शरीर से बड़ा हो जाता है। परंतु समस यहीं से आरंभ होती है। वह आत्महत्या की बात करता है तो उसके बच्चे, मीडिया और स राजनीतिबाज उसकी मृत्यु से होने वाले लाभ के बारे में सोचने लगते हैं। नत्था के लिए उस मूलभूत स्थान अर्थात घर अर्थ खोने लगता है। उसकी पुश्तैनी जमीन जिससे उसे भौगोलिक ऐतिहासिक अर्थ मिलता है, छिनने ही वाला है। सामाजिक संबंध भी समाप्त हो चुके हैं क सभी को उसकी मौत में दिलचस्पी है। उसका बेटा भी पूछता है कि वह कब मरने वाला है

में जब उसके पास कोई आत्मीय नहीं बचा है तब उसकी बकरी उसे चाटने आ जाती है। मनुष्य का संसार उसे नकार चुका है लेकिन मानवेतर संसार उसे नहीं भूला। यहीं *पीपली लाइव* का पारिस्थितिक संदेश स्पष्ट हो जाता है। जब सारी सांस्कृतिक ईकाईयां मनुष्य को नकार देती हैं तो मानवेतर संसार में जीवन का अर्थ मिल सकता है। नत्था बकरी को बाहों में भर लेता है तो पता चलता है कि उसके भीतर की आत्मीयता मरी नहीं है। पूरा मीडिया वहां मौजूद है लेकिन किसी की नजर इस पर नहीं पड़ती क्योंकि मनुष्य के अंदर या जानवर के अंदर की आत्मीयता कोई समाचार नहीं बना सकती। उन्हें नत्था की मौत से मतलब है और जब दुर्घटना में नत्था की मौत हो जाती है तो अनुभवी टेलीविजन पत्रकार नन्दिता भी इस बात की गहराई में नहीं जाना चाहती कि मृत शरीर वास्तव में नत्था का ही था या नहीं। जिस राकेश ने स्टोरी कवर करने में लगातार उसकी सहायता की उसकी कलाई पर लगा ब्रेसलेट भी उसे याद नहीं था। इससे पता चलता है कि पत्रकार जल्दी से जल्दी अपनी स्टोरी का विमर्श तैयार करने में इतना व्यस्त होता है अपने इन्द्रियों का इस्तेमाल करने की आवश्यकता ही नहीं समझता। जब कैमरा लाश की कलाई का ब्रेसलेट दिखाता है जिसे पिछले दृश्यों में मोबाइल पर बात करते हुए राकेश के मीडियम क्लोज अप शॉट में दिखाया गया है तो समूचे मीडिया का नजरिया प्रश्नांकित हो जाता है। यहां हम सोचने के लिए मजबूर हो जाते है कि रोजमर्रा की भागदौड़ में हमारा अपने स्थान, अपने पर्यावरण का बोध सीमित होता चला जा रहा है। इससे पता चलता है कि सिनेमा किस प्रकार से इन्द्रियबोध के बारे में सजग बनाते हुए हमें नए सिरे से स्थान और शरीर के संबंधों का अवलोकन करने के लिए प्रेरित कर सकता है। यह इसकी पर्यावरणिक सार्थकता का एक महत्वपूर्ण आयाम है।

पीपली लाइव में दिखाया गया है कि सत्ता का तंत्र किस प्रकार से एक स्थान को अ–स्थान (non-place) में बदल सकता है। पहले ही बताया जा चुका है कि स्थान एक ऐसा भूभाग होता है जिसमें हमारे सामाजिक संबंध घटित होते हैं और स्वाभाविक है कि इसके साथ एक रिश्ता भी महसूस होगा। सामाजिक संबंधों का एक इतिहास होता है तो स्थान का भी अपना इतिहास होगा जिसकी प्रक्रिया के दौरान स्थान में अनेक परिवर्तन आते हैं। स्थान में मौजूद सभी इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं से, वह प्राकृतिक पर्यावरण हो या मानवनिर्मित पर्यावरण जिसके अंतर्गत भवन, कृषि आदि, आते हैं स्थान को अपनी पहचान तो मिलती ही है उसमें मौजूद मनुष्य को भी स्थान के साथ संबद्ध होने के कारण एक विशिष्ट अस्मिता की अनुभूति होती है। फ्रांसीसी मानवविज्ञानी मार्क ऑगे ने कहा है कि यदि स्थान को संबंधों से निर्मित, ऐतिहासिक और अस्मिता से संबद्ध इकाई के रूप में परिभाषित किया जाए तो वह इकाई, जो न तो संबंधों से निर्मित हो न ही ऐतिहासिक हो और अस्मिता से भी उसका कोई वास्ता न हो, अ–स्थान कहलाएगी। रिचर्ड कोयनी अ–स्थान के परिक्षेत्र का विस्तार करते हुए कहते हैं कि ऐसे पर्यावरण जिनमें मनुष्यों के बीच अंत:क्रिया मात्र लाभोन्मुखी लेन–देन के लिए होती है भी अ–स्थानों के दायरे में आते हैं। इनसे जुड़े अ–स्थान वे हैं जिनकी स्थिति स्थापत्य और उनमें मौजूद सामान आत्मीयता, कार्यशीलता और देख–भाल का संकेत देते है परंतु लोगों और उनके हितों के प्रति उनकी

में जब उसके पास कोई आत्मीय नहीं बचा है तब उसकी बकरी उसे चाटने आ जाती है। मनुष्यों का संसार उसे नकार चुका है लेकिन मानवेतर संसार उसे नहीं भूला। यहीं *पीपली लाइव* का पारिस्थितिक संदेश स्पष्ट हो जाता है। जब सारी सांस्कृतिक ईकाईयां मनुष्य को नकार देती है तो मानवेतर संसार में जीवन का अर्थ मिल सकता है। नत्था बकरी को बाहों में भर लेता है तो पता चलता है कि उसके भीतर की आत्मीयता मरी नहीं है। पूरा मीडिया वहाँ मौजूद है लेकिन किसी की नजर इस पर नहीं पड़ती क्योंकि मनुष्य के अंदर या जानवर के अंदर की आत्मीयता कोई समाचार नहीं बना सकती। उन्हें नत्था की मौत से मतलब है और जब दुर्घटना में नत्था की मौत हो जाती है तो अनुभवी टेलीविजन पत्रकार नन्दिता भी इस बात की गहराई में नहीं जाना चाहती कि मृत शरीर वास्तव में नत्था का ही था या नहीं। जिस राकेश ने स्टोरी कवर करने में लगातार उसकी सहायता की उसकी कलाई पर लगा ब्रेसलेट भी उसे याद नहीं था। इससे पता चलता है कि पत्रकार जल्दी से जल्दी अपनी स्टोरी का विमर्श तैयार करने में इतना व्यस्त होता है अपने इन्द्रियों का इस्तेमाल करने की आवश्यकता ही नहीं समझता। जब कैमरा लाश की कलाई का ब्रेसलेट दिखाता है जिसे पिछले दृश्यों में मोबाइल पर बात करते हुए राकेश के मीडियम क्लोज अप शॉट में दिखाया गया है तो समूचे मीडिया का नजरिया प्रश्नांकित हो जाता है। यहां हम सोचने के लिए मजबूर हो जाते हैं कि रोजमर्रा की भागदौड़ में हमारा अपने स्थान, अपने पर्यावरण का बोध सीमित होता चला जा रहा है। इससे पता चलता है कि सिनेमा किस प्रकार से इन्द्रियबोध के बारे में सजग बनाते हुए हमें नए सिरे से स्थान और शरीर के संबंधों का अवलोकन करने के लिए प्रेरित कर सकता है। यह इसकी पर्यावरणिक सार्थकता का एक महत्वपूर्ण आयाम है।

पीपली लाइव में दिखाया गया है कि सत्ता का तंत्र किस प्रकार से एक स्थान को अ–स्थान (non-place) में बदल सकता है। पहले ही बताया जा चुका है कि स्थान एक ऐसा भूभाग होता है जिसमें हमारे सामाजिक संबंध घटित होते हैं और स्वाभाविक है कि इसके साथ एक रिश्ता भी महसूस होगा। सामाजिक संबंधों का एक इतिहास होता है तो स्थान का भी अपना इतिहास होगा जिसकी प्रक्रिया के दौरान स्थान में अनेक परिवर्तन आते हैं। स्थान में मौजूद सभी इन्द्रियग्राह्य वस्तुओं से, वह प्राकृतिक पर्यावरण हो या मानवनिर्मित पर्यावरण जिसके अंतर्गत भवन, कृषि आदि, आते हैं स्थान को अपनी पहचान तो मिलती ही है उसमें मौजूद मनुष्य को भी स्थान के साथ संबद्ध होने के कारण एक विशिष्ट अस्मिता की अनुभूति होती है। फ्रांसीसी मानवविज्ञानी मार्क ऑगे ने कहा है कि यदि स्थान को संबंधों से निर्मित, ऐतिहासिक और अस्मिता से संबद्ध इकाई के रूप में परिभाषित किया जाए तो वह इकाई, जो न तो संबंधों से निर्मित हो न ही ऐतिहासिक हो और अस्मिता से भी उसका कोई वास्ता न हो, अ–स्थान कहलाएगी। रिचर्ड कोयनी अ–स्थान के परिक्षेत्र का विस्तार करते हुए कहते हैं कि ऐसे पर्यावरण जिनमें मनुष्यों के बीच अंत:क्रिया मात्र लाभोन्मुखी लेन–देन के लिए होती है भी अ–स्थानों के दायरे में आते हैं। इनसे जुड़े अ–स्थान वे हैं जिनकी स्थिति स्थापत्य और उनमें मौजूद सामान आत्मीयता, कार्यशीलता और देख–भाल का संकेत देते हैं परंतु लोगों और उनके हितों के प्रति उनकी

संवेदनहीनता झीने परदों के पीछे से दिख ही जाती है।

इसी कारण से *थ्री ईडियट्स* में दिखाए गए इंजीनियरिंग संस्थान का अर्थ और उससे एक रिश्ता महसूस करने की संभावना अत्यंत संकुचित हो जाती है। व्यक्ति के जीवन और भावनाओं की वहाँ कोई कीमत नहीं है। इसीलिए जॉय लोबो जैसा होनहार छात्र जब समय पर अपने प्रोजेक्ट को पूरा न कर पाने के कारण डिग्री से वंचित कर दिया जाता है तो वह आत्महत्या कर लेता है। रेस में पिछड़े लोगों को सहस्रबुद्धे पहले ही फूटा अंडा घोषित कर चुके हैं इसलिए उसकी मृत्यु से उन्हें दु:ख नहीं होता। उनके लिए सामाजिक संबंधों का कोई महत्व नहीं है। व्यक्ति की पहचान उनके लिए केवल स्पर्धा में आगे होने के कारण है। इससे वह इंजीनियरिंग संस्थान स्थान के रूप में नहीं अपितु अ–स्थान के रूप में परिभाषित हो जाता है।

लेकिन प्रकृति का प्रकोप किसी भी प्रकार की सीमाओं को नहीं मानता। बेतहाशा बारिश की वजह से पूरे शहर में पानी ही पानी हो जाता है और उत्कृष्ट प्रौद्योगिकी की शिक्षा पर गर्व करने वाला सहस्रबुद्धे का संस्थान भी इससे बच नहीं पाता। सहस्रबुद्धे इस जबरदस्त बारिश में ही रैन्चो, फरहान और राजू को संस्थान से निकालने के लिए तैयार हैं क्योंकि इन्होंने सहस्रबुद्धे के कार्यालय से परीक्षा का प्रश्नपत्र चुराया है। उनकी बेटी मोना को जो कि गर्भवती है अचानक ही प्रसवपीड़ा होने लगती है। सहस्रबुद्धे फोन पर फोन करते हैं मगर इतनी बारिश हो रही है कि मोना को अस्पताल ले जाने के लिए एम्बुलैंस भी नहीं आ पाती। यहाँ प्रकृति की शक्ति का अंकन किया गया है जिसके आगे कोई भी तकनीकी विकास कुछ नहीं कर पाता। दो प्राकृतिक क्रियाओं की अपरिहार्यता भी इस स्थिति में देखने को मिलती है। जबरदस्त बारिश को रोका नहीं जा सकता और बच्चे को जन्म लेने से भी नहीं रोका जा सकता। रैन्चो और उसके साथी तुरंत ही सक्रिय हो जाते हैं और सहायता के लिए पूरे संस्थान को जगा देते हैं। इसके साथ ही संस्थान में सामाजिक संबंध सक्रिय हो जाते हैं। यह स्थिति किसी के लिए भी व्यक्तिगत लाभ और स्पर्धा की नहीं है। सब जीवन को बचाने के लिए सक्रिय हो जाते हैं और संस्थान अ–स्थान से स्थान में रूपांतरित होने लगता है। पिया अस्पताल में है और डिलिवरी कराने के लिए वेबकैम के माध्यम से रैन्चो को कम्प्यूटर पर निर्देश देती है। वह संस्थान में मौजूद उपकरणों से ही डिलिवरी के लिए आवश्यक उपकरण तैयार कर देता है और अंतत: डिलिवरी संपन्न हो जाती है। सहस्रबुद्धे प्रकृति कि ताकत को समझ जाते हैं और रैन्चो की मेधा का लोहा मान जाते हैं। मनुष्य प्रकृति का अंग है और उसकी मेधा भी प्रकृतिप्रदत्त शक्ति है। हमारे इर्द–गिर्द की सभी मानव निर्मित और प्राकृतिक वस्तुएं एक दूसरे पर आश्रित और एक दूसरे के लिए महत्पूर्ण हैं। यह बात समझी जाए तो पारिस्थितिक विचारधारा का विकास हो सकता है। सहस्रबुद्धे इस बात को भी समझ जाते हैं और पैदा होने के बाद लात चलाने की प्रवृत्ति के चलते अपने नाती को फुटबालर या जो भी वह चाहे बनने का आशीर्वाद देते हैं।

इन चार फिल्मों से पता चलता है कि हिन्दी फिल्मकार में मनुष्य की छोटी से छोटी और सामान्यत: अवांछित मानी जाने वाली शारीरिक क्रियाओं को भी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर शरीर और स्थान के संबंधों को उजागर करने की प्रवृत्ति उभर रही है। हम सब भी इस

प्रकार की विचारधारा अपना लें तो इस संसार को चिरकाल तक हम सबके आधारभूत स्थान के रूप में बनाए रखा जा सकता है।

सन्दर्भ :

१ p.241, Neuroaesthetics: Foundations and Frontiers in Aesthetics, Ed. Martin Skov, Oshin Vartanian, Baywood publishing Company Inc., 2009,

२ P.32, Environmental Aesthetics: Ideas, Politics and Planning, John Douglas Porteus, Psychology Press, 1996

३ P.77, The Shape of Green, Aesthetics, Ecology and Design, Lance Hosey, Island Press, 11, Jun, 2012.

४ P.59-60, Writing For an Endangered World, Lawrence Buell, The Belknapp Press of Harvard University Press 2001.

५ P.48, Getting back into Place: Toward a renewed understanding of the Place World, Edward S. Casey, Indiana University Press,1993

६ P.209, Ecological Thought: An Introduction, Tim Hayward, Wiley Blackwell, 1995.

७ P.73, Environmental Culture: the ecological crisis of reason, Val Plumwood, Routledge, 2002.

८ P.245,Chemical Senses, Vol.30, Suppl.1, Oxford University Press, 2005, (http://chemse.oxfordjournals.com)

९ P.3013, The Journal of Neuroscience, February 24, 2010-30(8).

१० P.106, Ecofeminism, by Maria Mies, Vandana Shiva, Rawat Publications, 2010.

११ P.77-78, Non Places; Introduction to an anthropology of supermodernity, by Marc Augé, Trans. John Howe, Verso Books, 1995

१२ रिचर्ड कोयनी का लेख; Techne : Research in Philosophy and Technology, Spring 2007, Volume 10, Number 3 e journai में

...

सिनेमा और रंगमंच : चेतना और चुनौतियाँ

सी. भास्कर राव

यह विषय अपने—आप में जितना रोचक है, उतना ही गंभीर भी। जितना सारगर्भित है, उतना ही सार्थक भी। शायद यही सही होगा कि इन दोनों कला—रूपों को एक—दूसरे के सामने रखकर पड़ताल करने से पहले यह सोचा जाय कि दोनों के बीच ऐसा क्या है, जो इस तरह के विषय और विचार का आधार बनता है। सबसे पहले और सबसे स्थूल रूप में जो बात समान धरातल पर दिखती है, वह है उनका दृश्यत्व। यानि बिना किसी विवाद के दोनों ही अंतिम रूप में दृश्य माध्यम हैं। जाहिर है कलारूप की दृष्टि से भिन्नता के बावजूद दोनों में दृश्यतत्त्व समान है। यह एक बड़ा आधार बनता है कि उनके परस्पर संबंध और अंतर को जानने और समझने का। हम बिना किसी दृश्य के सामान्यत: न तो किसी नाटक की कल्पना कर सकते हैं और किसी सिनेमा की ही। रंगमंच और सिनेमा में दृश्यविहीनता का कोई मानी ही नहीं है। निस्संदेह दोनों ही माध्यम अपने दृश्यत्व की वजह से एक—दूसरे से प्रभावित भी होते हैं और एक—दूसरे को प्रभावित भी करते हैं। दोनों ही अपने में स्वतंत्र और पूर्ण कलाएं मानी जाती हैं। फिर भी दृश्य—विधान एक—दूसरे को जोड़ता है और यही वह सबसे ठोस आधार है, जो भिन्नता में भी उनकी समानता को प्रमाणित करता है। इसलिए देखने की आवश्यकता इस रूप में सामने आती है कि अपनी चेतना के धरातल पर उनमें कितनी समानता है और चुनौतियों के स्तर पर उनमें मूलभूत अंतर क्या है, जो उनके स्वतंत्र अस्तित्व का प्रमाण बनता है।

सिनेमा आधुनिक युग की एक तकनीकि देन है और रंगमंच एक प्राचीन युग की कलात्मक देन है। रंगमंच की प्राचीनता को चुनौती नहीं दी जा सकती है। लगभग प्रत्येक देश में रंगमंच की प्राचीनता प्रमाणित है। वह एक आदि कलारूप है। कहा जा सकता है कि अन्य कलारूपों का विकास ही कालांतर में रंगमंच के आधार पर हुआ है। हमारे देश में जो सबसे प्राचीन और प्रमाणिक ग्रंथ मिलता हैं, वह है भरतमुनि का नाट्यशास्त्र। देश के लगभग अन्य सभ

ख्यात कथाकार व रंगकर्मी, एयरबेस कॉलोनी, कदमा, जमशेदपुर, झारखण्ड, मो. ०९४३१३७३९२१

कलारूपों के सम्यक विकास की जानकारी इस ग्रंथ के प्रणयन के बाद ही मिलती है। इसलिए कि इस ग्रंथ में नाट्यकला के साथ अन्य लगभग सभी महत्वपूर्ण भारतीय कलारूपों का उल्लेख मिलता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि बहुत संभव है कि नाट्यशास्त्र के प्रणयन के पूर्व ही ये कलाएं अपनी विकासशील स्थिति में रही हों, पर उनका सम्यक विकास नाट्यशास्त्र के प्रणयन के बाद हुआ हो। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें नाटक और रंगमंच को किसी एकाकी कलारूप में नहीं, वरन् एक संयुक्त कलारूप में देखा गया है। नाट्यशास्त्र एक संपूर्ण नाट्यकला का आधार ग्रंथ भी है और एक संपूर्ण कलारूप का आधार ग्रंथ भी। जिस तरह नाट्य के अध्ययन के लिए नाट्यशास्त्र एक आधार ग्रंथ है, उसी तरह अन्य भारतीय कलाओं के अध्ययन के लिए भी वह एक प्रेरक ग्रंथ है। शायद ही विश्व में इतने प्राचीन काल में इतना प्रामाणिक नाट्यशास्त्र लिखा गया है। भारतीय आधार पर रंगमंच का उत्स यहीं से माना जाता है। यदि कालांतर में सिनेमा ने इसी दृश्य विधान का विकास एक तकनीकि के रूप में किया है, तो स्पष्ट है कि रंगमंच ही वह आधार है, जहाँ से सिनेमा ने इस दृश्यतत्त्व को लिया है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि सिनेमा का उद्भव और विकास आधुनिक काल में ही हुआ है। यह पारंपरिक, प्राचीन और शास्त्रीय नहीं है। फिर भी सिनेमा में ऐसे कई पक्ष मिलते हैं जिनके बिना हम रंगमंच की कल्पना नहीं कर सकते हैं। एक सुनिश्चित कथा, कुछ पात्र, संवाद–योजना और एक विशेष परिवेश आदि कुछ ऐसे पक्ष हैं, जो मूलतः रंगमंच से ही आरंभ होते हैं और कालांतर में सिनेमा जिन्हें ग्रहण करता है। सिनेमा चाहे किसी भी विषय और विधा का हो, पर उसमें ये कुछ ऐसे अनिवार्य तत्त्व हैं, जिनके बिना एक मुकम्मल सिनेमा की कल्पना नहीं की जा सकती है। एक विशाल और प्राचीनतम परंपरा तथा शास्त्रीयता के आधार पर रंगमंच ने इन पक्षों को अपनाया है और ये रंगमंच के अविभाज्य तथा अनिवार्य अंग माने जाते हैं। सिनेमा में भले ही मशीनी और तकनीकि योगदान अधिक रहा हो, पर उसने अपनी इस क्षमता का उपयोग मूल रूप से रंगमंच के इन विविध पक्षों को ही अपने ढंग से विकसित किया है। किसी भी तर्क से यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि ये पक्ष मूल-रूप से सिनेमा के निजी हैं। कलारूपों में एक अंतर्संबंध अवश्य होता है, किसी भी आधार पर उनके इस संबंध को नकारा नहीं जा सकता है, लेकिन यह जरूर कहा जा सकता है कि अन्य कलाओं की अपनी मूल प्रकृति भी होती है और अंतर्संबंध उसकी प्रकृति का विकास और विस्तार करता है और यही मूल प्रकृति कला विशेष को एक स्वतंत्र कला का दर्जा भी देती है, पर इस दृष्टि से विचार करने पर यह नहीं कहा जा सकता है कि सिनेमा ने अपने जन्म से अपनी किसी मूल प्रकृति का विकास किया हो। वस्तुतः उसने तो रंगमंच की मूल प्रकृति को अपना आधार बनाकर उसे तकनीकि रूप से बहुत सक्षम और प्रभावी बनाया है। कुल मिलाकर स्थिति यह बनती है कि सिनेमा ने जितना रंगमंच से प्रभाव और प्रेरणा ग्रहण की है उतना रंगमंच ने सिनेमा से नहीं। केवल प्रभाव और प्रेरणा तक ही बात सीमित नहीं है, बल्कि आधारभूत संरचना के लिहाज से भी उसने रंगमंच को ही अपनाया और उसके तकनीकि आयामों ने उसे रंगमंच से अलग एक स्वतंत्र कलारूप बनाया। यह बात अलग है कि आज का रंगमंच भी सिनेमा की तकनीकों का प्रत्यक्ष और परोक्ष इस्तेमाल कर रहा

है। फिर भी इस सत्य को तो अंतत: स्वीकार करना ही पड़ेगा कि रंगमंच से ही सिनेमा ने अपनी संरचना प्राप्त की है।

रंगमंच और सिनेमा में तमाम समानताओं के बावजूद एक उल्लेखनीय असमानता है। वह है अभिनय की प्रत्यक्षता और परोक्षता का आधारभूत अंतर। इस अंतर ने ही दोनों को स्वतंत्र बनाया है। इस अंतर को कोई भी आसानी से समझ सकता है कि रंगमंच पर जो कुछ होता है, वह ऐन हमारी आँखों के सामने होता है और सिनेमा में हमारा दर्शन पर्दे पर होता है। रंगमंच पर जो कुछ प्रत्यक्ष, जीवंत और सजीव है, वही सब सिनेमा में परोक्ष और पर्दे पर है, जिसे घटित होते हुए हम सीधे नहीं देखते हैं वरन, उसका फिल्मांकित और रिकॉर्डेड रूप हमारे सामने आता है। जो घटा है, या फिर जिसे एक घटना के रूप में निर्मित किया गया है, उसे कैमरे तथा अन्य तकनीकों के जरिए पर्दे पर प्रोजेक्ट किया जाता है। सिनेमा देखते हुए हम जानते हैं कि यह सच नहीं है पर उसे सच मानने का अनुभव लेकर देखते हैं, जबकि रंगमंच पर जो कुछ हमारे सामने होता है, वह एक सच होता है क्योंकि, वह ऐन हमारे सामने ही घटता है, भले ही उसके पीछे एक कथा हो, चरित्र हों और कुछ स्थितियां हों। दर्शक और रंगमंच के दृश्यों और अभिनेताओं के बीच थोड़ा सा ही फासला होता है। उनकी मंच पर मौजूदगी को हम बहुत करीब से महसूस कर सकते हैं। ठीक यही अनुभव सिनेमा के दृश्यों और पात्रों के साथ संभव नहीं है। एक तरह से रंगमंच एक सजीव माध्यम है और सिनेमा इस अर्थ में एक निर्जीव माध्यम है, पर दोनों के प्रभाव में कोई बड़ा अंतर नहीं होता है। हम सिनेमा की निर्जीवता को सजीव बनाकर देखते हैं। यही वजह है कि अपनी सजीवता के बावजूद एक नाटक प्रभावहीन हो सकता है और अपनी निर्जीवता के बावजूद एक फिल्म ज्यादा प्रभावशाली हो सकती है। मंच पर दृश्यों और पात्रों की प्रत्यक्ष उपस्थिति उनके प्रभाव की कोई गारंटी नहीं है। प्रभाव हमेशा उसके निर्माण और प्रस्तुति पर निर्भर करता है। सिनेमा की सबसे बड़ी ताकत यह है कि वह सारे व्यापार को इतना प्रभावशाली बना सकता है कि उसके छद्म या छल को भी सच से बढ़कर सच मान लिया जाय। फिर भी जिस माध्यम में अपनी संयोजना और संरचना के बावजूद दृश्य घटते हों, पात्र प्रत्यक्षत: अभिनय कर रहे हों तो उसका प्रभाव मनोवैज्ञानिक रूप में अधिक सूक्ष्म होता है। कहा जा सकता है कि मंच से उसकी सारी क्रियाओं और गतिविधियों की जो तरंगे उठती हैं वे सीधे सामने बैठे दर्शकों को स्पर्श करती हैं। यह रंगमंच की मौलिकता है।

रंगमंच पर जो अभिनय होता है वह इस अर्थ में चुनौतीपूर्ण होता है कि उसमें सिनेमा की तरह रिटेक की कोई संभावना नहीं रहती है। कहा भी जाता है कि रंगमंच के अभिनय में करो या मरो की भावना का काम करती है। एक बार जब अभिनेता मंच पर आ जाता है और जो अभिनय वह कर जाता है, वह व्यक्ति रूप से उसकी और संयुक्त रूप से समूचे नाटक की सफलता या असफलता का कारण बन जाता है। उसे लगातार अपने अभिनय में आगे ही बढ़ना होता है। इसके विपरीत सिनेमा में तब तक दृश्यों को फिल्मांकन के समय दोहराया जा सकता है, जब तक संतोषजनक परिणाम सामने न आ जाय। इसे सिनेमा की भाषा में रिटेक कहते हैं। जब तक निर्देशक अपनी अपेक्षा के अनुरूप पात्रों के अभिनय से आश्वस्त नहीं हो जाता, तब

तक रिटेक होते हैं। यह अभिनय के लिहाज से सिनेमा में अभिनय की एक बहुत बड़ी सुविधा है; लेकिन इसी वजह से वह रंगमंच पर अभिनय की तरह उतनी चुनौतीपूर्ण नहीं रह जाती है। यह भी एक कारण है कि सिनेमा के अभिनय को एक तकनीकी अभिनय माना जाता है और रंगमंच के अभिनय को अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक माना जाता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि रंगमंच पर अभिनय के लिए तकनीकों का उपयोग नहीं होता है और सिनेमा में अभिनय के लिए कलात्मकता की आवश्यकता नहीं होती। अपनी कलात्मकता के बावजूद रंगमंच पर प्रस्तुत नाटक मे अभिनय कमजोर हो सकता है और अपनी तकनीकी सुविधाओं के बावजूद एक सिनेमा में अभिनय प्रभावशाली हो सकता है।

इसी संदर्भ में यह बात भी उल्लेखनीय है कि रंगमंच की अपेक्षा सिनेमा कलाकार अपने सर्वोत्तम को प्रकट करने के लिए पर्याप्त स्पेस तो पाता है लेकिन इसी से कहीं न कहीं उसकी प्रभाविता भी बाधित होती है। गिरीश कर्नाड का भी मानना है कि रंगमंच पर जहाँ एक अभिनेता को एक ही बार में अपने चरित्र को पूरी तरह जीने का मौका मिलता है, वहीं सिनेमा में बार–बार के कट्स के कारण एक अभिनेता को कई बार अपने चरित्र के भीतर जाना और बाहर निकलना पड़ता है, जो उसे सहज–स्वाभाविक नहीं रहने देता है। एक ही चरित्र को कितनी बार कितने टुकड़ों में जिया जा सकता है, जबकि रंगमंच पर यह विवशता नहीं होती है। अभिनेता एक ही बार चरित्र के भीतर जाता है और नाटक के समाप्त होने पर ही वह चरित्र से बाहर आता है। महत्वपूर्ण यह भी है कि रंगमंच को अभिनेताओं का माध्यम माना जाता है और सिनेमा को दर्शक का माध्यम। इसका सीधा कारण यह है कि रंगमंच पर निर्देशक कभी मौजूद नहीं रहता और उसे दर्शकों तक संप्रेषणीय बनाने वाले अभिनेता ही होते हैं। सिनेमा में यह संप्रेषण अभिनेताओं से पहले और कई बार उनसे कहीं अधिक तकनीकि पक्षों पर निर्भर करता है। अभिनय और तकनीक के बीच एक बेहतर तालमेल के लिए ही निर्देशक की आवश्यकता होती है। वह फिल्म में हर समय हस्तक्षेप करता है, जबकि एक बार नाटक आरंभ हो जाने के बाद निर्देशक का हस्तक्षेप संभव नहीं हो पाता। हालांकि अब स्थिति बदल रही है। रंगमंच धीरे–धीरे निर्देशक का माध्यम बनता जा रहा है और अभिनेताओं को वह कुछ और वैसा ही कुछ प्रस्तुत करना होता है, जैसा निर्देशक चाहता है। शायद यही कारण है कि अब रंगमंच के नाटक निर्देशकों के नाम से जाने–माने जाते हैं। प्रबुद्ध दर्शक भी यह जानकर नाटक देखता है कि फलां नाटक किस निर्देशक का है! इसी तरह का एक विरोधाभास सिनेमा में यह मिलता है कि यहाँ स्टार सिस्टम के कारण निर्देशक पर अभिनेता हावी होने लगा है। सिनेमा उसके नायक के कारण अधिक देखा जाता है, बनिस्पत उसके निर्देशक के। ऐसे निर्देशक कम रह गए हैं जिनके नाम पर लोग फिल्म देखना पसंद करते हैं। जब तक कला सिनेमा का दौर बना रहा, तब तक निर्देशक का भी महत्व बना रहा। अब सिनेमा पर व्यावसायिकता हावी होती गई है और उसका श्रेय कलाकार यानी अभिनेता यानी स्टार को दिया जाने लगा है। यह रंगमंच और सिनेमा का घालमेल सा लगता है। जहाँ आज भी रंगमंच या सिनेमा अपने माध्यमों की माँग के अनुरूप होता है वहाँ अपना एक स्थायी प्रभाव अवश्य उत्पन्न करता है। इस रूप में दोनों ही माध्यमों के सामने एक बड़ी चुनौती यह भी दिखती है कि वे एक–दूसरे

का अतिक्रमण न करते हुए अपने माध्यम की मर्यादा का ख्याल रखें। प्रयोग के नाम पर माध्यमों को प्रकृति से खिलवाड़ करना, मनुष्येतर प्रकृति से खिलवाड़ करने से कम घातक नहीं है। इस खिलवाड़ के प्रतिकूल परिणामों को हम आए दिन अपने जीवन में झेलने के लिए अभिशप्त है। कम से कम कलाओं की मूल प्रकृति को बचाना, उनके स्वतंत्र वजूद को बचाना है। यह ध्यान में रखना जरूरी है कि दोनों की भाषा अलग है, व्याकरण अलग है और उनकी प्रस्तुति के साधन अलग हैं। इससे उनकी कलात्मक पृथकता और स्वतंत्रता बनी रहेगी। इस चुनौती को धत्ता बताते हुए दोनों के बीच एक भ्रम तैयार करना आसान है, लेकिन उनकी निजी पहचान को मिटाकर ही। यह न तो रंगमंच के हित में है और न ही सिनेमा के। इस हितसाधन में ही दोनों की अपनी चेतना की रक्षा भी है। प्रायोगिक चुनौतियों के नाम पर उनके बीच के कलारूप की विभाजक रेखा को तहस–नहस कर देना न कोई वास्तविक प्रयोग है, न चुनौती।

यदि हम हिन्दी सिनेमा के इतिहास को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके उद्‌भव और विकास के पीछे सर्वप्रथम और सर्वाधिक प्रभाव रंगमंच का ही रहा है। विशेषकर पारसी रंगमंच का। तब सिनेमा से कहीं अधिक पारसी नाटकों का प्रभाव दर्शकों पर था। उसे एक तरह का नशा था इन नाटकों का। वह हिन्दी–उर्दू के दर्शकों के मनोरंजन का सबसे लोकप्रिय माध्यम था। अपने आरंभिक दौर में हिन्दी सिनेमा ने इसे ग्रहण किया। रंगमंच के प्रत्यक्ष पारसी नाटक को पर्दे पर उतारने का प्रयास किया। शैली वही पारसी थियेटर वाली ही रही। सिनेमा के पास अपनी कोई शैली तब थी ही नहीं। केवल तकनीकि थी। विषय से चरित्र तक और संगीत से लेकर नृत्य तक उसे पारसी रंगमंच की ही शैली को अपनाना था। यही वजह है कि उस समय की कई कच्ची और आधी–अधूरी फिल्में पारसी नाटकों की सिनेमाई नकल ही लगती हैं। इसलिए हिन्दी सिनेमा ने अपने आरंभिक काल में पारसी थियेटर से अपनी आधारभूत संरचना प्राप्त की। बाद में उसके तकनीकि विकास ने और हॉलीवुड के प्रभाव ने उसे सिनेमा का विकास, सिनेमा की अपनी भाषा में करना सिखाया। यह भाषा क्रमशः इतनी धारदार होती गई कि इसने पारसी रंगमंच की व्यापक लोकप्रियता को भी पीछे छोड़ दिया। सिनेमा एक नया और चमत्कारी माध्यम था। दर्शकों का रुझान स्वाभाविक था। हम मान सकते हैं कि एक तरह से पारसी रंगमंच का अवसान हिन्दी सिनेमा के हित में हुआ। इसलिए कि हिन्दी सिनेमा को उसके प्रत्यक्ष–परोक्ष प्रभाव से मुक्त होकर स्वतंत्र विकास का मौका मिला। इस मौके का भरपूर लाभ सिनेमा ने उठाया। यही कारण है कि आज हॉलीवुड के बाद दुनिया का सबसे लोकप्रिय सिनेमा बॉलीवुड माना जाता है। हालांकि यह रंगमंच के विकास के लिए एक बड़ी चुनौती के रूप में भी उपस्थित होने लगा। यह कमोबेश आज भी है, पर उतना नहीं जितना होने का भय था। इस संकट से खुद को उबारने में रंगमंच को काफी संघर्ष भी करना पड़ा। इसी कवायद में रंगमंच ने एक तरफ स्वयं को अपनी जड़ों से जोड़ा तथा दूसरी तरफ लोक साहित्य का आधार लेते हुए लोकरंगमंच के रूप में भी सामने आया। सिनेमा की अपनी मूलचेतना से यह तात्कालिक संपृक्ति और लोक की ओर झुकाव ने रेडियो, सिनेमा और टी.वी. के उत्थान के दौर में भी बचाये रखा। रंगमंच की पारंपरिकता और लोकात्मकता ने उसे एक नया जीवन दिया। निस्संदेह इप्टा के रंगमंचीय आंदोलन ने उसे नुक्कड़ नाटक के रूप

में नया विस्तार दिया। हाँ, यह जरूर है कि सिनेमा के प्रभाव से मुक्त हिन्दी रंगमंच के सामने दो चुनौतियां आज मौजूद है। एक, नगरों और महानगरों तक उसका सिमटता जाना तथा गांवों और कस्बों तक उसका सम्यक विकास न हो पाना। दूसरे इप्टा जैसी संस्थाओं का दर्शकों तथा नाटकों पर पहले जैसी पकड़ न रह पाना।

भारतीय रंगमंच की एक विशिष्ट अवधारणा रही है जो अभिनय, नृत्य और संगीत के समावेश के रूप में एक संपूर्ण रंगमंच की कल्पना प्रस्तुत करती है। इस परिकल्पना को वास्तविक रूप में हिन्दी रंगमंच कायदे से विकसित नहीं कर पाया। लोकआधारित हिन्दी रंगमंच अब भी अपनी पारंपरिक पहचान बनाये हुए था लेकिन नगरीय संस्कृति उसे सिनेमा के घिसे–पिटे फॉर्मूलों की ओर घसीटने लगी। पारसी रंगमंच के समय जो सिनेमा खुद रंगमंच से प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में प्रभावित था, वही सिनेमा अब दोनों रूपों में रंगमंच को प्रभावित करने लगा था। यह एक विडंबना ही मानी जाएगी कि अभिनय, नृत्य और संगीत की जिस सम्मिलित परिकल्पना को रंगमंच की अवधारणा माना गया था, वह प्रकारांतर से सिनेमा का विषय बनता गया और रंगमंच सिनेमा की ओर तांकझांक करने लगा। एक भ्रामक धारणा फैलती गई कि जो रंगमंच सिनेमा की तरह तड़क–भड़क पूर्ण होगा, वही दर्शकों को भाएगा। इस प्रयास में हिन्दी रंगमंच काफी समय तक न तो नाटक रहा और न फिल्म बना। एक धारणा शायद यह भी बनती गई कि जो नाटक अभिनय, नृत्य और संगीत का एक कोलाज होगा, वह न तो यथार्थपरक होगा और न ही आधुनिक कहलाएगा। जबकि हिन्दी के वे नाटक ही अधिक सफल, सार्थक और स्थाई बने, जिनमें ये क्लासिक तत्व मौजूद हैं। संस्कृत नाटकों के हिन्दी रूपांतरण और मंचन में संपूर्ण रंगमंच की अवधारणा बनी रही, लेकिन हिन्दी रंगमंच ने आधुनिक समय में लगभग इसे स्वीकार नहीं किया और तब उसकी प्रतियोगिता सिनेमा से बढ़ती गई और वह किंचित पिछड़ता गया। यहीं एक विरोधाभास की ओर ध्यान दिया जा सकता है कि पहले के उलट रंगमंच पर निर्देशक हावी होता गया और सिनेमा पर अभिनेता। इस विरोधाभास का प्रतिकूल प्रभाव दोनों पर पड़ना ही था और पड़ भी रहा है। इसी तरह रंगमंच सिनेमा की तकनीकों को अपना कर एक चकाचौंध पूर्ण प्रस्तुति की होड़ में दिख रहा है और सिनेमा अभिनय, नृत्य तथा संगीत की मूलभूत रंगमंचीय अवधारणा को लेकर अधिक व्यावसायिक रूप में सफल और लोकप्रिय होता जा रहा है। अब तो करोड़ों का व्यापार करने वाली फिल्मों का अलग वर्ग बन गया है और इसी करोड़ क्लब में प्रवेश पाने के लिए जबरदस्त अफरा–तफरी मची हुई है। इस तरह के अंतरविरोधों से ही किसी भी कलारूप की अपनी निजता नष्ट होती है और उसके सामने कई चुनौतियां उभरने लगती हैं। कई बार यह चुनौती अनावश्यक रूप से अपने विकास की बजाय दूसरे की तुलना में अपने वजूद का सवाल बनकर खड़ा हो जाती है।

यह किंचित दुखद प्रतीत होता है कि अब नाटक में विषय, चरित्र, परिवेश, द्वन्द्व की जगह सेल्यूलाइड प्रभाव अधिक गहरे होने लगे हैं, जिनमें ध्वनि तथा प्रकाश, साज–सज्जा का वर्चस्व रहता है। सिनेमा के पर्दे वाला प्रभाव पैदा करने के लिए जो तकनीक अपनाई जाती है, उसका सबसे प्रतिकूल और घातक प्रभाव रंगमंच के अपने मौलिक स्वरूप पर पड़ता है। तकनीकों

का कितना भी उम्दा इस्तेमाल क्यों न किया जाय पर, उससे नाटक की नाटकीयता नष्ट होती है। भले ही वह कुछ चमकदार और चकाचौंधपूर्ण बन जाय। कई ऐसे नाटक देखने को मिलते हैं, जिनमें बकायदा मंच के बीच में, या एक ओर या फिर पर्दे का उपयोग किया जाता है और उस पर सिनेमाटिक प्रभाव पैदा किया जाता है। इससे सिनेमा का वास्तविक प्रभाव पैदा हो न हो, पर नाटक की आत्मा जरूर खंडित होती है। जिस तरह टी.वी. ने एक प्रकार से सिनेमा के सामने खुद को लगभग सरेंडर कर दिया है और वह घूमफिरकर बड़े पर्दे के सिनेमा की जगह छोटे पर्दे के सिनेमा के रूप में रूपांतरित होता जा रहा है, उस तरह रंगमंच को सिनेमा के करीब लाने की कोशिश करना रंगमंच की हत्या करना है। आज के रंगमंच के सामने सबसे बड़ी चुनौती शायद यही है कि वह खुद को इस संक्रामकता का शिकार होने से रोके। आज के सिनेमा को रंगमंच से सीधे कोई लेना–देना नहीं रह गया है। जब तक यह स्थिति रंगमंच के साथ नहीं पैदा हो जाती, तब तक वह अपने स्वतंत्र और मौलिक रूप–स्वरूप की रक्षा भी नहीं कर पायेगा। यह नहीं भूलना चाहिए कि रंगमंच कुल मिलाकर एक शास्त्रीय कला है और सिनेमा एक तकनीकी कला है। तकनीकी प्रयोगों के नाम पर रंगमंच की शास्त्रीयता से खिलवाड़ करना जायज नहीं है।

यह भी कम दुखद नहीं है कि हिन्दी के श्रेष्ठ तथा कालजयी नाटकों का रूपांतरण सिनेमा माध्यम में बहुत ही कम हो पाया है। *आधे–अधूरे* जैसे कुछ नाटकों के अलावे ऐसे कम ही नाटक मिलते हैं जिनके फिल्मांकन की एक ईमानदार तथा कलात्मक कोशिश की गई हो। कुछ मराठी नाटकों के फिल्मांकन के उदाहरण मिलते हैं। दिलचस्प है यह जानना कि तुलनात्मक रूप से प्रादेशिक सिनेमा में नाटकों का सिनेमाई रूपांतरण अपेक्षाकृत अधिक है। इसका एक कारण है कि प्रारंभ से ही हिन्दी सिनेमा ने अपने को साहित्य से कुछ अलग–थलग रखा है जबकि विदेशों में लगभग हर क्लासिक रचना को सिनेमा माध्यम में उतारा जा चुका है। भारतीय साहित्य सहित हिन्दी साहित्य मोटे रूप में सिनेमा में रूपांतरित होने से वंचित ही रहा है। जब समूचे साहित्य का परिदृश्य इतना निराशाजनक है तो हिन्दी के चर्चित नाटकों के फिल्मीकरण की बात तो और भी दूर की है। भले ही हिन्दी सिनेमा में कुछ विश्व प्रसिद्ध नाटकों के फिल्मी रूपांतरण का प्रयास किया गया हो, जैसे विशाल भारद्वाज ने किया, पर हिन्दी के सशक्त नाटकों की ओर हमारे फिल्मकारों में उदासीनता और उपेक्षा ही मिलती है। सिनेमा या टी.वी. या रेडियो एफ.एम. लोगों के बीच अधिक लोकप्रिय हैं तो रहें उसकी चिंता से रंगमंच को मुक्त रहना चाहिए और अपना विकास अपने आधारभूत स्वरूप के आधार पर ही उसे करना चाहिए। इससे दर्शकों की संख्या कम होती है तो हो पर उसे लोकप्रिय बनाने के लिए किसी तरह का समझौता करना उसके हित में नहीं होगा। हिन्दी सिनेमा में एक नया दौर दिख रहा है, जो बॉलीवुड के चिर–परिचित ढांचे से अलग जाने की एक सफल और सार्थक कोशिश में है। वहीं कहीं यह संभावना भी बनती नजर आती है कि नए, समझदार, संवेदनशील और सामाजिक सरोकारों के फिल्मकारों की दृष्टि हिन्दी कथा साहित्य और नाट्य साहित्य पर कालांतर में पड़ेगी जो उन्हें उन पर फिल्म–निर्माण के लिए भी प्रेरित करेगी। सिनेमा ने रंगमंच की चेतना को तो अपनाया पर अब उसकी चुनौती को भी स्वीकार करने की जिम्मेदारी उसी की है। सिनेमा यह जिम्मेदारी खुद नहीं समझता है तो

उसे समझाना भी उतना ही जरूरी है।

यह सही है कि इन दिनों हिन्दी में सशक्त नाटक बहुत कम लिखे जा रहे हैं। हिन्दी नाटक प्रकाशित भी कम हो रहे हैं। रंगमंच अन्य लोकप्रिय माध्यमों की तुलना में पिछड़ता प्रतीत हो रहा है, ऐसे में जो फिल्मकार हिन्दी के श्रेष्ठ उपन्यासों और कहानियों से ही दरकिनार होते जा रहे हैं, वे हिन्दी नाटकों के साथ क्या और कितना न्याय कर पाएंगे, यह एक बड़ा सवाल है। फिर भी हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अब भी एक बड़ी संख्या में नाटक मौजूद हैं जिन्हें आज भी क्लासिक वर्ग में स्वीकार किया जाता है। कम से कम इस रंगमंच को भी सिनेमा ग्रहण करता है तो वह एक बड़ी सामाजिक–साहित्यिक तथा कलात्मक जिम्मेदारी निभा सकता है। यही उसकी एक ऐसी चुनौती है, जो रंगमंच से उसकी चेतना ग्रहण करने के मूल्य के रूप में सामने आती है। इस चेतना और चुनौती के द्वारा ही रंगमंच और सिनेमा को एक–दूसरे का पूरक बनाया जा सकता है। इससे अंतरकला संबंध भी सुदृढ़ होता है। यह इसलिए भी जरूरी है कि दोनों माध्यमों की मूल संरचना एक ही है। रंगमंच का विकास जहाँ प्राचीनता और शास्त्रीयता के आधार पर हुआ है, वहीं सिनेमा का विकास आधुनिकता और तकनीक के आधार पर हुआ है।

...

हिन्दी सिनेमा का स्त्री विमर्श

आलोक पाण्डेय

हिन्दी सिनेमा या कहें तो भारतीय सिनेमा का विकास भारत में, पारसी थियेटर की बुनियाद पर हुआ। प्राचीन नाट्य परंपरा, लोक नाट्यशैलियाँ तथा संगीत नाटिकाओं आदि ने भी सिनेमा के बनने और बढ़ने में सहयोग किया। पर असर सबसे ज्यादा पारसी थियेटर का ही था। पारसी थियेटर का मुख्य उद्देश्य जनता का मनोरंजन था। सिनेमा का भी मुख्य उद्देश्य जनता का मनोरंजन ही हुआ। और चूँकि पारसी थियेटर में प्रधानता धार्मिक, मिथकीय, ऐतिहासिक कथाओं की थी, इसलिए सिनेमा ने भी अपने विषय इन्हीं क्षेत्रों से चुनें। लाइफ ऑफ जीसस क्राइस्ट से प्रेरित होकर दादा साहेब फाल्के ने सन् १९१३ में पहली मूक फिल्म 'राजा हरिश्चन्द्र' बनायी। इसके बाद भस्मासुर मोहिनी, सत्यवान सावित्री, राम वनवास, कालिया मर्दन, सैरन्ध्री, सती देवयानी, सिंहगढ़, पृथ्वीवल्लभ जैसी फिल्में बनती गयीं। इस तरह की फिल्मों के बनने के पीछे पारसी थियेटर के अलावा कुछ और भी कारण थे, जैसे –ये कहानियाँ जनमानस में पहले से ही घर बना चुकी थीं। फिल्में बेआवाज़ थीं, पर कथा परिचित होने से संवादों की कमी संकट नहीं पैदा करती थी। और चूँकि फिल्में धार्मिक थीं, इसलिए बड़ी संख्या में लोग देखने आते और फिल्म सफल हो जाती। आगे चलकर तो अनेक प्रकार की फिल्में बनने लगीं। जिसे अंग्रेजी में रेस्ट इज हिस्ट्री कहा जाता है, वैसा हुआ।

इस धार्मिक आरंभ ने हिन्दी सिनेमा में स्त्री संबंधी विशेष दृष्टि भी विकसित की। दृष्टि परंपरा से मिली थी, परवान इसने चढ़ाया। भारतीय परंपरा में दो स्त्री पात्र सबसे महत्वपूर्ण हैं। एक हैं सीता और दूसरी राधा। दोनों की सुंदरता अद्वितीय है। राधा तो हैं ही कृष्ण की सखी। जो कृष्ण का दिल चुरा ले, उसके रूप का क्या कहना। विद्यापति ने भी इसी राधा के लिए कहा, 'खन–खन नूतन होय'। और सीता को बहुत मर्यादा के साथ तुलसीदास ने भी सुंदरता की प्रतिमूर्ति बताया। 'छविगृह दीप शिखा जनु बरई' से लेकर 'सिय मुख समता पाव कीनि, चन्द बापुरो रंक' जैसी पंक्तियां देखी जा सकती हैं।

एसोसिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, मो. ०९९८९२७३४७०

इस प्रकार महाकाव्यों या परंपरा से जनमानस में सुंदरता का प्रतिमान बनता गया सीता और राधा का सौंदर्य। यह सिलसिला कुछ इस तरह बढ़ा है कि दुर्गा पूजा में दुर्गा की मूर्ति का बहुत सुंदर और आकर्षक होना जरूरी सा हो गया है, बंगाली समाज में दुर्गा की मूर्ति को छोड़कर। इसलिए फिल्मकारों को फिर तो अपनी नायिका अत्यंत रूपवती दिखानी ही थी। जनता कुरूप नायिका को कैसे स्वीकारती। हाँ, स्त्री पात्र यदि खल है तो कुरूप हो सकती है, मंथरा से लेकर सूर्पणखा तक के उदाहरण यहाँ भी थे, सिनेमा ने इसका भी इस्तेमाल किया। कुरूपता के सौंदर्यशास्त्र पर शोध की पर्याप्त संभावनाएं हैं साहित्य से लेकर सिनेमा तक में। तो इस प्रकार महाकाव्यात्मक सौंदर्यशास्त्र सिनेमा के सौंदर्यशास्त्र को निर्धारित कर रहा था। दूसरी ओर नायिका का आकर्षक होना दर्शकों को आकर्षित करता, दर्शक जो मुख्यत: पुरुष थे। कुछ तो माहौल था और कुछ दस्तूर भी, इसलिए सिनेमा की नायिका का परम सुंदरी होना अनिवार्य सा हो गया। और यह मानसिकता कुछ इस तरह घर करती गयी कि शबाना आजमी जैसी अभिनेत्रियों ने कहीं कहा कि 'उस फिल्म में मेरी लिपस्टिक इतनी भद्दी लग रही थी कि मैं तो बेहोश होते–होते बची।'

जैसे–जैसे व्यावसायिकता बढ़ती गयी, नायिका सिर्फ प्रदर्शन तथा ग्लैमर की वस्तु बनकर रह गयी। 'चौदहवीं का चाँद हो या आफताब हो' से लेकर 'तू चीज बड़ी है मस्त–मस्त' जैसे गीत उसकी तारीफ में गाए गये। 'अपने पैरों को जमीन पर मत रखियेगा, मैले हो जाएंगे' जैसे आप्त वाक्य दोहराये जाते रहे। आगे चलकर राज कपूर ने 'सत्यम् शिवम् सुंदरम्' में दैहिक सौंदर्य को मिथ्या तथा आत्मा के सौंदर्य को सत्य बताने की, ज़ीनत अमान के मांसल सौंदर्य के साथ पूरे चालाक भोलेपन से करने की कोशिश की। 'राम तेरी गंगा मैली' में प्यासे बच्चे को गंगाजल पिलाने से मना करने पर, नायिका द्वारा अपना स्तनपान कराने के बहुचर्चित दृश्य के पीछे भी व्यंग्य नहीं, धूर्तता काम कर रही थी। आगे जाकर तो मदर इंडिया ड्रीम गर्ल से सेक्सी, सेक्स बम, आइटम तथा गर्ल फ्रेंड बनती गयी। हाल की फिल्म 'ओम शांति ओम' में विलेन जो फिल्म निर्माता है अपने निर्देशक तथा कैमरा मैन से कहता है, 'कैमरे का एंगल मनमोहन देसाई वाला रखना, फिल्म उसी से चलेगी।' यही वही दृष्टि थी कि अंदाज में घोड़े से गिरती हेमामालिनी के पीड़ा भरे चेहरे को कैमरा क्लोज अप नहीं करता, बल्कि साड़ी सरक आने से नंगे हो गए पैर को दिखाता है।

पर, इन सबके दरम्यां, कमजोर ही सही, एक और दृष्टि भी सिनेमा में काम कर रही थी। वह स्त्री को सिर्फ देवी या भोग्या नहीं, बल्कि मनुष्य के रूप में दिखना चाह रही थी। चंदूलाल शाह की सन् १९२६ की टाइपिस्ट गर्ल, गुण सुंदरी, विश्वमोहिनी, बैरिस्टर्स लाइफ तथा सिपाही की रानी आदि ने नारी के प्रश्न को सिनेमा की संवेदना से जोड़ा। प्रारंभिक दौर की बहुचर्चित 'नादिया', 'डायमंड क्वीन' के एक दृश्य में कहती है, 'यदि भारत को स्वतंत्र होना है तो भारतीय स्त्री भी स्वतंत्र हो।' सन् १९३६–३७ में ही शांताराम की 'दुनिया न माने' में नायिका बेमेल विवाह के खिलाफ विद्रोह करती ह। उन्हीं की बेहद महत्वपूर्ण फिल्म 'आदमी' में नायिका वेश्या होने के बाद भी नैतिक मूल्यों की स्थापना करती है। थोड़ा आगे जाकर वह 'साहब बीबी और गुलाम' तथा 'गाइड' में विद्रोह ही नहीं करती 'मदर इंडिया' में अपने पूरे वजूद के साथ ललकारती हुई

मिलती है। संघर्षों के बावजूद 'दु:ख भरे दिन बीते रे भैया' का आशावाद उसका संबल है। आगे चलकर नारी की इस संघर्षशील छवि का चालाक इस्तेमाल करने की कोशिशें भी हुई, जैसे जख्मी औरत, इंसाफ का तराजू, प्रतिघात और क्या कहना आदि में। इन फिल्मों में कला और श्रेष्ठता की आड़ में लगभग ऐसी ही चतुराई दिखा रही दीपा मेहता की 'फायर' तथा शेखर कपूर की 'बैंडिट क्वीन' भी शामिल है।

सत्य और मिथ्या की इस यात्रा में हिन्दी सिनेमा की स्त्री अपना 'अस्तित्व', अपना 'अर्थ' और अपनी 'सुबह' तलाशती रही। इस तलाश में उसका साथ बड़ा साथ दिया समानान्तर, सार्थक या नया सिनेमा ने, जिसकी पृष्ठभूमि में सत्यजित राय की स्त्री खड़ी थी। समानान्तर सिनेमा ने और मुख्यत: श्याम बेनेगल ने स्त्री को उसकी सही जगह दिलाने की कोशिश की। अंकुर में नायिका के मन में शोषण के खिलाफ, विद्रोह के अंकुर फूटते हैं तो 'मंथन' में वह आर्थिक रूप से अपने पैरों पर खड़ी होती है, 'भूमिका' में वह जान गयी है कि उसकी पहचान अकेले रहकर ही बनेगी, मंडी की वैश्याएं अपनी स्वतंत्रता तथा जिजीविषा के लिए आज भी याद आती है और हरी–भरी में तो वही यह तय करती है कि वह माँ बने या न बने।

समानांतर सिनेमा ने हमें इस सवाल के सामने खड़ा किया कि जिन राहों पर गाय, भैंस, बैल, बकरियां तक बेखौफ चल सकते है, उन पर स्त्री क्यों नहीं। इन प्रश्नों के उत्तर इन स्त्री पात्रों ने भी अपने–अपने ढंग से ढूँढे। 'सुबह' की स्मिता पाटिल अपने आत्मसम्मान के लिए घर छोड़ देती है, 'अर्थ' की शबाना आजमी अपने पतित पति से पूछती है कि तुम जो करके लौटना चाहते हो वही यदि मैं करके आऊँ तो तुम मुझे क्या घर में घुसने दोगे? 'मिर्च मसाला' में वह स्त्रियों के साथ मिलकर नपुंसक हो चुके पुरुषों को परे धकेलते हुए सूबेदार पर हमला बोलती है। यह हमला बताता है कि हाथ दिशा बदलें तो मिर्ची भी दिशा बदल सकती है और हाथों की दशा भी।

सन् १९७५ की 'आंधी' में पति गुर्राता है, 'बीवी हो, शौहर बनने की कोशिश मत करो', सन् १९९८ की 'मृत्युदंड' में नायिका गुर्राती है, 'पति हो, पति रहो, परमेश्वर बनने की कोशिश मत करो' और सन् २००७ की 'चक दे' में क्रिकेटर प्रेमी द्वारा अपने खेल हॉकी तथा स्त्री शक्ति की उपेक्षा से नाराज नायिका अपनी प्रतिद्वन्द्वी खिलाड़ी से कहती है, 'मुझे तुझे नहीं किसी–लौंडे को दिखाना है।'

नादिया का सपना अब आकार ले रहा है। स्त्री अब पति के चरणों की दासी नहीं, उसकी सखी बनना चाहती है। 'रजनीगंधा' हो या 'लीला' या 'दृष्टि' या 'रिहाई' या फिर 'जॉगर्स पार्क', वह अपने बारे में फैसला चाहती है। अपने वजूद की उसकी यह तलाश प्रेम, यौन नैतिकता या शुचिता से काफी आगे बढ़ चुकी है। वह 'गॉडमदर' में स्त्री को कमजोर सेक्स मानने वालों को करारा जवाब देती है, 'बवंडर' में बलात्कार सहकर भी न्याय के लिए लड़ती है, 'प्रोवोक्ड' में अत्याचारी पति पर हमला करती है, 'स्वराज द लिटिल रिपब्लिक' में सूखे से ग्रस्त किसी राजस्थानी गाँव में अपने बल पर कुआँ ही नहीं खोदती है, पाइप लाइन बिछाने के लिए शहर जाती है, अपनी लड़ाई में मारी जाती है पर जीतती है, 'डोर' में वह सिर्फ अपने प्रेमी पति की जीवन

रक्षा का प्रयास ही नहीं करती, बल्कि दूसरी स्त्री के साथ मिलकर उसके लिए पंख और आसमान ढूंढती है। वह सजी–धजी कजरारे–कजरारे नैना भर नहीं है, वह पसीने से लथपथ, पुरुषों की शारीरिक क्षमता को चुनौती देती हुई अपने मतभेदों को भुलाती, कदमताल मिलाती 'चक दे' की गूंजती हुई आवाज है। वह सिनेमा के पर्दे पर सिंदूर की तापसी मल्लिक है।

मेरे जैसों के लिए यह खुशी और तसल्ली की बात है कि स्त्री की बेहतरी और समानता को लेकर सबसे अच्छी फिल्में पुरुषों ने बनायी हैं, किसी दीपा मेहता या कल्पना लाजमी ने नहीं। रचना का क्षेत्र 'भी वादी' होता है 'ही वादी' नहीं। और परिवर्तन यथार्थ के अंकन से नहीं, यथार्थ के मर्म के संप्रेषण से पैदा होता है। इसलिए कुछ लोग जो यह सोचते हैं कि स्त्रियों पर बेहतरीन फिल्में स्त्रियां ही बना सकती हैं, पुनर्विचार करें।

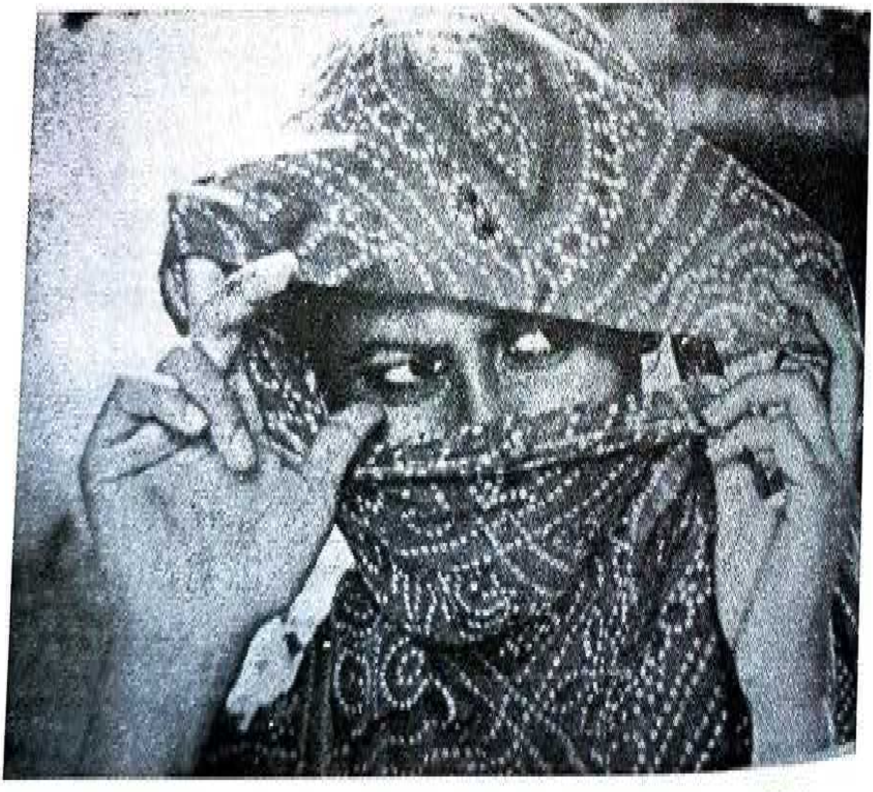

श्याम बेनेगल की फिल्म *मंथन* के एक व्यंजक दृश्य में स्मिता पाटिल

कविता

अजय सिंह

करिश्मा कपूर ने कहा, असली जिंदगी में अमीर लड़की टैक्सी ड्राइवर के साथ नहीं भागा करती

मुकेश की उदास आवाज़ में गूंज रहा था

चांदी की दीवार ना तोड़ी
प्यार–भरा दिल तोड़ दिया
एक धनवान की बेटी ने
निर्धन का दामन छोड़ दिया

आवाज़ फकत आवाज़ न थी
दर्द सिर्फ दर्द न था
एक मिथ टूट रहा था
एक मिथ बन रहा था
सिनेमा और अंधेरे के बीच
रोमांस वाजिब जगह तलाश रहा था
जैसे
बेचैन उंगलियां
जैसे
दांतों के अंदर–बाहर आते–जाते होंठ
जैसे
माथे पर पसीने की बूंदें अचानक
और उन्हें पोछता सफेद रूमाल

प्रोजेक्टर की तेज़ रोशनी

३/२८, पत्रकारपुरम, गोमतीनगर, लखनऊ, २२६०१०, उत्तर प्रदेश

सिनेमा की रील को भेदती हुई
सफ़ेद परदे पर कई तरह के
आख्यान रच रही थी
उनमें ज़िंदगी का अक्स झिलमिलाता
नज़र आता
हालांकि ज़िंदगी कहीं ज़्यादा अविश्वसनीय
कहीं ज़्यादा जटिल थी
लेकिन परदे का सच ज़िंदगी के
सच से बड़ा नजर आता
सब कुछ अंधेरे पर
निर्भर था

बड़े हॉल में लोग
समूह में बैठे थे
लेकिन सब अकेले थे
परदे की रोशनी और आख्यान
सब तक अलग–अलग
ढंग से पहुंच रहे थे
हॉल का अंधेरा परदे को
ज़्यादा रोशन, जीवंत, सच बना
रहा था
परदे की रोशनी जिंदगी के अंधेरे
कोने पर भी पड़ रही थी
प्रेम विश्वासघात में
विश्वासघात प्रतिहिंसा में
प्रतिहिंसा आत्मघात
में बदल रही थी

वह लड़की जो सिनेमा देख रही थी
कुछ सोच रही थी

साहसिक और सनसनीखेज़ चुंबनों
की स्मृति
बार–बार लौटते सरदर्द की तरह थी

शीला रमानी, गीता बाली, करिश्मा कपूर
परदे पर जिस तरह
टैक्सी ड्राइवर पर फ़िदा हो जातीं
क्या उस लड़की का भी सच था

बला की गर्मी थी
तापमान ४७ डिग्री सेल्सियस तक पहुंच रहा था
सड़क का कोलतार पिघला जा रहा था
कमरे का पंखा छत की
सारी गर्मी नीचे झोंक रहा था
कमरे में ग़जब की शांति
मैत्रीपूर्ण उत्तेजना फैली थी
उरोज मुस्करा रहे थे
जैसे जवां उमंग
खुली जांघें
जैसे गंगा–जमना का दोआब
हाथ थे कि सरपट दौड़ते घोड़े
जीभ कि तरंगित झील में
बेख़ौफ घूमती मछली
तभी करवट बदलती आवाज़
मैं तुमसे प्रेम करती हूं
पर तुम केवल अपने
से प्रेम करते हो
तुम किसी से प्रेम कर ही नहीं सकते
तुम बहुत पज़ेसिव हो
मैं तुम्हारी छाया नहीं बन सकती
मुझे इस ख़याल से ही नफ़रत है
तुम अगर हमक़दम बन सको
तो साथ आओ

आवाज़ कई आवाज़ें
आवाज़ें भौचक सन्नाटा
हाथों की गिरफ़्त ढीली
तीर जो छूटने को थे

वापस तरकस की ओर

कृष्णा सोबती ने कहा : लौट आ ऐ लड़की
शमशेर ने कहा : लौट आ ओ धार
शंकर शैलेंद्र ने कहा : न जा ओ बसंती पवन
पागल
आलोकधन्वा ने कहा : ओ भागी हुई लड़की
वापस आ जा
राजकपूर ने कहा : आ अब लौट चलें
रेडियो और टेलीविजन ने चेतावनी दी :

समुद्र में ऊंची–ऊंची लहरें उठेंगी
मुछआरे अगले ४८ घंटे समुद्र में न जायें
ख़तरे का निशान नं. ७ लगा दिया गया है
सारी अपीलें चेतावनी बेकार

मछुआरे बताते हैं
लैंपपोस्ट बुझे थे
लड़की समुद्र की तरफ जाती
दिखायी पड़ी

(उद्‌भावना, अंक ५६, जुलाई २००० से साभार)

...

हाशिये पर हँसाती कलाकार

शबनम खान

अपने १०० बरस पूरे कर चुके हिंदी सिनेमा को विश्व के मशहूर सिनेमाओं में से एक माना जाता है। इसमें उतने ही रंग है जितने कि भारतीय संस्कृति में। यहाँ सिनेमाई पर्दे पर घर और सामाजिक सरोकार से जुड़े कई विषयों और किरदारों को दिखाया जाता रहा है लेकिन एक रंग हिंदी सिनेमाई रूपी कैनवस से अभी भी गायब सा लगता है, और वो है सशक्त महिला हास्य कलाकार का चेहरा। इस विषय पर एक चर्चा :

ये बात ठीक है कि हर विषय पर चर्चा से पहले उससे संबंधित इतिहास पर नजर डाल लेना बेहतर होता है। लेकिन इस विषय के इतिहास को खंगालने पर ऐसा कुछ खास नजर नहीं आता जिस पर बात की जा सके। यदि विचार किया जाय तो हमें शायद ही याद हो कोई ऐसी आखिरी फिल्म दिखे जिसमें महिला हास्य कलाकार का सशक्त किरदार दिखाया गया था? याद कर भी लें लेकिन उस कलाकार को क्या फिर किसी और फिल्म में भी ऐसी भूमिका निभाने को मिल पाई? शायद नहीं। आज के हिंदी सिनेमा का यही चेहरा है, यहाँ स्त्री प्रधान फिल्में तो बन रही है लेकिन उन्हें अभी भी गंभीर और भावुक किरदारों में ही पेश किया जा रहा है। हास्य कलाकारों के दो–तीन ही ऐसे चेहरे रहे है जो हिंदी फिल्मों में यहाँ वहाँ कोई कोना देखकर फिट किए जाते रहे है। इनमें से पहला नाम है– उमा देवी खत्री उर्फ 'टुनटुन' का। तकरीबन १०० फिल्मों में काम कर चुकी टुनटुन को हिंदी फिल्मों की पहली महिला हास्य कलाकार का खिताब प्राप्त है। दूसरा नाम गुड्डी मारुति का, लेकिन तीसरा, चौथा और पांचवा नाम शायद है ही नहीं। ये एक ऐसी फेहरिस्त है जिसमें एक–दो ही नाम है और वही सबसे ऊपर। हालांकि डॉली बिंद्रा भी कुछ फिल्मों में हास्य किरदारों में नजर आई लेकिन उनके किरदार कभी इतना प्रभाव नहीं छोड़ सके कि उन्हें हिंदी सिनेमा की एक स्थापित स्त्री हास्य कलाकार का दर्जा हासिल हो सके।

१२ बी, लेन सी, नार्थ मेन रोड, कोरगांव पार्क, पुणे, मो. ०९९३७९९६०४७

वहीं दूसरी तरफ यदि हम स्थापित पुरुष हास्य कलाकारों की फेहरिस्त पर नजर डालें तो वह कुछ लंबी जान पड़ती है। महमूद, जॉनी वॉकर, जॉनी लीवर, असरानी, कादर खान, परेश रावल, राजपाल यादव जैसे नाम हिंदी सिनेमा के दर्शकों को लंबे वक्त से हँसाते रहे हैं। पुरुष हास्य कलाकारों की किस्मत अच्छी रही कि उन्हें ऐसे किरदार निभाने के मौके मिले जो फिल्म की जान रहते है। उन्हें देखकर ऐसा नहीं लगता कि किरदारों को जबरदस्ती ठूंसा गया है, हालांकि इस विषय पर अपवाद भी मिल जाएंगे। लेकिन महिला हास्य कलाकारों को ऐसे किरदार देने से परहेज किया गया है। नतीजतन, इस समय हिंदी सिनेमा में कोई भी ऐसी महिला हास्य कलाकार नहीं है जो अपने इस खास हुनर के लिए जानी जाती हो। हिंदी फिल्मों की कहानी का तानाबाना ही कुछ ऐसा बुना जाता है जिसमें महिला किरदारों को मात्र भावुकता और हमदर्दी बटोरने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। वह मां, पत्नी, प्रेमिका, बहन, बेटी, दोस्त, पड़ोसन, कलीग्स या कोई सताई हुई औरत के किरदारों में सबसे ज्यादा पेश की जाती है। हो सकता है इसके पीछे एक वजह ये भी रही हो कि भारतीय समाज का चेहरा कुछ ऐसा है जहाँ महिलाओं को एक इमेज में बाँधकर रखा गया है। हाल ही में आई कुछ महिला प्रधान फिल्मों जैसे, 'हिरोईन', 'कहानी', 'इंग्लिश विंग्लिश', की अगर हम बात करें तो वह सब खास या गंभीर विषय पर आधारित फिल्में रही हैं। हल्के–फुल्के विषय से खेलते हुए एक फिल्म 'अइय्या' आई जरूर थी लेकिन वह भी कहीं न कहीं उलझी हुई थी। कुछ फिल्मों में बतौर सहायक कलाकार काम करने वाली महिला कलाकारों को हास्य किरदार निभाने को मिल जाते हैं लेकिन किसी फिल्म को ऐसे किसी किरदार के वजह से पहचान मिल सके, ऐसा नहीं हुआ है।

भारतीय सिनेमा की कॉमेडी के क्षेत्र में महिलाओं के कुछ–गिने चुने चेहरों के अलावा शून्य की स्तिथि का कारण ये भी माना जा सकता है कि भारतीय सिनेमा में हास्य कलाकारों को हमेशा सहायक भूमिकाएं निभानी पड़ी हैं और इसीलिए जो किरदार उनके द्वारा सबसे ज्यादा बार निभाया गया है वो है मुख्य किरदार यानि हीरो के दोस्त का। मेहमूद और लक्ष्मीकांत बेर्डे इसके सशक्त उदाहरण हैं। अब जब स्त्री प्रधान फिल्में बनी ही नहीं तो ऐसे में महिला हास्य कलाकारों की कमी निर्माताओं ने कभी महसूस ही नहीं की। हिंदी फिल्में कॉमेडी के बगैर अधूरी तो मानी जाती हैं लेकिन कॉमेडी को लेकर हमेशा उदासीन ही रहीं, ऐसे में हाशिये पर पड़ी महिला हास्य कलाकारों के लिए अपने वजूद की तलाश करना हमेशा से ही बेहद चुनौतीपूर्ण रहा। फिल्मों के सबसे बड़े पुरस्कार फिल्मफेयर के ऑकड़े इस बात की गवाही देते हैं कि हिन्दी फिल्में अपने एक अभिन्न अंग को लेकर कभी संजीदा नहीं हुई। १९५३ में शुरु किये गए फिल्मफेयर पुरस्कारों में 'फिल्मफेयर बेस्ट कॉमेडियन अवार्ड' को १९६६ तक शामिल ही नहीं किया गया। काफी आवाजों के उठने के बाद जब पहली बार १९६७ में इस श्रेणी को सम्मिलित किया गया तो ये पुरस्कार मेहमूद ने *लव इन टोकियो* के लिए जीता। उसके बाद से ये पुरस्कार लगातार २००७ तक दिए गए। २००७ में फिल्मफेयर बेस्ट कॉमेडियन अवार्ड' 'लगे रहो मुन्ना भाई' के लिए अरशद वारसी को मिलने के बाद से इसे फिर से बंद कर दिया गया। अब जरा अंदाजा लगाईये कि १९६७ से २००७ के पचास सालों के मुस्कुराहट के इस सफर में, एक भी पुरस्कार किसी

महिला के हाथ नहीं लगा, जबकि सबसे ज्यादा बार जीतने वालों में जगदीप, महमूद, लक्ष्मीकांत बेर्डे और अनुपम खेर के नाम शामिल हैं। बहरहाल, मूक, ब्लैक एंड व्हाइट, बोलता हुआ, सामाजिक सरोकार, रोमेंटिक, ऐक्शन और कॉमेडी सिनेमा जैसे कई पड़ावों से गुजर चुके हिंदी सिनेमा में अभी न जाने कितनी और संभावनाएं बाकी हैं। व्यवसाय के नजरिये से देखा जाए तो ये एक बूमिंग इंडस्ट्री मानी जाती रही है। इस लिहाज से अभी कई और प्रयोग हिंदी सिनेमा में किए जाने की गुंजाइश बड़ी आसानी से बनती है। ऐसे में हिंदी सिनेमा की इस कमी को पूरा किया जा सकता है। महिला हास्य कलाकारों की कमी को दूर करने के लिए सबसे ज्यादा जरूरी है फिल्म स्टोरी राइटर, निर्माता और निर्देशक इस क्षेत्र में दिलचस्पी दिखाएं, और ऐसे किरदार गढ़े जो कुछ हटकर पेश करें। अब महिला कलाकारों की योग्यता और क्षमता को कमतर भले ही मापा नहीं जाता है लेकिन उनके लिए तैयार किरदारों को एक नई शक्ल देने का वक्त आ गया है। हिंदी सिनेमा को मजबूत महिला हास्य कलाकारों की कमी से उभरकर एक नए दौर का सिनेमा तैयार करना होगा, जो सिनेमा में नयापन तो लाएगा ही बल्कि इसे कुछ और 'रिच' बना जाएगा।

***

हिंदी सिनेमा में स्त्री जीवन के विविध आयाम

कल्पना पन्त

हिंदी सिनेमा ने लगभग १०० वर्षों के लम्बे सफर में स्त्रियों को अथवा स्त्री सम्बंधित मुद्दों को केंद्र में रखकर कुछ यादगार और महत्वपूर्ण फिल्में दी हैं। हमारी समाज व्यवस्था पितृसत्तात्मक होने के कारण सिनेमा जगत भी इससे अछूता नहीं रहा है। प्राय: अधिकांश फिल्में 'हीरो' को केंद्र में रखकर बनाई जाती रही हैं। फिर भी सिनेमा जगत के कुछ अनुभवी निर्माता–निर्देशकों ने स्त्री जीवन से सम्बंधित कुछ अर्थपूर्ण फिल्मों का निर्माण किया है और स्त्रियों के वजूद व महत्व को 'बालीवुड' में स्थापित किया है। भारतीय सिनेमा के शुरूआती दौर से लेकर आज तक स्त्री केंद्रित कुछ महत्वपूर्ण फिल्मों में अछूत कन्या, सुजाता, बंदिनी, बैंडिट क्वीन, दामिनी, परिणीता, मदर इंडिया, आंधी, अर्थ, गुड्डी, भूमिका, लज्जा, फैशन, चमेली, मिर्च मसाला, मंडी, फिलहाल, सात खून माफ, चांदनी बार, नो वन किल्ड जेसिका, टर्निंग ३०, मातृभूमि, जलपरी, अस्तित्व, जुबैदा, रोजा, चक दे इंडिया, पेज ३ जैसी फिल्मों के नाम लिए जा सकते हैं। इन फिल्मों में स्त्रियों से सम्बंधित समस्याओं और मुद्दों को बेहद संजीदगी से प्रस्तुत किया गया है।

स्त्री यदि दलित है तो वह समाज व्यवस्था के सबसे निचले पायदान पर खड़ी नजर आती है। क्योंकि एक तो वह स्त्री है और उस पर भी दलित तबके से सम्बंधित है। जाहिर तौर पर उसे 'पितृसत्ता' और 'वर्ण व्यवस्था' दोनों की मार झेलनी पड़ती है। ऐसी स्त्री की पीड़ा को हिंदी सिनेमा के शुरुआती दौर में ही दर्शाया गया था। वस्तुत: हिन्दी सिनेमा में जब बोलती फिल्मों का चलन शुरू ही हुआ था लगभग उसी समय १९३६ में 'अछूत कन्या' नामक एक फिल्म प्रदर्शित हुई जिसमें एक ब्राह्मण युवक प्रताप (किशोर कुमार) और दलित युवती कस्तूरी (देविका रानी) के माध्यम से अस्पृश्यता के मुद्दे को उठाया गया है। वास्तव में अस्पृश्यता एक सामाजिक बंदिश है। मनुष्य–मनुष्य के बीच की इन बेबुनियाद बंदिशों को तोड़ पाना एक सामाजिक व्यक्ति के लिए अत्यंत कठिन रहा है। 'अछूत कन्या' में भी कस्तूरी और प्रताप का विवाह इसीलिए नहीं हो पता है कि कस्तूरी एक दलित युवती है। एक दलित का ब्राह्मण से विवाह हो, यह समाज

शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, मो. ०९४९२०६२२८५

व्यवस्था को स्वीकार्य नहीं। यद्यपि प्रताप के पिता मोहन और कस्तूरी के पिता दुखिया के बीच मित्रवत सम्बन्ध है। बीमार दुखिया को घर ले आने के कारण मोहन को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। गाँव के वैद्य और अन्य लोग मिलकर अछूत दुखिया को घर में रखने के अपराधस्वरूप मोहन को गाँव से निकालने का ऐलान तक कर डालते हैं। इतना ही नहीं उसका घर जला देते हैं और मारपीट करते हैं। किन्तु मोहन अपने प्रगतिशील विचारों पर कायम रहता है। खोखली रूढ़ियों से ग्रस्त जड़ बुद्धि लोगों के समक्ष मोहन एक जायज तर्क प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि "क्या अछूत आदमी नहीं? क्या हमारी तरह उनमें जान और सुख–दुःख का ज्ञान नहीं? क्या ब्राह्मण क्या भंगी सब एक पिता की संतान हैं... जब भगवान कोई भेद नहीं करते तो हम मनुष्यों को क्या अधिकार है कि जात–पात का भेद करें।" मोहन के ऐसे विचारशील तर्कों कि प्रासंगिकता आज २१वीं सदी के आधुनिक समाज में भी उसी प्रकार महत्वपूर्ण बनी हुई है। अस्पृश्यता के मुद्दे को केंद्र में रखकर ही १९५९ में मशहूर निर्माता निर्देशक विमल राय ने 'सुजाता' फिल्म का निर्माण किया। इसकी केंद्रीय पात्र सुजाता (नूतन) का जन्म एक अछूत जाति में होता है। यह फिल्म सुजाता के बचपन और युवावस्था में सुजाता (दलित), और अधीर (ब्राह्मण) के प्रेम संबंधों में आने वाली सामाजिक बंदिशों को लेकर गुथी गई है। माँता–पिता की मृत्यु हो जाने के कारण सुजाता का पालन पोषण एक ब्राह्मण परिवार में होता है। चूँकि सुजाता का पिता ब्राह्मण दम्पति के यहाँ मजदूरी करता था इसीलिए मजबूरीवश ब्राह्मण परिवार द्वारा सुजाता को अपना तो लिया जाता है किन्तु चारु (पालनकर्ता माँ), और रूढ़िगत संस्कारों में बधीं बुआ की. दृष्टि सुजाता के प्रति हमेशा ही हीन भावना से ग्रस्त रहती है। आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व बनी इस फिल्म में अछूतों के प्रति धार्मिक दृष्टि, उनकी शिक्षा का स्तर, विवाह सम्बन्धी समस्याएं एवं खान–पान के स्तर पर भेदभाव जैसे तमाम मुद्दों को बहुत सशक्त एवं मर्मस्पर्शी ढंग से प्रस्तुत किया गया है। धार्मिक दृष्टि से एक ब्राह्मण दम्पति द्वारा अछूत कन्या के पालन–पोषण को अनाचार, पाप माना जाता है। इससे अमंगल की आशंका का भय पैदा किया जाता है। धर्म के ज्ञाता या यूँ कहूँ कि धर्म के ठेकेदार समझे जाने वाले पंडितों के विचार अछूतों के संदर्भ में बेहद रूढ़ीवादी हैं। वह ब्राह्मण दम्पति से कहता है कि "अछूतों का केवल स्पर्श ही नहीं, उन्हें पास रखना भी पाप है।... आप निश्चय ही यह जानते होंगे कि विज्ञान में भी यही सिद्धांत लिखा है। ... अछूतों के शरीर से एक प्रकार की गैस निकलती है, जो कुलीन मनुष्यों के तन–मन और आत्मा को दूषित करती है।"

दलित स्त्रियों के शिक्षा का प्रतिशत आज भी बहुत कम है। १९५९ में तो यह संख्या लगभग न के बराबर रही होगी। फिल्म में भी सुजाता पढ़ना चाहती है किन्तु उसे पढ़ने नहीं दिया जाता है। यहाँ तक कि उसे किताबें छूने तक नहीं दी जाती हैं। सदैव उसे अनपढ़ कहकर नीचा दिखाया जाता है। खान–पान में भी सुजाता के साथ छुआछूत का भेदभाव किया जाता है। सुजाता और अधीर एक–दूसरे से प्रेम करते हैं। अधीर पढ़ा–लिखा नवयुवक है। वह उच्च विचारों वाला युवक है। वह छूत–अछूत, जात–पात में विश्वास नहीं करता है। सुजाता और अधीर का विवाह इसलिए नहीं होने दिया जाता है कि सुजाता एक अछूत कन्या है। इस संदर्भ में अधीर का यह

कथन बेहद महत्वपूर्ण है कि ''मनुष्य जन्म से नहीं संस्कारों से छोटा बड़ा होता है।'' पूरी फिल्म अछूतों के संदर्भ में निर्धारित कई रूढ़ प्रतिमानों पर गहरी चोट करती है। अंत में सुजाता और अधीर का विवाह कहीं न कहीं इन रूढ़ियों के शनैः–शनैः ही सही भविष्य में टूट जाने का संकेत भी करती है। जाति या कुल से इतर संस्कारों और दूरदर्शी विचारों के महत्व को अत्यंत सहज और तर्कशील ढंग से प्रस्तुत करने में विमल राय को पूरी सफलता मिली है। वर्तमान में तमाम बहसों के बावजूद ऐसे तर्कसंगत और प्रगतिशील विचारों पर दृढ़ता से अमल करने कि आवश्यकता आज भी बनी हुई है।

शेखर कपूर द्वारा निर्देशित फिल्म 'बैंडिट क्वीन' (१९९४) फूलन देवी नामक दलित स्त्री के जीवन को केंद्र में रखकर बनाई गई है। 'बैंडिट क्वीन' फिल्म एक दलित स्त्री के जीवन के दूसरे पक्ष को हमारे सामने प्रस्तुत करती है। जहाँ एक सामान्य दलित स्त्री को समाज के कुछ शक्तिशाली व्यक्तियों द्वारा इतना शोषित और प्रताड़ित किया जाता है कि वह डकैत बनने पर मजबूर हो जाती है। यदि स्त्री के साथ होने वाले शोषण और दमन का सिलसिला बंद नहीं हुआ तो न जाने कितनी स्त्रियां फूलन बनने पर मजबूर हो जाएगीं। 'बैंडिट क्वीन' फिल्म एक दलित स्त्री फूलन देवी के एक सामान्य स्त्री से डकैत बनने तक के तमाम कारणों तथा समाज व्यवस्था के एक तरफा व्यवहार को प्रस्तुत करने में पूर्णतयां सफल हुई है।

स्त्री पर होने वाले शोषण या अत्याचार का सबसे प्रमुख केंद्र स्त्री की देह ही रही है। स्त्री के यौन शोषण, वेश्यावृति जैसी समस्याओं को केंद्र में रखकर 'मंडी', 'चांदनी बार', 'चमेली', 'गिद्ध' जैसी फिल्मों का निर्माण हुआ है। श्याम बेनेगल ने अपनी फिल्मों के जरिये कहीं न कहीं स्त्री शोषण को रेखांकित करने का प्रयास किया है। उन्होंने स्त्रियों के यौन शोषण को प्रमुखता से उजागर किया है। बेनेगल की फिल्म 'मंडी' (१९८३) में लड़कियों की खरीद फरोख्त और देह व्यापार के कारोबार को प्रमुखता से दिखाया गया है। मंडी फिल्म में रुक्मिणी बाई (शबाना आजमी) कोठा चलाती है वह लड़कियां खरीदकर उनसे वेश्यावृत्ति का कार्य करवाती है। वास्तव में भारतीय इतिहास में वेश्यावृत्ति का यह व्यापार बहुत पुराना है किन्तु स्त्री को एक सामान्य वस्तु के रूप में 'मंडी' में ले जाकर खरीद फरोख्त करना निश्चित रूप से उपभोक्तावादी अथवा पूंजीवादी समाज व्यवस्था के बेहद क्रूर व घिनौने रूप को उजागर करता है। वेश्यावृत्ति का यह व्यापार कुछ दशकों पहले 'कोठों' के माध्यम से चलता था किन्तु उत्तर आधुनिक कहे जाने वाले आज के समाज में इसके रूप अधिक सूक्ष्म और जटिल हैं। बीयर बार या ऐसी ही तमाम अन्य जगहों से स्त्री के दैहिक शोषण का कारोबार धड़ल्ले से हो रहा है। मधुर भंडारकर ने फिल्म 'चांदनी बार' (२००१) में 'बारगर्ल्स' की स्थिति का बड़ा यथार्थ प्रस्तुतिकरण किया है। इस फिल्म में बीयर बार में अपने जीवन की अलग–अलग मजबूरियों के कारण काम करने वाली, नाचकर अपने परिवार के लिए पैसा जुटाने वाली लड़कियों के जीवन संघर्ष को दर्शाया गया है। मुमताज (तब्बू) हिन्दू–मुस्लिम दंगों में माता–पिता के मारे जाने के बाद अपने एकमात्र सहारे मामू के साथ मुंबई आं जाती है। जहाँ उसका मामा उसे बीयर बार में नाचने पर मजबूर करता है। धीरे–धीरे मामू उसी क्री कमाई पर मजे करने लगता है। यहाँ तक की वह मुमताज

का बलात्कार भी कर डालता है। वेश्यावृत्ति के संदर्भ में ही सुधीर मिश्रा और अनत बलानी के निर्देशन में बनी फिल्म 'चमेली'(२००४) को भी देखा जा सकता है। चमेली के किरदार के रूप में करीना कपूर का अभिनय काबीले तारीफ है। 'चांदनी बार' और 'चमेली' दोनों फिल्में सामाजिक और पारिवारिक संबंधों में तेजी से आई गिरावट को भी बखूबी दर्शाती हैं। चांदनी बार में जहाँ मुमताज का मामा अपने आर्थिक हित के लिए उसे वेश्यावृत्ति के धंधे में धकेलता है वहीं चमेली फिल्म में चमेली को उसी के चाचा के द्वारा बेच दिया जाता है। भारत में मानव व्यापार (human trafficking)का कारोबार भी तेजी से बढ़ रहा है। जिसके तहत स्त्री व्यापार (woman trafficking) प्रमुख है। स्त्रियों को बहलाफुसला कर या फिर कई बार उनकी आर्थिक मजबूरी का फायदा उठाकर व्यापारी उन्हें वेश्यावृत्ति या देह व्यापार जैसे तमाम धंधों में धकेल देते हैं। बीयर बार या वेश्यालयों पर कानूनी रोक लगाने की तमाम कोशिशों के बावजूद वर्तमान में आये दिन ऐसे कई मामले सामने आ रहे हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वेश्यावृत्ति जैसे व्यापार दिनों–दिन बढ़ रहे हैं। फैशन और अभिनय जगत में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति से रूबरू कराने वाली कुछ बेहतरीन फिल्मों में मधुर भंडारकर निर्मित 'फैशन' (२००८) और 'हिरोइन' (२०१२) तथा मिलन लुथरिया की 'डर्टी पिक्चर' का नाम लिया जा सकता है। 'फैशन' फिल्म में जहाँ एक छोटे शहर की लड़की मेघना (प्रियंका चोपड़ा) डिजाइनरों और मॉडलों की चमक–दमक से लकदक दुनिया में अपनी जगह बनाने कि कोशिश करती दिखाई पड़ती है वहीं 'डर्टी पिक्चर' में एक बेहद सामान्य परिवार की लड़की रेशमा (विद्या बालन) के अभिनय जगत में पदार्पण, असीम सफलता, और दुखद परिणति की कहानी है। इसी प्रकार 'हिरोइन' फिल्म भी बालीवुड की एक बेहद सफल अभिनेत्री माही अरोरा (करीना कपूर) के उत्थान और पतन की कहानी है। यह फिल्में मॉडलिंग और अभिनय जगत में सफल होने के लिए की जाने वाली जोड़–तोड़ व प्रतिस्पर्धा को बड़ी बारीकी से दर्शाती हैं। अनेक कोशिशों के बाद कई स्त्रियां सफलता का स्वाद चख भी लेती हैं तो निरंतर सफल बने रहने के लिए उन्हें अनेकानेक समझौते करने पड़ते हैं। क्या इस शो बिजनस में बने रहने की जद्दोजहद और समझौतों का कोई विकल्प है? शायद नहीं। फैशन फिल्म में एक समय की सफल मॉडल सोनाली (कंगना रनाउत) का दुखद अंत, डर्टी पिक्चर की रेशमा के द्वारा आत्महत्या किया जाना और हिरोइन फिल्म में माही अरोड़ा द्वारा एक दूसरे देश में स्वयं को अभिनेत्री माही अरोड़ा मानने से इंकार किया जाना निश्चित रूप से इस बात को इंगित करता है कि बाहर से बेहद आकर्षित करने वाली इस दुनिया का भीतरी यथार्थ निहायत क्रूर और कड़वी सच्चाइयों को अपने में समेटे है। इस सबके बावजूद इस सकारात्मक तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि कई स्त्रियों ने फैशन और अभिनय जगत में असीम शोहरत और सफलता अर्जित की है।

भारत में कन्या भ्रूण हत्या (female foeticide)और कन्या शिशु हत्या (female infanticide) एक बड़ा मुद्दा है। २०११ की जनगणना के मुताबिक स्त्री–पुरुष लिंगानुपात का अंतर निकट भविष्य के लिए बड़े खतरे का संकेत है। यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ २००१ में ०–६ वर्ष के बच्चों में लिंगानुपात १००० पुरुषों पर ९३३ स्त्रियां थीं वहीं २०११ में १०००

पुरुषों के अनुपात में केवल ९१४ लड़कियां ही बची हैं। दिल्ली, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, जैसे तमाम राज्यों में लिंगानुपात का यह अंतर तेजी से बढ़ रहा है।

कन्या शिशु हत्या और भविष्य में इसके दुष्परिणामों को रेखांकित करने के लिए निर्माता मनीष झा ने 'मातृभूमि : अ नेशन विदाउट वूमन' (२००३) जैसी संवेदनशील फिल्म का निर्माण किया। इस फिल्म में बिहार के एक गाँव को केंद्र बनाया गया है। जहाँ सालों पहले एक पुत्राकांक्षित पिता ने पुत्री पैदा होने पर एक सामाजिक समारोह आयोजित कर उस कन्या शिशु को दूध के कड़ाहे में डूबा कर मार डाला। धीरे—धीरे कन्या शिशु को पैदा होते ही या पैदा होने से पहले ही मार देने का चलन हो जाता है। कई सालों बाद उस गाँव में केवल पुरुष ही रह जाते हैं। न तो उनकी शादी हो पाती है, न ही सामाजिक और पारिवारिक जीवन आगे बढ़ पाता है। ऐसे में केवल पुरुष युक्त उस समाज में पाशविक प्रवृत्तियाँ और कुंठाएं अपना भयावह रूप धारण कर लेती है। उस गाँव से कुछ दूर एक दूसरे गाँव से 'कल्कि' (ट्यूलिप जोशी) नाम की एक लड़की को अपने पैसों के बल पर पांच बेटों का पिता रामचरण (सुधीर पांडे) अपने बेटों के लिए खरीद लाता है। कल्कि अपने पांच पतियों के साथ ही अपने ससुर की कुंठा का भी शिकार होती है। सबसे छोटे लड़के को छोड़कर सभी उसके साथ पशुवत व्यवहार करते हैं। आगे चलकर गाँव के अन्य पुरुषों द्वारा भी उसका बलात्कार किया जाता है। फिल्म का अंत दो खेमों के बीच हिंसात्मक संघर्ष के साथ होता है। इस लड़ाई में पाशविक प्रवृत्ति से युक्त सभी पुरुष एक दूसरे को मार डालते हैं। किन्तु कल्कि द्वारा अंत में एक कन्या शिशु को जन्म देना एक सुन्दर और सुखद भविष्य का संकेत देता है जो फिल्म की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

वहीं दूसरी तरफ 'जलपरी' (२०१२) फिल्म में भी कन्या भ्रूण हत्या और लड़कियों की घटती संख्या के मुद्दे को बड़ी ही गंभीरता से उठाया गया है। वर्तमान में कई हिन्दी फिल्म निर्माताओं ने स्त्री जीवन के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही पक्षों को, उनके जीवन से जुड़े तमाम छोटे—बड़े मुद्दों को बड़ी खूबसूरती से सिल्वर स्क्रीन पर दर्शाने में सफलता अर्जित की है। स्त्री केंद्रित ये फिल्में केवल मनोरंजन के लिए मात्र फैंटेसी या काल्पनिक संसार की रचना ही नहीं करती हैं बल्कि यथार्थ की खुरदुरी जमीन से अवगत भी करती हैं। वास्तव में अब हिन्दी सिनेमा एक नये युग में प्रवेश कर रहा है। कुछ दशकों पूर्व केवल पुरुष प्रधान फिल्में ही बनाई जाती थी। समस्या कुछ भी हो उसका केंद्रीय पात्र पुरुष ही होता था किन्तु अब नायकत्व की यह अवधारणा भी शनैः शनैः टूट रही है। कई नायिका प्रधान फिल्में भी बनने लगीं हैं। 'हिरोइन', 'सात खून माफ', 'कहानी', 'टर्निंग ३०', 'डर्टी पिक्चर', 'फैशन', 'लज्जा', 'डोर', 'आंधी', 'अय्या', 'कारपोरेट', जैसी कई फिल्में इसका उम्दा उदाहरण हैं। हाल ही आई फिल्म 'तलाश' स्त्री के सवाल को बेहद संजीदगी के साथ सभ्य समाज के सामने रखती है। फिल्म में कालगर्ल की भूमिका में आई रोजी (करीना कपूर) नायक से कहती है कि '...यहाँ एक लड़की गायब हो जाती है और स्साला किसी को कोई फर्क ही नहीं पड़ता'; मानो मंन में दूर तक कुछ घिसटता चला जाता है। लोकतंत्र की तथाकथित बहाली के इतने वर्ष बीत जाने पर भी क्या स्त्री अभी वहीं नहीं खड़ी है! दिल्ली का बर्बर दामिनी प्रकरण हमें किस सामाजिक—सांस्कृतिक उन्नति के

लोक की नुमाईश करा रहा है?

निस्संदेह आज सिनेमा की पहुंच समाज के हर तबके तक है। इसलिए ये फिल्में सदियों से स्त्रियों के साथ हो रहे विविध प्रकार के शोषण के प्रति समाज में चेतना तो जागृत कर ही रही है साथ ही स्त्रियों से सम्बंधित इन तमाम समस्याओं के मूल कारणों की ओर भी बखूबी ध्यान आकृष्ट करने में सफल हो रही हैं। हिन्दी सिनेमा के इस नये युग का तहेदिल से स्वागत किया जाना चाहिए।

...

यहाँ से दिखती है आधी दुनिया

इतिहास और मिथक के प्रत्यय में स्त्री–प्रश्न

रीता नामदेव

कलाओं ने अपने युग के यथार्थ को अभिव्यक्ति देने के लिए इतिहास और मिथकों का बार–बार उपयोग किया है। हिंदी सिनेमा भी इस रास्ते पर आरंभ से ही चलती रही है। पौराणिक मिथकों के साथ ही उसने ऐतिहासिक मिथकों के सहारे भी अनेक आधुनिक प्रश्न उठाए हैं। लेख टंडन ने १९६६ में ***आम्रपाली*** फिल्म बनाकर वैशाली के लिच्छवियों में नगरवधू की परंपरा में स्त्री अधिकारों के हनन की कहानी कहते हुए आधुनिक समाज में स्त्री अधिकारों का सवाल उठाया है। आम्रपाली वैशाली के पराजय के प्रतीक के सहारे स्त्री स्वतंत्रता के अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले समाज के पतन को रेखांकित करती है। आम्रपाली (वैजन्ति माला) बुद्ध धर्म में स्त्री के स्थान को लेकर भी प्रश्न करती है। अंततः बुद्ध की शिष्या होकर वह किंचित अर्थ में स्त्री स्वतंत्रता तथा चयन के अधिकार को स्थापित करती है। यह फिल्म प्राचीनकाल के इतिहास के सहारे युद्ध की बर्बरता को प्रदर्शित कर युद्ध विरोधी संवेदना को भी मजबूत करती है। १९६६ में ही केदार शर्मा द्वारा निर्मित ***चित्रलेखा*** मूलतः प्रेमकथा होते हुए भी चंद्रगुप्तकालीन सामंती समाज में स्त्री की पराधीन स्थिति रेखांकित करती है। राजकीय सम्मान और वैभव से अंततः चित्रलेखा के मुँह मोड़ने के माध्यम से यह फिल्म आधुनिक वैभवशाली वर्ग के समाज में स्त्री की स्थिति और उसकी वास्तविक ईच्छा की और संकेत करती है।

चित्रा इन्टरनेशनल द्वारा गुलजार के निर्देशन में बनी फिल्म ***मीरा*** मध्ययुगीन इतिहास और मिथक के सहारे उस दौर के सामाजिक यथार्थ को तो सामने रखती ही है, आज के समय के कई महत्वपूर्ण स्त्री सवालों को भी उठाती है। सामंती सत्ता स्त्री को राजनीतिक हितों की पूर्ति का साधन बनाती है और इसके लिए बलिदान के नाम पर उसकी जान लेने में भी संकोच नहीं करती है। कृष्णा मीरा की चचेरी बड़ी बहन है और राजा वीरनदैव की बेटी पिता वीरनदेव कृष्णा का विवाह राजा विक्रमजीत के छोटे भाई भोजराज से तयकर देते हैं जिस से पुरखों के समय से चल रही शत्रुता को मित्रता में बदला जा सके। कृष्णा का भाई जयमल उसका विवाह अजमेर के राजघराने में पक्की कर देता है। संयोग से दोनों ही परिवारों में एक ही तिथी निश्चित हो जाती

सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, भगिनी निवेदिता कॉलेज, नई दिल्ली, मो. ०९९५३१९८०१६

है और दोनों तरफ से बारात आ जाती है। राजा वीरनदेव समझ गये कि, अब हजारों लोग डोली के लिये लड़कर मर जाएंगे। इसे रोकने के लिए वे कृष्णा के पास जाकर कहते हैं : ''पता नहीं मैंने ठीक किया है या भूल की है। बेटी मैंने तुम्हारी शादी भोजराज से तय की थी एक आदर्श के लिये। टुकड़ों–टुकड़ों में बँटे राजपूतों को बचाने का मेरे पास यही रास्ता था बेटी। पुरखों से चली आ रही दुशमनी को खत्म करने के लिये मैं अपने जान के टुकड़े की कुरबानी दे दूँ। किन्तु सब बेकार हो गया। हजारों राजपूतों को कटमरने से बचाने का मेरे पास कोई रास्ता नहीं है। अब इसे तुम बचा सकती हो बेटी।'' यह कहकर वीरनदेव ने कृष्णा को हीरे की अंगूठी दी। दुल्हन बनी कृष्णा ने मृत्यु का वरन् करने के पिता के आदेश को स्वीकार किया और राजपूती खून कि नदी बहने से बचा लिया। वीरनदेव की पत्नी रानी कुंवर बाई राना विक्रमजीत से बड़े गर्व से कहती हैं : 'मुझे गर्व है अपने पति पर जो अपने देश की जरूरत के लिये अपनी बेटी को जहर दे सकता है। और उस से भी ज्यादा गर्व है अपनी बेटी पर जिसने पिता के आदर्श के लिये एक सवाल नहीं पूछा।''

प्रतिष्ठा हत्या की बढ़ती घटनाओं को स्मरण करते हुए हम आसानी से समझ सकते हैं कि राजनीतिक हितों के लिए स्त्री के जीवन के साथ ही मृत्यु का भी उपयोग करना मध्ययुगीन समाज का यथार्थ था और बहुत हद तक आज के सत्ताधारी और धनाड्य वर्ग का भी चरित्र है। इस कवायद में समाज और परिवार का सहर्ष सहयोग मिलता है। इन सहयोगियों में स्त्री भी शामिल है जो अपनी ही बेटी–बहू के जीवन का मूल्य तय करने वाली पुरुष सत्ता का समर्थन करती है। यही कारण है कि पितृसत्तात्मक समाज एक के बाद दूसरी स्त्री की लगातार कुर्बानी लेता रहता है। राणा विक्रमजीत को कृष्णा की हत्या एक चाल लगी। उनके क्रोध को शांत करने के लिए तथा राजपूती एकता के निमित्त एक स्त्री की बलि ले चुके आदर्श के लिए वीरनदेव ने कृष्णा के बदले अपने भाई की बेटी मीरा का विवाह भोजराज के साथ कर दिया। जाहिर है इन सबमें स्त्री की मर्जी का सवालं एक बेतुका प्रश्न था।

मध्ययुगीन ऐतिहासिक पात्र मीरा की कहानी के मिथक के माध्यम से आधुनिक समाज में स्त्री की स्थिति रेखांकित हुई है जो जीवन पर्यंत परतंत्रता की बेड़ियों से जकड़ी रहती है। जिसका जीवन और जिसकी मृत्यु सामाजिक उपयोगिता के लिए है। जिसके जीवन और कर्म पर स्वयं उसका किसी तरह का हक नहीं स्वीकार किया जाता है। जिसकी स्वतंत्रता सामाजिक घृणा पैदा कर प्रतिष्ठा हत्या का कारण बनती है। इस फिल्म के आरंभ में कृष्णा से अपने आदर्श के लिये जहर खाने का अनुरोध किया जाता है और वह जहर खा लेती है। फिल्म के अंत में मीरा को समाज के ठेकेदार जबरदस्ती जहर दे देते हैं। मीरा का अपराध यह है की वह इस शरीर को नश्वर मानती है, इसीलिये वह किसी पुरुष को नहीं अपितु आदी पुरुष कृष्ण को अपना पति मानती है। परदाप्रथा, जाति, स्त्री–पुरुष का भेदभाव करने वाले समाज के नियम उसे व्यर्थ मालूम होते हैं। आजदी की ओर उठाए गए शुरुआती कदम के साथ ही मीरा को उदा तथा अपने पति के द्वारा भी मर्यादा के नाम पर परतंत्रता की जंजीरों के भीतर रहने की नसीहत दी गई : '**मीरा**– इस घर में भजन–कीर्तन की रस्म नहीं है क्या! **भोजराज**– इस घर की यही रस्म है कि, इस

घर की बहू–बेटियां बिना आज्ञा के घर से बाहर नहीं जाती। **मीरा**– आपने कहा था मैं इस घर में बन्दी नहीं हूं। **भोजराज**– तुम आजाद हो मैंने यह भी नहीं कहा था।''

स्त्री को उसकी वास्तविक हैसियत बताने के लिए पति अपने घर से निकालकर निराश्रित कर देता है और मायके में भाई उसे आश्रय नहीं देता है। पुरुष सत्ता स्त्री को इस तरह यह समझाने की कोशिश करती है कि सुखी और सुरक्षित रहने के लिए उसे पितृसत्तात्मक समाज की मर्यादाओं के नाम पर थोपी गई परतंत्रता स्वीकार करनी पड़ेगी। ऊदा मीरा के विरुद्ध राना विक्रमजीत को भड़काने में सफल हो जाती है और मीरा को मायके जाने का हुक्म दे दिया जाता है। मेवाड़ पहुंचने पर भाई जयमल यह कहकर मीरा को लौटा देता है कि– ''अब उसके पाप–पुन्य सब पति के घर में हैं।'' निराश होकर मीरा को पतिगृह में लौटना पड़ा। वह घर से बाहर न जाए इसलिए भोजराज घर में ही कृष्ण का मन्दिर बनवा देते हैं। मीरा को यह लगना स्वाभाविक है कि उसका न कोई मेवाड़ में है न चित्तौड़ में। वह मेवाड़–चित्तौड़ के बंधन को तोड़कर कृष्ण के भजन में और सत्संग तथा कीर्तन में डूब जाती है। उसकी कृष्णभक्ति तथा साहस से से प्रभावित होकर बादशाह अकबर ने अपनी माला उपहार में दे दी।

स्त्री का साहसी और सम्मानित होना पुरुष को सहज रूप से स्वीकार्य नहीं हो पाता है। मीरा का साहस राना की नजरों में इतना बड़ा अपराध होता है कि वह धर्म–अदालत बुलाकर मीरा को सजा देने का अनुरोध करते हुए उसके अपराध गिनाता है– ''प्रथम धर्मशास्त्र और समाज के नियम के अनुसार निश्चित है कि, पत्नी अपने पति का धर्म स्वीकार करे। मीरा ने अपने पति का धर्म स्वीकार करने से इनकार किया। मीरा ने परपुरुषों से संबंध जोड़े।''

मध्ययुगीन सामंती समाज में स्त्री बिस्तर की शोभा तथा घर की टहल करने वाली दासी से अधिक अपना कोई महत्व नहीं रखती थी। एक पुरुष के मरने पर कई–कई स्त्री उसके साथ जल जाती थीं या जला दी जाती थीं। किन्तु उनकी आह सुनने के लिये कोई धर्म–अदालत नहीं थी। मीरा पर परपुरुषों से संबंध का लांछन लगाकर आजादी की ओर बढ़ते कदमों पर ऐसा कुत्सित आघात किया गया कि दूसरी स्त्रियों की रूह काँप जाये और फिर कोई ऐसा साहस न कर सके।

आधुनिक समाज मध्ययुग से बहुत आगे बढ़ चुका है। किंतु वास्तव में स्त्री की स्थिति में बहुत बुनियादी परिवर्तन अभी नहीं आए हैं। आज भी स्त्री पर पहला और सबसे ताकतवर हमला उसके चरित्र हनन से शुरू होता है। मीरा द्वारा निर्भीक होकर अपने अधिकार की बात करते हुए दिए गए साहसपूर्ण उत्तर धर्म–अदालत की कार्यवाई को आधुनिक चेतना की उपज साबित करते हैं। मीरा से पुरोहित और महंत पुरुष अधिकारों का प्रश्न उठा रहे थे और मीरा स्त्री के अधिकारों और साहस का परिचय दे रही थी–

''**पुरोहित**– क्या तुमने अपने पति का धर्म स्वीकारने से इनकार किया?

मीरा– मारो धर्म तो एकहि साँचो, भवसागर संसार सब आँचो।

महन्त– क्या तुम स्वीकार करती हो कि भोजराज के अलावा कोई और भी तुम्हारा पति है?

मीरा– जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई।

महन्त– तो अदालत यह मान ले कि तुम्हारे एक नहीं दो पति हैं?

मीरा– मेरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई।

महन्त– पत्नी होने के नाते पति के प्रति तुम्हारे क्या कर्त्तव्य हैं। उसे संतान भी दे सकती हो जिसे तुम अपना पति मानती हो। नारी का यह कर्त्तव्य तो तुम अच्छी तरह जानती होगी?

मीरा– मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं। मैं भावना हूँ, किसी समाज का विचार नहीं। मैं प्रेमी हूँ, प्रेमिका नहीं। केवल प्रेम नाम की जोगन किसी संबंध की कड़ी नहीं, किसी परिवार के खूँटी से बंधी साँकल नहीं।''

मीरा का मिथक आधुनिक संदर्भ में अपने अधिकारों के लिए संघर्षरत स्त्री का और उसके मार्ग में पुरुषवादी समाज द्वारा पैदा की गई मुश्किलों का प्रतीक बन जाता है। वह मानव होने के कारण प्राप्त अपने अधिकारों को छोड़ने को तैयार न थी। उसके हर तर्क को धर्म व समाज के ठेकेदारों ने नकार दिया क्योंकि उसने अपने शरीर पर पुरुष को अधिकार नहीं दिया और संतान उत्पन्न करने वाली मशीन नहीं बनी। यह बिडंबना है कि इससे स्वयं उसके पति भोजराज को कोई शिकायत नहीं थी। स्पष्ट है कि मीरा को केवल इसलिए दंड दिया जा रहा था कि पुरुष सत्ता का वर्चस्व स्थापित रहे।

मीरा के जहर का प्याला पीकर भी जीवित रहने का मिथक स्त्री संघर्ष को अनेक संकटों के बावजूद जारी रखने का प्रतीक है। स्त्री की स्वतंत्रता और आत्मनिर्णय के अधिकारों की लड़ाई मीरा की मिथकीय कहानी के सहारे अविजित संघर्ष प्रस्तुत करने का माध्यम बन जाती है। साठ–सत्तर के दशक में देश भर में चल रही राष्ट्र–राज्य निर्माण की एकाकी और वर्चस्ववादी कवायद के बीच उक्त फिल्में स्त्री सवालों को पूरी ऐतिहासिक और मिथकीय पुनर्निर्मिति के जेरेअसर उठाती हैं।

...

सिनेमा में दलित, सभ्य समाज और सरकार

राकेश पति

सिनेमा कहते ही हमारे सामने एक रूपहला पर्दा नमूदार हो जाता है जिसमें अजब–गजब तरीके से जीवन को दिखाया जाता है। जिसमें कुछ ही समय में समाज के दर्शन कराये जाते हैं। उसमें व्याप्त बुराईयों को नग्न रूप में कम किन्तु आध्यात्मिक चश्मे से लौकिक से अलौकिक समाधान प्रस्तुत करते दिखाया जाता है। सिनेमा में समाज, धर्म, आध्यात्मिक राजनीति को गड्डमड कर प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की फिल्मों को 'प्रायोजित फिल्म' की संज्ञा दी जाती है। यह पूर्णतः व्यावसायिक होती है। यह उदार नीति–नियन्ता, उद्योगपतियों द्वारा 'सेंसर प्रमाणित' होकर जनता के सामने प्रस्तुत की जाती है। सरकार सामाज के सामने चुनने का विकल्प कुछ इस प्रकार रखती है :

अ : फिल्म यथार्थ से कोसों दूर है।

ब : विकास को बेहतर तरीके प्रस्तुत गया है।

स : आज दलित हाशिये पर नहीं केंद्र में हैं।

द : अदृश्य भारत (दलित व आदिवासी) कोरी गप्प हैं

इनमें से किसी एक सर्वोत्तम विकल्प का चयन कर हमें एस.एम.एस. करें और जीतें आकर्षक ईनाम साथ ही छोटे शब्दों में लिखा होगा 'शर्तें लागू'। अब ज़नता दुरभि–संधि में फँसकर हिचकोले खाती रहती है। दलित अपनी आदर्शात्मक उपस्थिति फिल्मों में दर्ज कराते रहते हैं और समाज के सभ्य लोग वाह! वाह! कर ताली पीटते हैं। इसका दूसरा पहलू देखा जाय तो सवाक फिल्मों में 'चंडीदास' (१९३२) ऐसी फिल्म थी जिसने भक्ति और आध्यात्म की भावभूमि के साथ पहली बार सामाजिक ठिठुरन को पर्दे पर रूपायित किया।[1] एक अछूत कन्या से वैष्णव कवि चंडीदास के प्रेम–प्रसंग को इसमें कुरेदा गया था। सामाजिक द्वंद्व को रेखांकित किया गया था। शरतचन्द्र चटर्जी की कथा पर आधारित फिल्म 'देवदास' में जाति बंधन के कारण अपनी प्रेमिका को न पा सकने के दंश को झेलते युवक को वाणी मिली इसी काल में वी.शांताराम की फिल्म 'दुनिया न माने' तथा 'आदमी' में। समाजगत विसंगतियों को प्रमुखता से इनमे प्रस्तुत किया गया था। *इप्टा* का योगदान फिल्म जगत में भुंलाया नहीं जा सकता। इसने भारत की स्वतंत्रता से पूर्व

शोधार्थी, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, मो.०९४५०१३३१२९

सिनेमाई संकल्पना को एक उर्वर भूमि प्रदान की, जिससे अर्थपूर्ण फिल्में बनाई जा सकें। समाज व सरकार को सक्रिय किया जा सके। फिल्म समितियों के जन्म ने फिल्म की राह को सुगम तो बनाया ही साथ ही अपनी दोहरी भूमिका (एक ओर अच्छी फिल्मों की व्यवस्था दूसरी ओर फिल्मों मे सौन्दर्य दृष्टि व तकनीकी बढ़ाने की लिए कार्यशाला व चर्चा सभाओं का आयोजन) को निभाया भी। इस प्रकार सार्थक फिल्मों की शुरुआत सत्यजीत राय की फिल्म **पथेर पांचाली** से होती है। ***अछूत कन्या*** (१९३६) मे दलित युवती कस्तूरी (देविका रानी) व नायक (अशोक कुमार) के बीच उपजे प्रेम व अनुषंगी सामाजिक–सांस्कृतिक समस्याओं को दर्शाया गया। विमल राय की फिल्म ***सुजाता*** (१९५९) आई। ***दामुल*** (१९८५) में दलित बंधुआ मजदूर के जीवन को, उसकी आर्थिक कमजोरियों तथा सामाजिक कट्टरवाद को तीखे रूप मे प्रस्तुत किया गया।[१] ***रुदाली*** फिल्म मे राजस्थान की उन दलित जातियों की स्त्रियो की विवशता का वर्णन है जो उच्च वर्ग के पास उनकी हवेली में जाती हैं। वे वहाँ झूठमूठ का रोती है। किन्तु नायिका इस त्रासद सच्चाई को जानकर उससे छुटकारा न पा सकने की विवशता के कारण चीख कर रोती है। किन्तु उसकी आवाज कोई नहीं सुनता। उसकी विवशता को कोई नहीं जानने का प्रयास करता है। रेखा कपूर की **बैंडेड क्वीन** (१९९४) फिल्म दलित स्त्री के दैहिक शोषण व सामाजिक तिरस्कार व सरकार के नकार को दर्शाती है। सरकार को आईना भी दिखलाती है। ऐसी सशक्त जुझारू महिलाओं को राजनीति के दावपेंच में फँसाकर उसकी हत्या सरकार के नुमाएंदों के इशारे पर करवा दी जाती है। उसके हत्यारों को आज तक फाँसी नहीं दी गयी। सरकार विकास के विभ्रम में न्याय की मनभावन लोरी सुनाती रही और तथाकथित सभ्य शिक्षित जनता सोती रही। इसी प्रकार की घटना के समक्ष एक फिल्म आयी **बवंडर**, जिसमें राजस्थान की दलित जाति की स्त्री भँवरी देवी के साथ उच्च वर्ग के सामंती मानसिकता वाले सभ्य लोगो द्वारा समूहिक बलात्कार किया जाता है। न्यायालय उन्हें संदेह का लाभ देते हुए छोड़ देता है।

श्याम बेनेगल की **वेलकम टू सज्जनपुर** (२००८), मनिरतनम की ***रावण*** (२०१०), ***पिपली लाइव*** (२०१०), प्रकाश झा की ***आरक्षण*** (२०१२), संजीव जायसवाल की **शूद्र** (२०१२) कुछ ऐसी फिल्में हैं जो दलित समाज के दर्द को सभ्य समाज के समक्ष तीक्ष्णता से प्रस्तुत करती हैं। इसमें सरकार के तथाकथित विकास का एजेंडा साफ दिखता है। वे किसका विकास, किसका संरक्षण व प्रोत्साहन कर रही हैं, सवाल बना ही रहता है। कलारूपों के बहाने सरकार अपनी तथाकथित वोटबैंक की कवायद को ही पुष्ट करती दिखाई पड़ती है। सार्थक फिल्मों के इस प्रवाह को देखें तो पायेंगे की सिनेमा ने अपनी सामाजिक बोध की पगडण्डी को नहीं पकड़ा और व्यावसायिक दलदल में चला जा रहा है।[२] सन १९७१ ई. में मृणाल सेन ने **कलकत्ता ७१**, **इंटरव्यू**, **पदातिक** और **कोरस** जैसी फिल्मों के द्वारा सामाजिक उथल–पुथल, बेकारी, आक्रोश को अभिव्यक्ति प्रदान की।

देश के दूसरे कोनों अर्थात अन्य राज्यों से भी दलितों की समस्या को उनकी विवशता, आक्रोश, संघर्ष को फिल्मो में दिखाया गया। कन्नड़ फिल्म **संस्कार**, **वंशवृक्ष**, **काडू**, **चोमन तोंडी** और **घटश्राद्ध** हिन्दू सामाज के भयंकर घिनौने और अमानवीय चेहरों को बेनकाब करती है। एक अच्छी

फिल्म हमें 'देखना' सिखाती है। सिनेमा के यथार्थ से हम जीवन के यथार्थ को एक नयी दृष्टि से देखने लगते हैं। यह फिल्मो के मनुष्य पर पड़ने वाले सार्थक प्रयास को प्रकट करता है।

आर्थिक उदारीकरण और भूमंडलीकरण के साथ इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में हुई क्रांति ने जनमानस को लुभाने के लिए अनंत सतही और मूल्यहीन सामग्री मुहैय्या करा दी है।[४] इस कारण से सिनेमा में सभ्य समाज व सरकार विपरीत धुरी पर खड़े दिखते हैं। सत्यजीत राय की फिल्म *सद्‌गति* में पहली बार अन्याय, असमानता और अमानवीयता के प्रति सच्चा और बेहद तीखा आक्रोश व्यक्त हुआ है। एक ऐसा आक्रोश जिसने सौन्दर्य के मायने को बदल दिये। जिसने कठोरता को उसके नग्न रूप में समाज के सामने प्रस्तुत किया। मृणाल सेन ने **कफन** पर आधारित फिल्म तेलगु भाषा में ***ओका ओरी कथा*** बनाई। फिल्म में **कफन** की नयी व्याख्या करते हुए उसके अपूर्व आयामों को विस्तार दिया गया है। मृणाल सेन ने अपने जीवन दर्शन और दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए घीसू व माधव के नाम में परिवर्तन (वेंन्काया और किस्तिया) तो किया ही है; साथ ही उनके बुनियादी स्वभाव दर्शन को नए रूप में प्रस्तुत किया है। मृणाल सेन वेन्काया के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहते हैं : ''जो काम नहीं करता है वह भी भूखे मरता है और जो काम करता है उसे भी इतना कम मिलता है कि उसे भी भूखे ही मरना पड़ता है, तो ऐसे में काम करने से क्या लाभ?''[५] यहाँ एक प्रकार से नकार का दर्शन है जिसमें नकार को एक अस्त्र की तरह प्रयुक्त किया गया है।

सिनेमा में अंकित सभी पहलुओं को देखने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आज भी दर्शक सार्थक एवं कलात्मक फिल्मों की चाहत रखता है। सभ्य समाज को आज नहीं तो कल इस नग्न सत्य को स्वीकारना होगा और बराबर का स्थान सभी क्षेत्रों में देना ही होगा. तभी वह विकास को गढ़ सकेगा। यह परिवर्तन अवश्यंभावी है। सिनेमा जगत लुके–छिपे रूप में मान तो रहा है किन्तु आज भी सरकार की भूमिका संदिग्ध बनी हुई है।

सन्दर्भ :

१. भारतीय सिनेमा का अंत:करण : विनोद दास, मेधा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण २००९, लेख– 'सिनेमा की दूसरी परम्परा', पृ. ७

२. 'सिनेमा के दलित, आदिवासी प्रश्न' : गंगा सहाय मीणा, जनसत्ता से साभार

३. भारतीय सिनेमा का अंत:करण : विनोद दास, मेधा बुक्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण २००९, लेख– 'सिनेमा की दूसरी परम्परा', पृ. ८

४. वही, पृ. १३

५. वही, पृ. १६५

•••

प्रकाश झा की फिल्मों में सामाजिक यथार्थ

आलोक कुमार

सन्दर्भ–प्रसंगवश भारतीय फिल्मों में यथार्थ चित्रण के सन्दर्भ में सत्यजीत रे एवं वी. शांताराम का स्मरण आना स्वभाविक है। समकालीन सिनेमा में प्रकाश झा और विशाल भारद्वाज ने इसी परंपरा को आगे बढ़ाया है। प्रकाश झा हिंदी फिल्म जगत के एक ख्याति प्राप्त एवं सिद्धहस्त निर्माता–निर्देशक हैं। इस सशक्त विधा में उन्होंने अपने अथक एवं निरंतर प्रयास से अपनी खास शैली को विकसित किया है। तकरीबन हर एक फिल्म में उन्होंने समाज एवं देश को आईना दिखाया है। अपनी फिल्मों के जरिये दर्शकों का मनोरंजन करने के साथ–साथ उनके अंतर्मन को झकझोरने में वे ज्यादातर सफल रहे हैं। यही उन्हें अपने दर्शकों से संवाद करने की स्थिति में ले जाता है और यही उनके निर्माण–निर्देशन की प्रक्रिया को यथार्थ के करीब ले जाता है। लेकिन इस निर्माण–निर्देशन की प्रारंभिक प्रक्रिया में वे अपने कलाकारों से भी संवाद स्थापित करते हैं– अपने विजन स्टेटमेंट के जरिये। तदनुरूप फिल्म का हर कलाकार उनके विजन को चित्रपट पर चरित्र के रूप में दर्शाता ही नहीं बल्कि उसको जीता भी है। यह लेख उनकी इस यथार्थवाद की विकास यात्रा के अवलोकन का प्रयास मात्र है।

भारतीय सिनेमा के सौ वर्षों की यात्रा के शुरुआती चरण में पटकथा समाज के यथार्थ को ध्यान में रख कर लिखी जाती थी। कालांतर में इस प्रवृत्ति में परिवर्तन आया। भारतीय सिनेमा के इस यथार्थवादी यात्रा में भटकाव देखने को मिला। संभवतः यह भटकाव समाज में आये भटकाव की ओर इशारा करता है। इस दौर में सिनेमा का सारा तानाबाना किसी दिवास्वप्न से कम नहीं था। सन् ४७ में आजादी के बाद गरीबी, निरक्षरता और अन्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के यथार्थ पर केन्द्रित पटकथा लिखी जाती थी। सत्यजित रे, मृणाल सेन, शांताराम एवं सोराब मोदी कुछ ऐसे चुनिंदा निर्देशक थे– जिन्होंने इन समसामयिक मुद्दों को अपनी फिल्मों में जगह ही नहीं दी बल्कि फिल्मों को एक सामाजिक दस्तावेज की हैसियत मुहैया कराई। सत्तर के दशक में **अंकुर**, **आक्रोश** आदि फिल्मों में एक साधारण भारतीय के मूड को बखूबी कैप्चर किया। अस्सी के दशक में प्रकाश झा ने भारतीय दर्शकों को *दामुल* और *परिणति* जैसी फिल्में दीं। अस्सी के दशक में

सुपुत्र : प्रो. ए.पी.झा, एम. ४८ (पुराना), आदित्यपुर, जमशेदपुर, झारखण्ड, मो. ०९८८६५७२९४८

भारतीय फिल्मी जगत मे एक निराशा का माहौल था। इस दौर में ज्यादातर बी श्रेणी के फिल्मो का निर्माण हुआ। प्रकाश झा ने अपनी दूसरी पारी मे एक से एक उम्दा फिल्मों का निर्माण एव निर्देशन किया जो समाज के यथार्थ चित्रण के साथ–साथ व्यावसायिक रूप से भी सफल रहीं।

हिप–हिप–हुर्रे (१९८३) से प्रकाश झा ने बकायदा शुरुआत की। खेल–खिलाड़ी की पृष्ठभूमि मे बनी यह फिल्म शिक्षक–विद्यार्थी के रिश्ते में एक मनोवैज्ञानिक यथार्थ की जटिल संरचना को सामने रखती है। नायक संदीप चौधरी, नायिका और विद्यार्थी के बीच प्रेम के विविध ा प्रतिदर्श कही न कही राजकपूर के मेरा नाम जोकर की याद दिला जाते हैं। लेकिन इस फिल्म की यथार्थवाद के विकास क्रम मे विशिष्टता यह है कि फिल्म घटना–विधान के अंतर्गत सामाजिक भ्रष्टाचार को साथ–साथ आलोचित करती है। फर्जी चिकित्सकीय प्रमाण–पत्र वाले प्रकरण में यह लक्षित किया जा सकता है। यह फिल्म खेल को महज मनोरंजन से परे समूहबोध और एकत्व की भावना के आदर्श के रूप में उपस्थित करती है।

धीरे–धीरे प्रकाश झा जटिल सामाजिक यथार्थ को घटनाओं और स्थितियों के प्रतीकात्मक फिल्मांकन में अभिव्यक्त करते दिखाई पड़ते हैं। *दामुल* एक जमींदार के बंधुआ मजदूर की मृत्युपर्यन्त गुलामी की कहानी है। पनाह और फिरौती के बीच साजिश की कहानी! उसे चोरी करने पर विवश किया गया। इस फिल्म का कथानक सामंती परिवेश पर करारा प्रहार करता है। फिल्म में राजनीतिक व जातीय समीकरण में पिछड़ों के शोषण का दस्तावेज है। बंधुआ मजदूर के घुटन का दस्तावेज! बंधुआ के प्रति नृशंस उत्पीड़न का स्क्रीनप्ले उसकी पीड़ा के हृदय–विदारक मर्म को समझने में दर्शक की करुणा को जगाता है। इस फिल्म में बिहार के गरीब ग्रामीणों की आजीविका की तलाश में पंजाब जैसे समृद्ध राज्यों में पलायन और प्रवास के मुद्दे पर भी प्रकाश डाला गया है। इस फिल्म में कई समकालीन घटना–क्रम का समावेश मिलता है। मैंने इस फिल्म को किसी सिनेमा घर में किसी मेनस्ट्रीम सिनेमा की तरह प्रदर्शित होते तो नहीं देखा लेकिन मुझे याद है– उन दिनों मैं सैनिक स्कूल तिलैया का छात्र था। उन्ही दिनों *दामुल* की स्पेशल स्क्रीनिंग हमारे स्कूल के ओ.ए.टी में की गई थी। सन १९८५–८६ की छुट्टी में मैं आसनसोल गया था। इन दिनों ही दूरदर्शन ने घरों के ड्राइंग–रूम में प्रवेश करना शुरू कर दिया था। उन्ही दिनों इस फिल्म की स्क्रीनिंग दूरदर्शन पर भी की गई थी। आसनसोल पश्चिम बंगाल का एक शहर है और वहां के लोगों ने फिल्म को देखा ही नहीं बल्कि पसंद भी किया और दो–तीन दिनों तक लोगों ने उस फिल्म पर चर्चा भी की। मेरा अनुमान है कि इस तरह की सार्थक बहसें देश के अन्य हिस्सों में भी हुई होंगी। मेरे ख्याल में यही इस तरह की यथार्थवादी सिनेमा की सार्थकता सिद्ध करता है। सन १९८५ में *दामुल* को राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार समिति ने सर्वश्रेष्ठ फिल्म का खिताब दिया गया। अंतरराष्ट्रीय फिल्मोत्सव में भी इसे उचित जगह मिली।

परिणति यथार्थवादी हिंदी सिनेमा की श्रृंखला में प्रकाश झा की दूसरी पेशकश थी। किसी साक्षात्कार में उन्होंने बताया था कि यह उनकी सबसे पसंदीदा फिल्म है। *परिणति* राजस्थान की एक प्रचलित लोककथा पर आधारित फिल्म है। धन के लालच से प्रेरित मनुष्य के सौदों में निहित त्रासदी को इस फिल्म की विषय–वस्तु बनाया गया है। यह धन लोलुपता मनुष्य को अनिवार्य

रूप से आत्म–विध्वंस की ओर धकेलता है। इस फिल्म का नायक है गणेश। वह एक कुम्हार है। वह अपनी धर्मपत्नी के साथ दूरदराज के एक गांव में जीवनयापन कर रहा होता है। उनकी जिंदगी से एक ही ख्वाहिश है– अपने बेटे लक्ष्मण की शादी कर घर में एक बहू लाने की। मगर जिन्दगी ने कुछ और सोच रखा था। उनकी मुलाकात एक संभ्रांत दम्पति से होती है और वे इनके सामने एक प्रस्ताव रखते हैं। प्रस्ताव था उनके बेटे को धनाड्य बनाने का और उन्हें मंजूर नहीं था उस संभ्रांत दम्पति का प्रस्ताव। मगर जिंदगी भी जैसे साजिश रच चुकी थी। संभ्रांत दम्पति ने गणेश दम्पति को सब्ज–बाग दिखाये और अन्तत: वे संभ्रांत दम्पति के झांसे में आ गए। वे धनाड्य बनने की कल्पना में भावुक हो गए। उन्हें क्या पता था जिंदगी ने एक घिनौनी साजिश रच रखी थी। उनकी यही भावना उन्हें बहा ले गयी और उनकी आत्मा को कलुषित कर बैठी। फिर शुरू होती है अंतहीन सी दास्तान उनके निरंतर धन–दौलत के दलदल में धंसते जाने की। वे धन लोलुपता में इस तरह जकड़ जाते हैं कि इससे निकल नहीं पाते हैं । वे धनाड्य बनने के चक्कर में अपना सर्वस्व लुटा बैठते हैं। अपनी संतान को भी खो देते हैं जिसका वे पिछले बारह सालों से इंतजार कर रहे थे। इस फिल्म का शिल्प और कथ्य दोनों ही सशक्त। आलोचकों ने फिल्म को पसंद किया। बॉक्स ऑफिस की कसौटी पर इसे सफल फिल्म नहीं कहा जा सकता। लेकिन इस फिल्म को रिलीज कर प्रकाश झा ने फिल्मी दुनिया में अपनी उपस्थिति दर्ज कर दी थी। प्रकाश झा ने इस फिल्म में अपनी शैली को विकसित किया और हिंदी फिल्म जगत में अपनी पहचान कायम की। जिस पृष्ठभूमि से वे आते हैं– एक मायने में उनके लिए यह एक बड़ी उपलब्धि थी। हालाँकि डाक्यूमेंट्री सिनेमा के जरिये समीक्षकों के बीच उन्होंने पहले ही अपनी पैठ बना ली थी। वर्ष १९८८ में फिल्म *परिणति* को राष्ट्रीय पुरस्कार में सर्वश्रेष्ठ कॉस्ट्यूम डिजाइन की केटेगरी में रजत कमल प्रदान किया गया। इसी वर्ष लंदन फिल्म महोत्सव में सर्वश्रेष्ठ फिल्म के रूप में भी इसे भेजा गया।

अपहरण (दिसंबर २००५) एक समसामयिक विषयवस्तु पर आधारित सिनेमा है। बिहार में पनप रहे अपहरण उद्योग जगत का जीता जागता दस्तावेज है यह फिल्म। अपहरण उद्योग जगत की पृष्ठभूमि में एक सिद्धांतनिष्ठ पिता और बेरोजगार पुत्र के बीच उभरते भिन्न वैचारिक समीकरण को इस सिनेमा का लबोलुआब बनाया गया है। पिता–पुत्र के बीच तनावपूर्ण और जटिल रिश्ते की कहानी है अपहरण। प्रकाश झा ने चरित्र और उसकी परिस्थिति की बुनावट को अपने क्राफ्ट से और भी निखार दिया है। यह फिल्म उनकी सिनेमाई यात्रा को भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक यात्रा की दिशा में निरंतरता प्रदान करती है। इस फिल्म ने हिंदी फिल्म–जगत के टिप्पणीकारों का ध्यान आकृष्ट किया। फिल्म समीक्षा में समीक्षकों ने प्रकाश झा और इस फिल्म के कलाकारों के काम की सराहना की।

आरक्षण फिल्म रिलीज होने से पहले ही विवादास्पद रही। फिल्म देखे बिना ही लोगों ने प्रकाश झा पर पिछड़ों और दलितों के प्रति दुर्भावना पालने का आरोप मढ़ दिया। इस फिल्म को लेकर यह विवाद बेमानी था। फिल्म की आलोचना हुई। यह अनावश्यक था। रिलीज होने के बाद फिल्म के समीक्षकों ने फिल्म के कथ्य का फिर से मूल्यांकन किया और न्यायसंगत आलोचना की। नक्सलवाद जैसी जटिल समस्या पर भी प्रकाश झा ने फिल्म का निर्देशन किया– फिल्म का

नाम था **चक्रव्यूह**। उन्होंने दोनों ही पक्षों को बेबाकी से प्रस्तुत किया। क्यूँ ये समस्या है, क्यूं लोग अपने ही लोगों के खिलाफ लड़ रहे है, क्यूँ लोग मर रहे हैं और मार रहे हैं– यह फिल्म एक गंभीर सवाल हमारे समय के सामने रखती है। इस फिल्म की खास बात ये थी कि यह दर्शकों को इस जटिल समस्या के प्रति अपनी समझ बनाकर समस्या के समाधान की ओर प्रेरित करती है। उनकी भागीदारी सुनिश्चित करती है। प्रकाश झा का कहना है कि अगर स्क्रिप्ट जानदार हो तो अच्छी फिल्म बनाना संभव होता है। वो फिल्म की स्क्रिप्ट को काफी तवज्जो देते हैं। प्रकाश झा की फिल्में आर्ट और कमर्शियल फिल्मों का संगम होते हुए वास्तविकता के करीब होती है। मुख्य रूप से प्रकाश झा वृत्तचित्र फिल्म के निर्माता थे। मेरी समझ में उनके प्रारंभिक दौर के इस एक्सपोजर ने यथार्थवादी सिनेमा के प्रति रुझान की नींव रखी। उन्होंने फिल्म निर्माण की प्रक्रिया में खुद के विकसित क्राफ्ट को बड़ी संजीदगी से प्रयोग किया है। प्रकाश झा की फिल्मोग्राफी किसी यात्री की यात्रा प्रतीत होती है– भारतीय समाज के बदलते परिदृश्य की यात्रा। एक क्रोनोलॉजी है भारतीय समाज के घटना–क्रम की। उनकी हर एक फिल्म का उनकी पिछली फिल्म के साथ एक लयात्मक सम्बन्ध रखती है। यही अन्य यथार्थवादी निर्माता–निर्देशक से उनको अलग श्रेणी में खड़ा करती है।

•••

जनजातीय समाज और भारतीय सिनेमा

तीर्थेश्वर सिंह

आदिकाल से जनजातीय समाज प्रकृति के आँगन में उन्मुक्त, चिन्तामुक्त और तनावमुक्त जीवन इसलिए जीता रहा है, क्योंकि उसकी आवश्यकताएं सीमित थीं, वनोपज उसकी आवश्यकता की पूर्ति करता रहा और वह विकास की अँधी दौड़ से निर्लिप्त रहा। आजादी के ६७ वर्ष के बाद भी वह आज जिस स्थिति में जी रहा है, वह सोचने को मजबूर तो करती ही है, हमे बेचैन भी करती है। इस संदर्भ में डॉ. विनायक तुकाराम कहते है कि 'सदियों से उसके हिस्से मौन आया है। वर्तमान स्थिति का कवच तोड़कर बाहरी संसार की ओर छलांग लगाने की चेतना का उदय उनकी सामूहिक जीवन शैली में अभी हुआ ही नहीं। कालबद्ध रूढ़िवादी परम्परा के शिकंजे से तो अभी भी मुक्त नहीं हुए है। ऐसा नहीं लगता है कि उन्हें अपनी स्थिति की गति का ज्ञान हुआ हो! आदिमों का आत्मानुभव, स्वधर्म में उनकी अटल श्रद्धा और स्वसंस्कृति से अत्यधिक प्रेम होने के कारण ही वे आज तक स्थापित जीवन मूल्यों को गले लगाए बैठे हैं। इन जीवन मूल्यों को नकारने के लिए आदिम मानसिकता अभी तैयार नहीं। चारों ओर से यह जीवन तबाही के मार्ग पर है। जीवन के हर क्षेत्र में एक तरह की पराजय उनके हिस्से आ रही हैं' यह तस्वीर जनजातीय समाज के जीवन यथार्थ का बयान करती है और हर संवेदनशील को इस विषय में लिखने और कुछ करने के लिए प्रस्तुत करती है।

साहित्य के केन्द्र में स्त्री और दलित विमर्श के साथ आदिवासी विमर्श भी है। अब तक जनजातीय अस्मिताओं का हर तरह से शोषण ही होता रहा है। वह मूकदर्शक बना रहा है। कभी महाजन तो कभी ठेकेदार तो कभी दलाल, तो कभी सरकारी तंत्र, सब उसके जंगलों और औरतों को लूटते रहे, वह देखता रहा। इस सन्दर्भ में रमणिका गुप्ता कहती हैं कि, ''आजादी के बाद देश के विकास का हर कार्यक्रम आदिवासी की कीमत पर हुआ है। विकास की कीमत वह अपने विस्थापन से अदा करता रहा है। उसके खेत खदानों में बदल गए और जंगल लकड़ी की टालों में समा गए। कुर्सियों, मेजों और फर्नीचरों में बदल गए। गाछ खूँटे बन गए और बन गये

आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इ.गाँ. रा. जनजातीय वि.वि., अमरकण्टक, मो.०९४२५३३१३०

रेल की पटरियाँ। अकाल के दिनों में सखुआ के बीज खाकर जिन्दा रहने वाला आदमी सखुओं की चोरी मे जेल में ठूँसा जाने लगा और दण्ड भरने लगा। सखुआ सेठ के ट्रकों में लदाकर अहों में भेजा जाता रहा है। इसीलिए उनकी मांदर हो या बाँसुरी सबके स्वर यथाशक्ति अपने स्वा बदलने का अभ्यास कर रहे हैं और साहित्य में भी उनकी पक्षधरता गूँजने लगी।''[1] इस प्रतिरोध धर्मी चेतना का विकास आदिवासी साहित्य और संस्कृति में तेजी से हुआ है। इसी पीड़ा को काव्यात्मक अभिव्यक्ति देते हुए आदिवासी रचनाशीलता विकसित हुई है। महादेव टोप्पो के शब्दों में : *महुए की बोतल में/ डुबोने की हो साजिश*

इस जंगल का कवि रहेगा भला कैसे चुप

वह धनुष उठाएगा/प्रत्यंचा पर कलम चढ़ाएगा

साथ में बाँसुरी और मांदर भी जरूर उठायेगा

जंगल के हरेपन को बचाने के खातिर[2]

साहित्य की हर विधा में जनजातीय समाज की पक्षधरता के साथ भारतीय सिनेमा के सौ वर्षों के स्वर्णिम इतिहास पर दृश्य डाले तो जनजातीय समाज के बहुतेरे चित्र उसमें मिल जायेंगे लेकिन जितना होना चाहिए वह नहीं है।

काव्यशास्त्र में काव्य के मुख्यत: दो भेद माने गये हैं : दृश्यकाव्य और श्रव्यकाव दृश्यकाव्य परम्परा में प्रारंभ में केवल नाटक था। बाद में इसके कई भेद सामने आये, जैसे एकांकी, नुक्कड़ नाटक, रेड़ियो नाटक आदि। दृश्यकाव्य का ही एक नया तकनीकी विकास है सिनेमा। माना यह जाता है कि आजादी के पहले १९३८ के आसपास जहाँ एक ओर फारसी हिन्दी रंगमंच अपनी चरम स्थिति में जाकर हिन्दी सिनेमा के अंक में समा जाता है, वहीं दूसरी तरफ हिन्दी का शौकिया रंगमंच भी केवल एंकाकी नाटक प्रदर्शन वह भी केवल कॉलेज, विश्वविद्यालय के रंगमंच तक सीमित हो जाता है। यह शून्यता आजादी तक बनी रही। आजादी के आसपास इस रंगमंच का मूल केन्द्र बंगाल व महाराष्ट्र था। इस समय बम्बई का पृथ्वी थियेटर शुद्ध व्यावसायिक रंगमंच के रूप में चर्चित था जो हिन्दी सिनेमा को अपनाने की होड़ में फारसी थियेटर से अलग रंगकर्म की नयी दुनियाँ को निर्मित करने में समर्पित था। इस संगठन का दर्शकों से खूब जुड़ाव था। हालांकि हिन्दी सिनेमा १९१३ के आसपास विकसित होने लगा और तब हिन्दी नाटक प्रौढ़ होता जा रहा था ।

भारतीय समकालीन सिनेमा को बाजारीकरण, सौदागरीकरण और उपभोक्तावाद की दृष्टि से अथ से इति तक देखें तो कुछ प्रशंसनीय तो कुछ प्रश्नांकित बिन्दु सामने आयेंगे। लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि आज हिन्दी सिनेमा पूरे विश्व में अपनी अलग पहिचान और नजरिया रखता है। विशय की दृष्टि से देखे तो १९८० के पूर्व कई ऐसे फिल्म निर्माता हुए जिन्होंने बड़ी उद्देश्य पूर्ण फिल्म का निर्माण किया। लेकिन उसमें बाजार प्रभावी बन गया। भारतीय सिनेमा के विविध रंग और आयाम रहे। उसमें समाज है, राजनीति है, धर्म है, संस्कृति है, मनोरंजन है और है, बहुरंगी जीवन दर्शन। इसी कड़ी में जनजातीय जीवन को लेकर कुछ महत्वपूर्ण फिल्म का

निर्माण कई निर्देशकों ने किया जिनमें मृणाल सेन, रामानंद सागर और प्रकाश झा आदि महान फिल्म निर्देशकों का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने अपनी फिल्म में जनजातीय जीवन का चित्रण कर मानवता के सामने कई सवाल छोड़े हैं। जनजातीय समाज के शोषण की अनेक गाथाएँ हैं। उन्हीं में एक गाथा को लेकर महान फिल्म निर्माता मृणाल सेन ने एक फिल्म बनाई ***मृगया***। अभिनेता के रूप में मिथुन चक्रवर्ती की यह प्रथम फिल्म थी। बेहतरीन पटकथा और अच्छे फिल्माकंन के कारण इस फिल्म को राष्ट्रीय पुरस्कार मिले। आपातकाल के समय इस फिल्म का निर्माण हुआ। ***मृगया*** फिल्म में मिथुन चक्रवर्ती धिनुआ नामक पात्र के चरित्र को जीता है, जो तीरंदाजी में निपुण था और सटीक निशाने पर अंग्रेज अधिकारी अक्सर उसे पुरस्कृत करते रहते थे। जिस गाँव में वह रहता था, उस गाँव का साहूकार पूरे आदिवासियों का सुनियोजित तरीके से शोषण करता रहता था। धिनुआ उससे पैसा उधार लेता है परन्तु लौटाने में असमर्थ हो जाता है। साहूकार उसकी पत्नी का अपहरण कर लेता है। धिनुआ क्रोध में आकर तीर चलाकर उसकी हत्या कर देता है। वह छल–प्रपंच से दूर आक्रोश में यह कार्य तो कर देता है, लेकिन पकड़ा जाता है और उस पर मुकदमा चलता है। अन्तत: उसे फाँसी हो जाती है। जिस धिनुआ को जंगली जानवर पर सटीक तीर चलाने पर इनाम मिलता है, उसी धिनुआ को राक्षसी प्रवृत्ति के साहूकार को मारने पर फाँसी। इस फिल्म का अंत दर्शक को झकझोर देता है। पूरे फिल्म में मिथुन ने बहुत कम संवाद कहे हैं। आँखो से अपनी बात ज्यादा कही है। अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में भी यह फिल्म गई। यह फिल्म कई सवाल छोड़ जाती है और आदिवासी संस्कृति तथा उनके शोषण की जो गाथा इस फिल्म में आई वह भारतीय सिनेमा में कम देखेने को मिलती है।

इसी तरह रामानंद सागर की फिल्म ***प्रेमबंधन*** आदिवासी युवती के संघर्ष की गाथा है। यह फिल्म १९७९ में बनी। ***प्रेमबंधन*** की कथा आदिवासी युवती महुआ (रेखा) के इर्द–गिर्द घूमती है। आदिवासी युवती महुआ (रेखा) अपने पिता के साथ मछुआरों के एक गाँव में रहती है। गाँव के मन्दिर का पुजारी समुद्र के किनारे एक अनजान युवक को बेहोशी की हालत में देखता है तो महुआ के पिता से अनुरोध करता है कि वह युवक की सेवा करे। अच्छे देख–रेख से बेहोश युवक (राजेश खन्ना) कुछ ही दिन में ठीक हो जाता है, परन्तु उसकी यादाश्त खो जाती है। इधर महुआ और किशन एक दूसरे के प्रति आकर्षित हो प्रेमबँधन में बंधकर विवाह कर लेते हैं। कुछ दिन बाद किशन शहर जाता है और वापस नहीं लौटता। दु:खी और परेशन महुआ किशन को खोजने शहर आती है और क़िशन को खोज लेती है, वह जिसे अपना किशन समझती है, वह अपने को मोहन खन्ना बताता है। यह फिल्म अपनी व्यंजकता में किशन और महुआ की कथा के बहाने शहरीकरण और आदिवासी दर्शन के बीच के एक भयावह अंतराल को ध्वनित करती है। इसी तरह ***चमेली मेमसाब*** १९७५ की बनी असमिया भाषा की ऐसी फिल्म है जो आदिवासी लड़की पर केन्द्रित थी जिसमें राखी ने कुशल अभिनय किया। बाद में इस पर हिन्दी और बंगला भाषा में भी फिल्म निर्माण हुआ। यह चाय बागान में काम करने वाली आदिवासी लड़की और चाय बागान के एक अंग्रेज मेनेजर के प्रेम की कहानी है। ***एक थी गूंजा*** फिल्म पूरी तरह नायिका नंदिता सेन की फिल्म है जो एक आदिवासी औरत की सच्ची कहानी पर आधारित थी। इस फिल्म की नायिका औरत

की शिक्षा के लिए लड़ती है और समाज के विरोध के चलते अन्ततः आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो जाती है। इधर प्रसिद्ध फिल्म निर्माता प्रकाश झा ने **चक्रव्यूह** फिल्म बनायी जो नक्सलवाद पर आधारित है। इस फिल्म की कहानी बस्तर क्षेत्र के जनजातीय जीवन और नक्सलवादी आन्दोलन को केन्द्र में रखकर की गई है। पूरी फिल्म की संवेदना यह है कि गोली सुरक्षा बल चलाये या नक्सली, अन्ततः अहित आदिवासियों का ही होता है।

भारतीय सिनेमा विश्व में अलग पहचान रखता है, व्यापार की दृष्टि से भी और प्रयोगधार्मिता की दृष्टि से भी। बड़े फिल्म निर्माताओं ने कलात्मकता, मनोरंजन और व्यावसायिकता का समन्वय कर फिल्म निर्माण कर रहे हैं। विषय की दृष्टि से हर अनछुए पहलुओं पर उन्होंने कुछ न कुछ सोचा और फिल्म निर्माण किया है। आदिवासी जीवन के चित्र भी अछूते नहीं है। उन्होंने जनजातीय समाज की अस्मिता, विश्वास, परम्परा और उनके संघर्ष की गाथा को स्थान देकर न केवल मानवीय चेतना और अपनी जिम्मेदारी का उदाहरण प्रस्तुत किया है, बल्कि पूरे समाज के सामने कुछ करने की प्रेरक स्थितियाँ भी प्रस्तुत की हैं। जनजातीय जीवन जो सर्वाधिक रागात्मक और मानवीय होते हुए भी सर्वाधिक शोषित और उत्पीड़ित है, उस पर कुछ भी सकारात्मक करना एक गहरा सांस्कृतिक कर्म है :

जहाँ कहीं है ज्योति जगत में/जहाँ कहीं है उजियारा
वहीं खड़ा है अन्तिम कोई/मोल चुकाने वाला

सन्दर्भ :

१. आदिवासी साहित्य यात्रा : सं. रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. २१

२. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी : सं. रमणिका गुप्ता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. ११

३. वही, पृ. १२

...

बावरे सपनों का नखलिस्तान...
सिनेमा और नक्सलवाद

मिथिलेश

जनसंचार के जितने माध्यम हैं, उनमें जनांदोलनों और नक्सलवाद को लेकर एक अजीब किस्म की नकारात्मकता और उपेक्षा का भाव दिखता है। कमोवेश जितने भी जनमाध्यम हैं उनमें जनांदोलनों के प्रति समर्थन तो नहीं ही दिखता, सहानुभूति का भी घोर अभाव है। सिनेमा जैसे माध्यम में भी जनांदोलनों या नक्सलवाद के चित्रण को लेकर आशाजनक तस्वीर नहीं बनती दिखाई पड़ती। जनांदोलनों को आजकल आसानी से नक्सली आंदोलन या कथित नक्सली हिंसा से जोड़ दिया जाता है और फिर उन्हें बेदर्दी से कुचलने का तर्क सत्ताशीर्ष पर काबिज लोगों को मिल जाता है। कॉरपोरेट पूंजी की दखल ने सिनेमा जैसी स्वायत्त और रचनात्मक विधा की संभावनाओं को कुंद ही किया है। माओवाद या नक्सलवाद की बातें जाने भी दें तो हाशिये के लोगों की समस्याओं के प्रति भी हिंदी सिनेमा में नकारात्मकता ज्यादा हावी है। बहुत कम ही फिल्मकार ऐसे हैं, जिन्होंने हाशिये की जनता के सवालों को केन्द्र में रखकर फिल्में बनायी हैं। मीडिया विशेषज्ञ आनंद प्रधान का यह वक्तव्य सिनेमा के संदर्भ में प्रासंगिक है कि 'भारत में मीडिया की स्वतंत्रता के बहुत दावे किये जाते हैं लेकिन यह स्वतंत्रता वास्तविक कम और आभासी अधिक है। सच यह है कि देश में मुख्यधारा का मीडिया भी उतना ही स्वतंत्र है जितना मौजूदा व्यवस्था से जुड़ी अन्य संस्थाएं स्वतंत्र हैं। कहने की जरूरत नहीं है कि इस स्वतंत्रता की स्पष्ट सीमाएं हैं और उसी दायरे में रहकर अन्य संस्थाओं की तरह मीडिया भी काम करता है। मीडिया की ये सीमाएं उस समय और खुलकर सामने आ जाती हैं जब सीधे व्यवस्था के हितों पर चोट करने वाला

एसोशिएट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची, झारखण्ड. मो. ०९९३४९३४२५४

कोई मुद्दा सामने आ जाता है। उस समय न सिर्फ कारपोरेट मीडिया की सीमाएं खुलकर सामने आ जाती है बल्कि उसकी कथित निष्पक्षता, वस्तुनिष्ठता, संतुलन और तथ्यपूर्णता की कलई भी खुल जाती है।' (*सबलोग, दिसंबर २००९, पृ. १३*)

सिनेमा भी आज कारपोरेट के हाथों में ही है। सौ करोड़ी बनने की कामना पूरी कैसी होगी? इसी जुगाड़ में ही ज्यादातर लोग लगे हैं। सिनेमा से सरोकार गायब तो नहीं पर मात्रात्मक दृष्टि से अत्यल्प है। आज ज्यादातर फिल्में धन बनाने के लिए बन रही हैं, विचारों और आदर्शों का प्रचार करना उनका लक्ष्य नहीं रहा है। तो धनकमाऊ सिनेमा जैसी विधा का पूंजीपति समाज ग्लोबल समय मे कैसे न करेगा? सरोकारों से जुड़ी फिल्में बनाना कम परेशानी भरा नहीं रहा है। जिन लोगों ने भी सवालों को जमीनी स्तर पर सिनेमा में उठाने का साहस किया है, उनकी दुश्वारियां बढ़ी हैं और 'रिलीज' करा लेना भी बड़े तीर मारने जैसा ही है। सिनेमा पर वर्गीय वर्चस्व भी उन्हीं ताकतों का है जो हर चीज को अपने कब्जे में रखना चाहते हैं। जबरीमल्ल पारिख लिखते हैं, 'लोकतांत्रिक और खुले समाज में विरोध का भी महत्व होता है किंतु अत्यंत विकसित लोकतांत्रिक समाजों में भी ऐसा होते हम नहीं देखते। आमतौर पर ऐसे समाजों में नियंत्रण का अर्थ सरकार का नियंत्रण और खुलेपन का अर्थ बुर्जुआ वर्ग के खुलेपन से होता है।' (*जवरीमल्ल पारिख, जनसंचार माध्यमों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य, ग्रंथशिल्पी, पृ. १०३*)

माओवाद या नक्सलवाद को केन्द्र में रखकर बने हिन्दी सिनेमा की संख्या दर्जन भर भी नहीं है। अब अंदाजा लगाया जा सकता है कि सैकड़ों हिन्दी फिल्में जहाँ साल–दर–साल बनती हैं वहाँ माओवादियों या नक्सलियों द्वारा उठाये जा रहे सवालों को उठानेवाली फिल्में ऊँट के मुँह में जीरे के समान हैं। यह अलग संदर्भ और सवाल है कि जिन फिल्मों में सवाल उठे भी हैं वो कितना और किस हद तक समस्या को एड्रेस करने वाले हैं। माओवाद या नक्सलवाद पर केंद्रित कुछ फिल्में जिनका नाम गिनाया जा सकता है वे हैं, ***मृगया, नक्सलाइट, १०८४ की माँ, हजारों ख्वाहिशें ऐसी, रेड अलर्ट, लाल सलाम, चक्रव्यूह, द्रोहकाल, पार्टी*** आदि।

माओवादी समस्या एक राजनीतिक समस्या है, इसलिए इसका समाधान भी राजनीतिक स्तर पर होगा। राजनीतिक समस्याओं पर बनी फिल्मों की संख्या जोड़ें तो सूची लंबी होगी, लेकिन *दामुल, चक्र, पार, धारावी* जैसी फिल्में भी जन–समस्या को केंद्र में रखकर चली हैं। इस क्रम में एक बात का ध्यान में रखना जरूरी है कि वर्तमान 'ग्लोबल' समय में वह सब संकट में फँसा हुआ है, जहाँ कुछ कह सकने के अवसर मिलते थे। अब तो मध्यवर्गीय आकांक्षाएं कुलांचे भर रही हैं और बाकी जनमाध्यमों के साथ सिनेमा को भी उसके दोहन में लगा दिया गया है। भाषा–भेष–भाव सबकुछ बड़ी तेजी से बदला है और पूंजीवादी ताकतें तथा ग्लोबल कॉरपोरेट सबको एकरंगा बनाने में जी–जान से जुटे हैं। सिनेमा भी इससे अछूता नहीं है।

माओवादी समस्या को केन्द्र में रखकर फिल्म बनाना खतरों से खेलने सरीखा रहा है। निर्माता, निर्देशक और कलाकार सबके लिए मुश्किलें ही मुश्किलें हैं। निर्माता–निर्देशक तो फिर भी अपना ट्रैक बदल ले सकते हैं, पर अभिनेता–अभिनेत्रियों के लिए संभावनाएं सीमित हो जाती हैं। प्रकाश कांत कहते हैं, 'मुख्य धारा के विषय चूंकि फॉर्मूलाबद्ध रहे इसलिए उसके नायक भी आमतौर पर टाइप किस्म के रहे। लगभग एक जैसी भूमिकाओं के चलते टाइप होने का खतरा तो रहता ही है। अभिनेता के सामने कोई ज्यादा संभावनाएं नहीं होतीं।' (*बया, जुलाई–सितंबर, २०१२, पृ. २४*)

ऐसे खतरे उठाने वाले लोगों की संख्या यों ही कम रही है और कभी–कभार ही नक्सली या अन्य राजनीतिक समस्याओं पर फिल्में बनती हैं। भारत–पाक और कश्मीर जैसे राजनीतिक मसले तो फिर भी दिख जाते हैं, जनसमस्याएं तो सिनेमा में जगह तलाशती रह जाती हैं। हालांकि कुछेक प्रयत्न बड़े ही साहसी रहे हैं, जिनका स्थान हिंदी सिनेमा में हमेशा महत्वपूर्ण रहेगा। मृणाल सेन द्वारा निर्मित और मिथुन चक्रवर्ती द्वारा अभिनीत *मृगया* (१९७६) आपातकाल में बनी फिल्म है जो प्रकारांतर से आपातकाल के विरोध में तो खड़ी दिखती ही है; नक्सल समस्या के गहराते जाने के कारणों को भी बयां करती है। उपनिवेशवादी शोषण के विरूद्ध उठी हुंकार अन्याय के शासन के खात्मे का ऐलान करती है। मृगया यानी शाही आखेट। शाही आखेट किनका? आदिवासियों का। सूदखोरी, बेकारी, बेगारी, जिल्लत झेलते आदिवासियों की विद्रोहात्मक कथा है *मृगया*। कल्पित गाँव– तलदंगा का साहूकार भुवन सरदार एक आदिवासी का सिर काटकर ब्रिटिश सरकार को पहुँचाकर इनाम पाता है। नायक धिनुआ उसी सरदार का सिर काटकर ब्रिटिश सरकार के अधिकारी के पास यह कहकर पँहुचाता है कि उसने जंगल के सबसे खतरनाक जानवर का आखेट किया है। आखिर जो दूसरों की बहू–बेटी की इज्जत से खेल सकता है, उसकी जिंदगी नरक बना सकता है, उससे बड़ा जानवर कौन है? आजादी के बाद शोषण का यह ढांचा और मजबूत हुआ है। इसलिए प्रतिरोध ज्यादा जरूरी हो गया है। तलदंगा आदिवासी भूमि प्रतिरोध की ध रती बनती है जहाँ नक्सलवाद भी आया। नक्सली आंदोलन को शुरू हुए ज्यादा दिन नहीं हुए थे और यह विद्रोह नक्सलबाड़ी के आदिवासी किसानों का ही था। *मृगया* मिथुन की पहली फिल्म थी, जिसे १९७७ का फिल्मफेयर और राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार के स्वर्ण कमल से नवाजा गया। उत्कृष्ट अभिनय के लिए मिथुन को रजतकमल भी मिला।

मेरे ध्यान में नक्सल समस्या पर बनी दूसरी फिल्म 'नक्सलाइट' आती है जो १९७९ में बनी थी। ख्वाजा अहमद अब्बास द्वारा निर्मित इस फिल्म को अनेक दुश्वारियां झेलनी पड़ीं। इस फिल्म का परिचय 'वसुधा' के 'हिन्दी सिनेमा : २०वीं से २१वीं सदी तक' अंक में भी दर्ज हुआ है, 'यूं तो ख्वाजा अहमद अब्बास की बहुत कम फिल्में ही लोकप्रिय हुईं और सुपरहिट तो कोई नहीं हुई, लेकिन वे लगातार उन फिल्मों का सृजन करते रहे जो विषय उनके मन के नजदीक थे। सिनेमा से महज धन कमाना उनका उद्देश्य ही नहीं था।

वे अर्थ के लिए अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की अनदेखी नहीं कर सकते थे। इस प्रखर राजनीतिक फिल्म को सेंसर से भी मुसीबतों का सामना करना पड़ा और ठीक से प्रदर्शित भी नहीं हो सकी। यह अब्बास की आखिरी फिल्म थी जिसमें उन्होंने उन कारणों को स्पष्ट करने की कोशिश की है जिनके कारण युवा वर्ग हिंसा की ओर मुड़ता है। व्यवस्था के उत्पीड़न को इसमें बहुत ईमानदारी से दिखाया गया है।' (*वसुधा ८१, पृ. ४१२*) कहीं सिर्फ नाम 'नक्सलाइट' पड़ जाने से ही तो यह अब्बास की आखिरी फिल्म साबित नहीं हो गयी!

नक्सली आंदोलन देश की राजनीति के पक्ष–विपक्ष की किसी भी पार्टी को कभी भी नहीं भाया है। सेंसर बोर्ड भी इन विषयों के प्रति बहुत उदारचेता नहीं है।

नक्सली पृष्ठभूमि पर बनी '१०८४ की माँ' में एक उग्रवादी की माँ की पीड़ा को भावनात्मक गहराइयों ते उतर कर दिखने–दिखाने की सफल कोशिश हुई है। यही नहीं इसमें सारी स्थितियों के बौद्धिक तनाव के रेशे–रेशे को उधेड़ दिया गया है। महाश्वेता देवी के इसी नाम के उपन्यास पर आधारित इस फिल्म में बेटे की शहादत, कैसे चिंतन–मनन और क्रियान्वयन का प्रश्न एक माँ के लिए बन जाती है– इसका जितना खूबसूरत अंकन गोविंद निहलानी ने किया और जया बच्चन ने जिया है, वह अद्‌भुत है। फिल्म के अंत–अंत तक तो माँ फौलाद बन जाती है और खुद साहस से जूझते हुए दूसरों को ललकार जाती है। यह फिल्म नक्सल आंदोलन के साथ हुए पुलिसिया बर्ताव को ज्यादा तरजीह देती है। माँ (सुजाता) का बेटा भी पुलिसिया षड़यंत्र का ही शिकार हो जाता है। उसके साथ उसके तीन और साथी भी मारे जाते हैं। पांचवां साथी जब मारा जाता है तो हत्यारे को पकड़कर ही दम लेती है। वह इसलिए कि माँ अपने बेटे के सपनों की साझीदार है। लेकिन माँ की साझीदारी से ही सपने साकार नहीं हो सकते। व्यवस्था और उसकी मशीनरी के संचालक ऐसा नहीं होने दे सकते। दरअसल, देश–दुनिया व समाज को बदलने का सपना देखनेवाली और उसपर दांव लगाने वाली एक पूरी पीढ़ी को खत्म कर देने के सवाल भी इस फिल्म में खड़े मिलते हैं। दुर्भाग्य तो यह है कि इस देश के ज्यादातर प्रिविलेज्ड लोग इसे 'गुमराह पीढ़ी' कहकर खरिज भी करना चाहते हैं।

गोविंद निहलानी की 'पार्टी' भी वामपंथी चेतना की फिल्म है, जिसमें विचार और कार्यवाही की उठायी गयी बहस महत्वपूर्ण है। निहलानी की ही 'द्रोहकाल' भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय फिल्म है।

भोजपुर के नक्सली आंदोलन को केन्द्र में रखकर बनायी गयी फिल्म 'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' इस आंदोलन के अंतरविरोधों और विभ्रमों को सामने रखती है। सुधीर मिश्रा की यह फिल्म आज के युवा वर्ग की महत्वाकांक्षाओं, संघर्षों और भटकावों को तीन युवा दोस्तों की मार्फत बयां करती है। सिद्धार्थ तैयब जी, विजय मल्होत्रा और गीता राव की कहानी नक्सली आंदोलन के प्रभाव में शुरू होती है और, सिद्धार्थ के आंदोलन से अलग होने, विजय के पुलिस चंगुल में फँसने और गीता राव के विजय (विक्षिप्त) के पास गाँव लौटने

की कथा को सुधीर मिश्रा ने करीने से बुना है। यह फिल्म नक्सली आंदोलन के बुनियादी सवालों को उठाने का प्रयत्न करती है। दिल्ली और भोजपुर की दूरी (स्थलीय) मात्र हजार किलोमीटर भले हो, पर विकास के पैमाने पर पांच हजार वर्ष दूर रहना नक्सली आंदोलन की जड़ है। नक्सली आंदोलन ही यहाँ नहीं है वरन् आपातकाल, जेपी और कांग्रेस भी हैं। राजनीति के पूरे परिदृश्य को (१९६९–७५) दिखाकर युवाओं के सपने देखने–बुनने–टूटने–फंसने और भागने की दिलचस्प कथा है यह। के.के. मेनन, शाइनी आहूजा, चित्रांगदा सिंह जैसे कलाकारों के जीवंत अभिनय से सजी यह फिल्म थोड़ी चर्चित भी हुई और इनाम–एकराम भी इसे मिले।

राजनीतिक मसलों पर फिल्में बनाने वालों में प्रकाश झा अग्रणी हैं। इनकी *दामुल* (१९८४) और *चक्रव्यूह* नक्सली समस्या को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण फिल्में हैं। 'दामुल' में उग्रवाद की प्रत्यक्ष झलक तो नहीं है पर, उसके लिए निर्मित हो रही स्थितियों की ओर स्पष्ट संकेत तो हैं ही। यह बिहार के सामाजिक–आर्थिक पहलू और वर्गीय चरित्र का खुलासा यथार्थवादी ढंग से करती है। इन्हीं की *चक्रव्यूह* आदिवासी इलाकों में चल रहे नक्सली आंदोलन को केन्द्र में रखती है। परंतु इसमें आदिवासी समस्याओं के बदले नक्सली आंदोलन के अंतरविरोध और आंतरिक मतभेद ज्यादा हैं। आज आदिवासी इलाकों में ही नक्सली आंदोलन ज्यादा केन्द्रित है। इसके पीछे जायज वजहें भी हैं, जैसे– सबसे ज्यादा गरीबी आदिवासी इलाकों में है, सबसे अधिक खनिज संपदा आदिवासी इलाकों में है, सबसे अधिक विद्रोह और आंदोलन की स्थितियां आदिवासी बसावट वाले क्षेत्रों में हैं और दुनिया के कॉरपोरेट–पूंजीपतियों के हवाले ये आदिवासी इलाके ही किये गये हैं। कारपोरेट को लूट की मिली खुली छूट ने आदिवासी समुदायों को भीतर तक हिला दिया है। ऐसे में नक्सली या माओवादी उन्हें अपने मददगार लगते हैं। बाजारी शक्तियां तमाम प्राकृतिक साधनों पर कब्जा जमाकर इन्हें मात्र जमीन से ही बेदखल नहीं कर रही हैं बल्कि अस्तित्व के सवाल खड़े कर कर रही हैं।

नक्सली या माओवादी समस्या को लेकर बनी फिल्में जो कुछ कह–सुन रही हों लेकिन समस्या अपनी जगह कायम है। इसकी वजह फिल्मकार सुधीर मिश्रा के इस बयान में जानी जा सकती है, 'मेरे विचार से ज्यादातर फिल्मकार अवसरवादी हैं। वे चाहे करें कुछ भी पर जहाँ किसी सामाजिक सरोकार की बात उठे अपनी सहानुभूति प्रकट करने लग जाते हैं। हालांकि वे सभी हैं तो दक्षिणपंथी ही। अमेरिका के पिट्ठू ही।' (*हंस, हिंदी सिनेमा के सौ साल, फरवरी २०१३, पृ. १०७, अनवर जमाल से बातचीत*)

जब देश का सर्वोच्च महकमा ही अमेरिका के नक्शे–कदम पर चलने को उत्सुक हो तो फिल्मकारों में देश की समस्याओं को दिखाने का साहस कितना होगा? सौ साल के हिन्दी सिनेमा ने सामाजिक–राजनीतिक सरोकारों को एक हद तक उठाया तो है परंतु यह काफी नहीं है। फिल्मकार बासु चटर्जी कहते हैं कि 'एक सदी का सफर हर तरह के प्रयासों

से होकर गुजरा है। लेकिन आज ऐसा लगता है कि जैसे भारतीय सिनेमा गिरवी रखा पड़ा है। जमीन पर औंधे मुँह गिरा पड़ा है। मगर निराशा की काली चादर उतनी भी लंबी नहीं है।' (*हंस, फरवरी २०१३, फ्रैंक हुजूर से बातचीत, पृ. २३*)

निराशा की काली चादर हटे इसके लिए समानांतर सिनेमा को समानांतर नेटवर्क भी विकसित करना होगा। हालांकि तमाम बातों के बीच यह भी स्वीकारना होगा कि प्रतिबद्धता के जो सवाल साहित्य और अन्य कलाओं के लिए प्रासंगिक हैं, सिनेमा के लिए उतने कभी भी नहीं रहे हैं। सिनेमा अभिजात्य वर्ग के कब्जे में हैं। जो नोम चॉम्स्की के शब्दों में 'उन हितों को विशेष हितों का नाम देता है जिनका संबंध किसानों, महिलाओं, मजदूरों, युवाओं और बुजुर्गों, विकलांगों, अल्पसंख्यकों आदि से होता है।... अभिजात वर्ग जिन हितों को राष्ट्रीय हित का नाम दे रहा है, वह अभिजात्य वर्ग के अपने हित हैं।' (*जनसंचार माध्यमों का वैचारिक परिप्रेक्ष्य, जवरीमल्ल पारिख द्वारा उद्धृत, पृ. १०३*)

भारत में नोम चॉम्स्की की बातें घटित हो रही हैं। कॉरपोरेट घराने सरकार को पूरी तरह दबाव में ला चुके हैं कि 'राष्ट्रीय हितों' से समझौता नहीं किया जाय। राष्ट्रीय हित से मतलब कॉरपोरेट हित है और समझौता न करने से आशय हाशिये के समुदायों को मिलने वाली मामूली सुविधाओं से भी वंचित करने का है; जबकि तमाम आर्थिक संसाधनों का दोहन अभिजात्य वर्ग और कॉरपोरेट हित में हो रहा है। जनविरोधी भूमिका में आ चुकी सरकारें जनविरोधी नीतियां अपना कर भी जनसंचार माध्यमों पर अपना कब्जा बनाये रखकर जनता को नियंत्रित करती हैं, तो सिनेमा को वो खुला कैसे छोड़ेंगी?

फिल्म *मृगया* का दृश्य

फिल्म १०८४ की माँ का दृश्य

सिनेमा में किसान

नम्रता गौरव

भारतीय साहित्य विधा से लेकर, रंगों की कूची और चलचित्रों तक में जिस बेबस व लाचार का चरित्र चित्रण ज्यादा होता है उसमें एक किसान का अक्श सबसे पहले उभरता है। मशहूर निर्माता–निर्देशक ताराचन्द बड़जात्या ने एक बार 'फिल्मी दुनिया' नामक पत्रिका को दिये गये अपने इंटरव्यू में सही कहा था कि 'भारतीय सिनेमा में कथाओं को जिस तरह से दिखाया जाता है उसमें किसान के पात्र की उपलब्धता अनिवार्य है, परंतु किसान यदि क्रांति करता है, अपने गांव के जमींदार के खिलाफ विद्रोह का बिगुल फूंकता है, अपनी जमीन बचाने के लिए षड़यंत्रकारियों के जुल्मों को सहते–सहते शहीद हो जाता है तभी फिल्म के हिट होने की कामना की जा सकती है, जबकि अपनी माटी और भाषा से जुड़े किसानों का यथावत् चित्रण आज भी फिल्म उद्योग के लिए घाटे का सौदा बन जाती है।'[१]

चलचित्रों में अपनी माटी और भाषा से जुड़े किसानों के यथार्थ के चित्रण में अंर्तद्वंद्व का एक समाजवैज्ञानिक अध्ययन करना इसलिए महत्वपूर्ण है क्योंकि चलचित्र अथवा सिनेमा जीवन को दर्शाने (वास्तविक और काल्पनिक) का एक बड़ा जरिया है। उसके द्वारा विभिन विरोधाभासों के बीच खड़े किसान की कौन सी छवि वैश्वीकरण के इस युग में विश्व–बाजार में उभर रही है, उसकी एक मुकम्मल तस्वीर तो रखी ही जा सकती है। भारत में हरित क्रांति और खेती के व्यावसायीकरण के बाद पंजाब तथा हरियाणा जैसे अनेक राज्यों के किसानों की आर्थिक स्थिति में जहाँ सुधार हुआ है वहीं झारखंड, बिहार, उत्तरप्रदेश जैसे राज्यों के किसानों को कम सब्सिडी, मंहगे खाद–बीज, मौसम का बेरुखापन, व सरकारी नीतियों में किसानों की उपेक्षा से लड़ते व कर्ज में डूबकर आत्महत्या के लिए मजबूर होते देखा जा सकता है। जबकि तमिलनाडु, केरल इत्यादि राज्यों में किसानों के व्यवसायजनित खेती के द्वारा उनके जीवन की खुशहाली व प्रसन्नता को काफी करीब से देखा जा सकता है। अर्थात् भारत के विभिन्न प्रांतों में किसानों की स्थिति एक जैसी नहीं है। यह कहना ज्यादा उचित होगा कि एक ही व्यवसाय (खेती) में कार्यरत सभी किसानों की स्थिति एक जैसी नहीं है। तब भिन्न–भिन्न प्रांतों अथवा राज्यों में दिखनेवाले किसानों से संबंधित विभिन्न समस्याओं को वास्तविकता व कल्पना में पीरोकर सिनेमा में किस तरह पेश किया जाता है, यही किसानों से संबंधित यथार्थ के चित्रण का अंर्तद्वंद्व है।

उपकार, रोटी कपड़ा और मकान, क्रांति, पूरब और पश्चिम जैसी फिल्मों का निर्माण कर भारत के गाँवों की तस्वीर उकेरने वाले महान नायक व निर्माता निर्देशक भरत कुमार उर्फ

शोध छात्रा, समाजशास्त्र विभाग, राँची वि.वि., झारखण्ड

मनोज कुमार द्वारा ***साप्ताहिक हिंदुस्तान*** नामक पत्रिका को दिये गये उस बयान की समीक्षा करनी आवश्यक है जिसमें उन्होंने कहा था कि 'मैं फिल्मों के जरिये भारतीय गाँवों व वहाँ रहने वाले जीवंत पात्रों के समस्याओं का ईमानदारीपूर्वक चित्रण कर सकता हूँ; परंतु उनके जीवन की अन्य हकीकत या फसानों को फिल्म में दिखाना टेढ़ी खीर का काम है क्योंकि मेरी फिल्मों के लिए मैंने ढांचा का निर्माण कर लिया है और ये ढांचे इने–गिने हैं। ठीक उस को–ऑपरेटिव सोसाइटी की तरह जिसमें सारे फ्लैटों की बनावट लगभग एक सी है, फिर भी सजावट के बाद हर फ्लैट अलग–अलग लगता है।'[२] कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय सिनेमा में किसानों के यथार्थ को भी कल्पनात्मक डायलॉगों और भव्य दृश्यों के बीच दिखाना निर्माता निर्देशकों के लिए इसलिए आवश्यक हो गया है क्योंकि उनकी एक फिल्म हिट होने पर वे उसी हिट फिल्म के फार्मूले को ही अपनी अन्य फिल्म में भी प्रयोग करते हैं। इस तथ्य पर और ज्यादा गौर करने के लिए 'फिल्मी हलचल' की भेंटवार्ता में ***इन्साफ का तराजू*** नामक हिट फिल्म के लेखक शब्द कुमार की टिप्पणी भी महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने कहा था कि 'फिल्मों में स्क्रिप्ट लेखन में कुछ नया प्रयोग करने के बजाय आज का लेखक नकल करने की ओर ज्यादा धन देने लगा है। ऐसा करने के पीछे एक खास वजह फिल्मों से संबंधित लेखन कार्य है। सिनेमा में एक ही समस्या से संबंधित यदि दो निर्माता दो अलग–अलग फिल्म भी बनाते हैं तो उनके पात्रों का अपना अलग व्यक्तित्व होता है, आकर्षण होता है। क्योंकि फिल्म बनाने से पहले उसकी साहित्य विधा में काम किया जाता है और एक फिल्म लेखक की सफलता भी इसी में है कि वह सदियों से चले आए कहानी के कंकाल को एक अलग रूप दे सके, जिससे लेखक की बात प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त हो जाए। मेरे ख्याल से एक लेखक की रचनात्मकता इसी से नापी जानी चाहिए। ठीक वैसे ही जैसे एक आदमी को उसकी शक्ल–सूरत, सूझ–बूझ और उसके व्यक्तित्व से पहचाना जाता है, न कि उसके भीतर के कंकाल से।'[३] लेखक शब्द कुमार के ये शब्द निरर्थक नहीं है। यदि इसकी पुर्नव्याख्या की जाय तो ऊपर उद्धृत ताराचंद बड़जात्या का ही दृष्टांत उभरकर सामने आता है। ***पीपली लाइव*** का हीरो रूपी पात्र भ्रष्टाचार से लड़ते गाँववालों की नजर में शहीद होकर शहर में अनाम जीवन व्यतीत करने को विवश हो जाता है। वहीं ***लगान*** में अंग्रेजों को पछाड़ने की नीति में भारतीय किसानों के विद्रोह की सशक्त भूमिका एक प्रतिदर्श बन जाती है।

चूँकि सिनेमा हमारे भारत देश की उपज नहीं है। फ्रांस में शुरू होकर, यूरोप और अमेरिका होता हुआ यह भारतवर्ष में आया। तकनीक के साथ–साथ यह कथा–वस्तु में भी विदेशी सिनेमा के प्रभाव से वंचित नहीं रह सका है। विश्व के किसी भी देश में बनी सुपरहीट फिल्म भारतीय सिनेमा को प्रभावित करती रही है। अत: भारत के सबसे बड़े फिल्म उद्योग बॉलीवुड में किसान जैसे पात्र बहुत कम ही हैं जिनमें दर्शकों को विदेशी हीरो को टक्कर देने की क्षमता रखनेवाले हीरो की छवि नजर आती हो। चर्चित निर्देशक, कलाकार और स्क्रिप्ट राइटर डॉ. चन्द्रप्रकाश द्विवेदी का मानना है कि 'आजाद भारत के बाद फिल्में यथार्थवादी दुनिया से कटकर मनोरंजन का हिस्सा ज्यादा हो गयी हैं इसलिए माटी और मनुष्य से जुड़े ज्वलंत मुद्दों पर बनी कलात्मक फिल्मों को कम ही दर्शक मिल पाते हैं।'[४] अर्थात् बड़े बैनरों अथवा निर्माता निर्देशकों

अथवा नामचीन हीरो के लिए जमीन अथवा किसानों से जुड़े मुद्दे पर फिल्में न कर पाने का एक खास बहाना बाजारवाद और दर्शकों का रुझान बन जाता है। हालांकि दक्षिण भारतीय फिल्मों में वहाँ की संस्कृति और स्थितियों का दर्शन अवश्य होता है। हिन्दी फिल्में इसके विपरीत अपनी जमीन से कटी रहती हैं। ग्लोबलाइजेशन से फिल्मी बाजार और उपलब्धता बढ़ी है पर जरुरी कंटेंट गायब होता जा रहा है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि पूरे विश्व की फिल्मों में कथानक का स्तर गिर रहा है और 'परफार्म' का स्तर बढ़ रहा है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण यह है कि फिल्मों में रंग, विशाल पर्दे और स्टीरियोफोनिक ध्वनि आने से ज्यादा जोर आँख और कान को लुभाने पर लग गया और वह कहानी एवं संवाद जो मन को छूते थे, पीछे छूटने लगे। आज का दर्शक भी अपने भीतर की शान्ति से अधिक बाहर की रौनक और शोर–शराबे को महत्व देने लगा है। फिल्में भी इस प्रभाव से नहीं बच सकीं। दूसरा कारण यह है कि पिछले तीस वर्षों में मध्यम वर्ग की आर्थिक स्थिति में गिरावट आयी है। तीस वर्ष पहले इस वर्ग की आर्थिक स्थिति कहीं ज्यादा अच्छी थी। वह सिनेमा देखता था और अच्छी सिनेमा को सफल बनाता था परंतु वही मध्यम वर्ग अपने परिवार को बड़ी मुश्किल से महीने में एक फिल्म दिखा पाता है और वह भी ऐसी फिल्म जो बहुत बड़ी हिट हो। यह बात दीगर है कि ऐसी हिट फिल्मों में किसी फाइव स्टार होटल के बैरे का पात्र शामिल हो सकता है परंतु किसान नहीं। इसी तरह निम्न वर्ग के लोग जिनका काम कमाना और खर्चा करना है वैसे लोग हर हफ्ते कोई न कोई फिल्म अवश्य देखते हैं परंतु इनकी भी पसंदीदा फिल्मों में किसान के पात्र न होकर मारधाड़ करने वाले वैसे हीरो होते हैं जो अमीर की बेटी को अपनाने के लिए जुर्म की दुनिया से अपनी शुरुआत करते हुए शराफत की दुनिया में कदम रखता है।

दर्शकों के फिल्मों के चयन से संबंधित इस सिद्धांत से झारखंड का 'झालीवुड' भी प्रभावित है। हालांकि मेघनाथ व बीजू जैसे फिल्म निर्माणकर्ता धरातलीय समस्याओं को उठाने की पुरजोर कोशिश करते हैं। परंतु झारखंडी किसानों खासकर आदिवासी समुदाय की किसानी अथवा खेती से जुड़े वैसे मसले जो विस्थापन व खाद्य असुरक्षा से जुड़े रहे हैं उन पर अभी भी फिल्मांकन करना बाकी है। किसानों की स्थानीय समस्याओं को फिल्मों के माध्यम से दिखाकर निर्माता और निर्देशक इनसे संबंधित समस्याओं को राष्ट्रीय पटल पर एक सशक्त माध्यम प्रदान कर सकते हैं।

सन्दर्भ :

१. उपाध्याय जैनेन्द्र, 'एक निर्माता–निर्देशक से भेंटवार्ता'; *फिल्मी दुनिया* से पृ. २४

२. असीम, 'भरत कुमार और उनका भारत प्रेम'; *साप्ताहिक हिंदुस्तान* से पृ. ४–५

३. अमर सिन्हा, 'एक लेखक के नजर में फिल्मी कथा'; *फिल्मी हलचल* से पृ. ११

४. सलोनी तिर्की, 'फिल्मों के रूपक में आम आदमी'; *जनसत्ता* से साभार पृ. ७

•••

सिनेमा में वर्दी वाले कातिल

मिथिलेश प्रियदर्शी

दृश्य १ :

'नागपुर के रेलवे स्टेशन पर गुप्तचर विभाग की पुलिस जाल बिछाए बैठी है। सादे कपड़ों में पुलिस के कई लोग भरे पड़े हैं। इसी बीच बगल के होटल में दो लोग भोजन करने आते हैं। पुलिस अचानक उन्हें दबोच लेती है। उन्हें गाड़ी में डाल दिया जाता है और आंध्रप्रदेश के आदिलाबाद के जंगलों में ले जाया जाता है। उनके मोबाइल बंद कर दिये जाते हैं और उनके घर वालों को इस किस्म की कोई जानकारी नहीं दी जाती है। घने जंगल में बिल्कुल करीब (प्वाइंट ब्लैंक) से गोली मारकर उनकी हत्या कर दी जाती है। बाद में पुलिस मीडिया के मार्फत दुनिया को बताती है कि आदिलाबाद के जंगलों में जबर्दस्त रूप से चले एक मुठभेड़ में दो दुर्दांत नक्सलियों को मार गिराया गया है।' पुलिसिया सूत्रों का अंधानुकरण करने वाला मीडिया इसी को सच की तरह जोर देकर दुनिया के सामने पेश करता है।

दृश्य २ :

फिल्म 'सिंघम' के अंतिम हिस्से में गोवा सिटी की पूरी पुलिस टीम खलनायक को गुपचुप तरीकेसे रातोंरात मार डालने के इरादे से उसके घर में घुसती है। पुलिस बना नायक, एस. पी. और बाकी के सिपाही खलनायक को उसके ही घर में घेर लेते हैं। अब पूरी टीम यह सोचती है कि उसकी हत्या कैसे की जाये? एक पुलिस वाला सुझाता है कि उसके कलाई की नस काट दी जाए। दूसरा कहता है कि ऐसा करने से पकड़े जाने का डर है, क्योंकि नस खुद काटने में और दूसरों के काटने में काफी का फर्क होता है। एक कहता है, ''इसे तीसरे माले से फेंक देना चाहिये।'' इस पर एक की आपत्ति आती है कि इससे शायद यह बच जाये। इसे छठे माले से फेंकना चाहिये। पहला कहता है, ''तो इसे तीसरे माले से दो बार फेंक दिया जाये। कोई कहता है, 'इसे पंखे से लटका दिया जाये।'' पर यह आशंका व्यक्त की जाती है कि इसके भारी बोझ से कहीं पंखा ही न टूट जाये। दल के साथ आये विशेषज्ञ का मानना है कि पोस्टमार्टम रिपोर्ट में यह बात खुल सकती है। क्योंकि पंखे से लटकाने पर 'ओ' मार्क आयेगा और गला दबाकर मारने से 'ए' मार्क आयेगा। अंत में नायक, जो उसे मारने में सबसे ज्यादा रुचि रखता है, उपाय बताता है। उसके बताये अनुसार खलनायक को थाने लाया जाता है और एक चोरी की पिस्तौल से उसकी कनपटी में गोली मार दी जाती है। अब उसकी लाश को वापस उसके घर में लाकर रख दिया गया है। उसे बकायदा सोफे पर बिठाकर उसके दायें हाथ में वही चोरी की पिस्तौल पकड़ा दी गयी है। चली हुई गोली के खोखे की बरामदगी कमरे से दिखाने के लिये उसी पिस्तौल से एक गोली भी चला दी गयी है। बाद में एस.पी. समूचे मीडिया के सामने कहता है कि 'जयकांत शिकरे' (खलनायक) ने अपने धंधे की पोल खुल जाने पर शर्मिंदा होकर खुद को गोली मार ली। इस तरह एक सुनियोजित हत्या को आत्महत्या का रूप दे दिया जाता है। मीडिया संतुष्ट

सहायक प्राध्यापक, पत्रकारिता संस्थान, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, विलासपुर, मो. ०८१०९९६३१४९

सिनेमा में वर्दी वाले कातिल

मिथिलेश प्रियदर्शी

दृश्य १ :

'नागपुर के रेलवे स्टेशन पर गुप्तचर विभाग की पुलिस जाल बिछाए बैठी है। सादे कपड़ों में पुलिस के कई लोग भरे पड़े हैं। इसी बीच बगल के होटल में दो लोग भोजन करने आते हैं। पुलिस अचानक उन्हें दबोच लेती है। उन्हें गाड़ी में डाल दिया जाता है और आंध्रप्रदेश के आदिलाबाद के जंगलों में ले जाया जाता है। उनके मोबाइल बंद कर दिये जाते हैं और उनके घर वालों को इस किस्म की कोई जानकारी नहीं दी जाती है। घने जंगल में बिल्कुल करीब (प्वाइंट ब्लैंक) से गोली मारकर उनकी हत्या कर दी जाती है। बाद में पुलिस मीडिया के मार्फत दुनिया को बताती है कि आदिलाबाद के जंगलों में जबर्दस्त रूप से चले एक मुठभेड़ में दो दुर्दांत नक्सलियों को मार गिराया गया है।' पुलिसिया सूत्रों का अंधानुकरण करने वाला मीडिया इसी को सच की तरह जोर देकर दुनिया के सामने पेश करता है।

दृश्य २ :

फिल्म 'सिंघम' के अंतिम हिस्से में गोवा सिटी की पूरी पुलिस टीम खलनायक को गुपचुप तरीकेसे रातोंरात मार डालने के इरादे से उसके घर में घुसती है। पुलिस बना नायक, एस. पी. और बाकी के सिपाही खलनायक को उसके ही घर में घेर लेते हैं। अब पूरी टीम यह सोचती है कि उसकी हत्या कैसे की जाये? एक पुलिस वाला सुझाता है कि उसके कलाई की नस काट दी जाए। दूसरा कहता है कि ऐसा करने से पकड़े जाने का डर है, क्योंकि नस खुद काटने में और दूसरों के काटने में काफी का फर्क होता है। एक कहता है, ''इसे तीसरे माले से फेंक देना चाहिये।'' इस पर एक की आपत्ति आती है कि इससे शायद यह बच जाये। इसे छठे माले से फेंकना चाहिये। पहला कहता है, ''तो इसे तीसरे माले से दो बार फेंक दिया जाये। कोई कहता है, 'इसे पंखे से लटका दिया जाये।'' पर यह आशंका व्यक्त की जाती है कि इसके भारी बोझ से कहीं पंखा ही न टूट जाये। दल के साथ आये विशेषज्ञ का मानना है कि पोस्टमार्टम रिपोर्ट में यह बात खुल सकती है। क्योंकि पंखे से लटकाने पर 'ओ' मार्क आयेगा और गला दबाकर मारने से 'ए' मार्क आयेगा। अंत में नायक, जो उसे मारने में सबसे ज्यादा रुचि रखता है, उपाय बताता है। उसके बताये अनुसार खलनायक को थाने लाया जाता है और एक चोरी की पिस्तौल से उसकी कनपटी में गोली मार दी जाती है। अब उसकी लाश को वापस उसके घर में लाकर रख दिया गया है। उसे बकायदा सोफे पर बिठाकर उसके दायें हाथ में वही चोरी की पिस्तौल पकड़ा दी गयी है। चली हुई गोली के खोखे की बरामदगी कमरे से दिखाने के लिये उसी पिस्तौल से एक गोली भी चला दी गयी है। बाद में एस.पी. समूचे मीडिया के सामने कहता है कि 'जयकांत शिकरे' (खलनायक) ने अपने धंधे की पोल खुल जाने पर शर्मिंदा होकर खुद को गोली मार ली। इस तरह एक सुनियोजित हत्या को आत्महत्या का रूप दे दिया जाता है। मीडिया संतुष्ट

सहायक प्राध्यापक, पत्रकारिता संस्थान, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, विलासपुर, मो. ०८१०९९६३१४९

भाव से सब सुन लेता है और कोई सवाल नहीं करता। हालिया प्रदर्शित फिल्म **दबंग २** का नायक भी गुंडों को गिरफ.ार करने की बजाय उन्हें गोलियों से भून देता है और मीडिया को बताता है कि ये कितना जरूरी था।

इन दोनों दृश्यों में काफी साम्य है। पहले दृश्य में जहाँ 'फर्जी मुठभेड़ है, तो दूसरे मे पुलिस द्वारा बेहद धूर्तता से की गयी एक क्रूर हत्या। पुलिस, जिसे राज्य घोषित तौर पर जनता की रक्षा एवं कानून व्यवस्था के पालन के लिये और अघोषित तौर पर अपनी सत्ता को बरकरार एवं सकुशल रखने के लिये शक्ति के तौर पर रखती है, आम जीवन से लेकर सिनेमा के पर्दे पर उसका यही असली चरित्र सामने आता है। पुलिस राज्य द्वारा पोषित एक सर्वाधिक शक्तिशाली संस्था होती है। उसकी शक्तियां असीमित होती हैं। उसके पास वैध गोला–बारूद होता है। शक्ति जतलाने के लिये राज्य द्वारा मुहरकृत एक वर्दी होती है। उसके पास हत्याओं के लिये राज्य प्रदत्त लाइसेंस होता है। पुलिस राज्य के निर्देशानुसार और उसके पक्ष में कुछ भी कर सकती है, और यही अपरंपार शक्ति उसे राज्य के संरक्षण में पल रहे किसी गुंडे या अपराधी की तरह बना देती है। इस विशिष्ट किस्म की पहचान से पुलिस में भर्ती होने वाला आम भी खास का रूप ले लेता है और, सिनेमा विधा ऐसे ही खास के प्रति अनुकूल होती है। सिनेमा में पुलिस को नायक के तौर पर गोली–पिस्तौल के साथ दिखाना आसानी से तार्किक बन पड़ता है। लोगों को आतंकित करने, रौब गाँठने, झूठे मुकदमों में फँसाने, गुपचुप हत्याएं करने, भ्रष्टाचार में गहरे तक लिप्त रहने जैसी तमाम पुलिसिया गतिविधियों को सिनेमा के पर्दे पर दिखाने के लिये कहानी में ज्यादा कार्य–कारण संबंध गढ़ने नहीं पड़ते हैं। (जाहिर है, एक मजदूर या किसान जो व्यक्तिगत तौर पर शक्तिहीन और ग्लैमरहीन होता है, लोकप्रिय सिनेमा के नायक की भूमिका में मिसफिट माना जाता है। उसे बतौर खलनायक जरूर दिखा दिया जा सकता है, क्योंकि यह मान लिया गया तथ्य है कि गरीबी और बेरोजगारी आदमी को अपराध की दुनिया में ले जाती है।) पहला दृश्य 'सरफरोश', 'वांटेड', 'रावण', 'दम मारो दम', 'दबंग', 'सिंघम', 'फोर्स' जैसी फिल्मों की श्रृंखला में किसी भी फिल्म का हिस्सा हो सकता है, जिसमें नायक पुलिस की भूमिका निभाता है। इन फिल्मों का नायक, नायक के लिये आवश्यक और प्रचलित तमाम गुण–विशेषताओं से लैस होता है, जिससे दर्शकों को रिझाया जा सके। उसकी छाती चौड़ी होती है, उसके बाजुओं में फौलाद की शक्ति होती है, पेट में बिस्किटनुमा आकार बने होते हैं। वह जब चलता है तो पृष्ठभूमि से कुछ दरकने की आवाज आती है। दुश्मन उससे काँपते हैं। पर लड़कियां उस पर बेइन्तहां फिदा होती है। वह सुहाने चेहरे वाला गोरा पुरुष होता है। वह कर्णप्रिय गीत–संगीत पर जमकर नाचता और मस्ती करता है। उसके चश्मे, गाड़ी, फाइट कपड़े, यहाँ तक की वर्दी भी, सब बेजोड़ होते हैं। नायक एक चुंबकीय आकर्षण पैदा करता है और पर्दे पर आदर्श की तरह स्थापित हो जाता है। इसी क्रम में जब वह खलनायक से निपटने के लिये कई तरह के क्रूर और वहशी तरीके आजमाता है, यहाँ तक की 'फेक एन्काउंटर' या दूसरी अमानवीय चालें चलता है, कहानी में अपराध से निपटने के इस किस्म के उसके सारे तरीकों

को जस्टीफाइ कर दिया जाता है और, दर्शक पुलिसिया नायक के इन कुकृत्यों को तालियां बजाता हुआ न केवल सराहता है, बल्कि इस सुकून से तरोताजा होकर सीटे छोड़ता है कि आखिर नायक की जीत हुई, और अंत सुखद रहा। ('दबंग' फिल्म के अंत में पुलिसिया नायक (चुलबुल पांडे) प्रतिशोधवश नेता रूपी गुंडे (छेदी सिंह) को मारने के दौरान बेहद व्यक्तिगत हो जाता है। गुंडे को काफी पीट चुकने के बाद वह उसे बंदी बनाने की बजाय बेहद क्रूर तरीके से अपने भाई (मक्खी) के साथ मिलकर उसकी हत्या कर देता है। वह उस अधमरे का मुँह ट्रैक्टर की धुआँ फेंकने वाली नली में जबर्दस्ती घुसाये रखता है। और नायक का भाई ट्रैक्टर चालू कर एक्सीलेरेटर जोर से दबा देता है। गर्म कार्बनडायआक्सायड, कार्बन मोनोक्सायड जैसे गैसों के लगातार हलक में उतरते चले जाने से गुंडे की मौके पर ही दर्दनाक मौत हो जाती है। इसके बाद भी पुलिसिया नायक का अमानवीय रुख कायम रहता है और वह उसकी लाश को ट्रैक्टर के पीछे बेहद विभत्स तरीके से लाद कर चल देता है। यह दृश्य दो साल पहले छत्तीसगढ़ में पुलिसिया कार्रवाई में मारे गये नक्सलियों की लाशों को ढोने के तरीकों की याद दिला देता है, जिसमें उन्हें मरे हुये जानवरों की तरह पैर–हाथ बांधकर बांस में लटकाकर लाया गया था। तब पूरी दुनिया ने इस घोर अमानवीय कृत्य की तस्वीरें अखबारों के माध्यम से देखी थी)

दो–सवा दो घंटे की फिल्मी कहानी की एक सीमा होती है, जिसमें दो पक्षों को साफ–साफ उभारा जाता है एवं उनका टकराव दिखाया जाता है। खलनायक पर बुराई का प्रतिनिधित्व करने का जिम्मा होता है। नायक के साथ उसकी 'केमेस्ट्री' बिल्कुल 'कंट्रास्ट' रखी जाती है। खलनायक के खलनायकत्व से आतंकित दर्शक पुलिसिया नायक के मानवाधिकार के खिलाफ जाकर की जाने वाली हत्याओं के जस्टिफिकेशन से पूरी तरह से सहमत हो जाता है। पुलिस नायकों के सम्मोहन और आदर्श छवि के सहारे निर्मित यही बारीक सहमति लेकर दर्शक जब बाहर निकलता है, दृश्य एक में वर्णित आदिलाबाद के जंगलों में हुई झूठी मुठभेड़ें उसे आंदोलित नहीं कर पाती हैं। इशरत जहां, कौशर बी, सोहराबुद्दीन आदि की झूठी मुठभेड़ में की गयी हत्याओं के प्रति भी वह उदासीन बना रहता है। फिल्म 'सरफरोश' के अंतिम दृश्य में पुलिस अधिकारी बना नायक खलनायक को घेर लेने के बाद कहता है कि चूंकि इसके खिलाफ कोई सुबूत नहीं है, इसलिये यह बच जायेगा। इस पर उसका सहकर्मी इंस्पेक्टर कहता है, ''उड़ा देते हैं सबको यहीं। कह देंगे कि एन्काउंटर में मारे गये। ''इस फिल्म में नायक बेहद चालाकी से दो खलनायकों को आपस में लड़ा देता है, जिसमें एक के हाथों दूसरे की हत्या हो जाती है और फिर नायक उसे इसी हत्या के जुर्म में गिरफ्तार कर लेता है। इस सिनेमा में पुलिस अधिकारी बने नायक की इस चतुराई के दर्शक कायल हो उठते हैं। जबकि साफ तौर पर इस हत्या की जिम्मेदारी नायक पर जाती है। बावजूद चूंकि खलनायक का ही खात्मा होता है, वह किसी भी वैध–अवैध तरीके से हो, दर्शक नायक से सहमत हो उठते हैं। सिनेमा के पुलिसिया नायकों के स्टंट और शातिराना चालबाजियों के सम्मोहन की जद में आम दर्शकों से ज्यादा असली पुलिस रहती है। असली पुलिस इस तरह के सिनेमा से न केवल मनोरंजन हासिल करती है, बल्कि पुलिस बने नायक का स्टाइल भी, नायक के चलने, वर्दी पहनने, पिस्तौल पकड़ने, अदा से गालियां बकने,

दबगई दिखाने, मसखरी करने आदि को असली पुलिस द्वारा गौर से नोटिस किया जाता है। ये स्टाइल जाने–अनजाने उनके द्वारा भी अपना लिया जाता है। इतना ही नहीं, पुलिसिया नायक द्वारा गुंडे से निपटने के लिये बरते जाने वाले तमाम सच–झूठ हथकंडे भी उनके कार्य–व्यवहार में शामिल हो जाते हैं। 'दबंग' देखकर सलमान खान के 'राबिनहुड' वाली छवि से कई थानेदार खासे प्रभावित हुये थे। अखबारों में एक–दो थानेदारों की खबरें भी छपी थी कि कैसे 'दबंग' स्टाइल में उन्होंने थाने में ही नाच का आयोजन करवाया था। ऐसी फिल्मों का रंग सबसे ज्यादा रंगरूटों पर चढ़ता है। आंखों पर काला चश्मा लगाये, बॉडी फुलाये ये इस कदर अखखड़ और बदमिजाज हो जाते हैं कि बात–बात में आम लोगों पर पुलिसिया रौब–दाब गांठते फिरते हैं और उन्हें आतंकित करते रहते हैं। सिनेमा में चित्रित पुलिस और असली पुलिस का एक अजीब साझापन होता है। हालांकि यह कहना कठिन है कि कौन किसकी नकल उतारता है। पर यह जरूर है कि हालिया पुलिस नायकों पर बने सिनेमा में पुलिसिया गुंडेपन और उसके अपराध को ग्लोरिफाई किया गया है। यह ग्लोरिफिकेशन कहानी में इस कदर गुंथा गया है कि सहसा पुलिस नायकों द्वारा किये गये अपराधों पर किसी की नजर नहीं जाती। कहानी को इस साधारण तर्क से आगे बढ़ाया जाता है कि यदि खलनायक दुष्ट है, तो पुलिस उसे मजा चखाएगी ही, उसके तरीके कैसे भी हों। राज्य की पुलिस का चरित्र पहले से ही जनता विरोधी रहा है, ऐसे में सिनेमा में पुलिस को नायक की भूमिका देकर उससे मानव अधिकारों की धज्जियां उड़वाना और फिर उसका महिमामंडन करना असली पुलिस को और अधिक अमानवीय होने के लिये प्रोत्साहित करने जैसा है।

आम जीवन में अपराधों के प्रकार वही नहीं हैं, जो सिनेमा में हैं। सिनेमा में अपराध का मतलब बिल्कुल साफ और ठोस और व्याख्यायित है, मसलन नशीली दवाओं का करोबार, अपहरण, बलात्कार, तस्करी, सिरियल किलिंग, आतंकवाद आदि। सिनेमा में पुलिस बने नायक का मुकाबला इन्हीं क्षेत्रों के अपराधियों से हुआ करता है। जबकि सामान्य जीवन में बड़ी मात्रा में अपराधों की प्रकृति दूसरे तरह की भी होती है। सिनेमा के पुलिसिया नायक से प्रेरित असली थानेदार मामूली से मामूली अपराध के लिये भी एक रिक्शाचालक को इतना और इतने बुरे तरीके से पीट सकता है कि उसकी कुछ महीनों बाद मौत हो जाये। सामान्य जीवन में अपराध की बहुत सारी व्याख्याएं पुलिस अपने पास रखती है और वह उसका अपने तई इस्तेमाल करती है। पारिवारिक वाद–विवाद, जमीन के झगड़े, छोटी–मोटी चोरियां, पाकेटमारी, जुआ, ठगी आदि के अपराधों से निपटने के दौरान पुलिस का असली चरित्र साफ उजागर हो जाता है। इन मामलों में असहाय लोगों से पुलिस का निपटने का तरीका दूसरा, जबकि सक्षम तबके से पेश आने का तरीका बिल्कुल अलग तरह का होता है। पुलिस रिश्वत और रसूख जानती है। बाकियों से वह उतनी ही क्रूरता से निपटती है, जितना सिनेमा का पुलिस नायक अपने दुश्मन से। पुलिस जोर–जबर्दस्ती से किसी से भी किसी तरह का जुर्म कबूलवा लेती है, जैसे सिनेमा में होता है, लेकिन तब यह नायक कर रहा होता है, इसलिये दर्शक को मजा आता है। असल में दर्शक अपराधी सरीखे पुलिस नायकों को बढ़ावा देकर पुलिसिया जोर–जबर्दस्ती के पक्ष में ही खड़ा होता है। जिसका प्रतिबिंबन

देर-सवेर उसे अपने समाज में आसपास देखने को मिल जाता है, जब कोई व्यक्ति सामान्य से भी अपराध में या बिना किसी अपराध के पुलिसिया मनमानेपन और अत्याचार का शिकार होता है। रोज-ब-रोज होने वाली हत्याएं, मौतें, अपहरण, लूट आदि के कई मामले हमेशा के लिये रहस्य रह जाते हैं। इनको रहस्य की तहों में रखे जाने के पीछे पुलिस द्वारा गढ़ी गयी कहानी होती है, जो मीडिया के द्वारा सच की शक्ल में सामने लायी जाती है। लोगों के लिये हकीकत वही है, जो मीडिया में आता है और, आमतौर पर मीडिया इन मामलों में पुलिसिया पड़ताल का अंधानुकरण करता है। फिल्म 'सिंघम' में पुलिस द्वारा की गयी खलनायक की हत्या को एस.पी. प्रेस कांफ्रेंस में आत्महत्या बताता है। वहाँ मौजूद तमाम पत्रकारों को यह आत्महत्या कतई परेशान नहीं करती। वे इस पर कोई सवाल नहीं उठाते। पुलिसिया कहानी ही सच की तरह उनकी रिपोर्टिंग में आती है। ऐसी फिल्मों में जिस तरह से पुलिसिया कार्यप्रणाली को स्वाभाविक बताकर आदर्श की तरह पेश किया जाता है, मीडिया की भूमिका भी इसी संदर्भ में समझी जाती है कि हर कदम पर वह पुलिस की मददगार साबित हो और इसी 'नेक्सस' का नतीजा होता है कि पुलिसिया अत्याचार के कई मामले दुनिया के सामने नहीं आ पाते हैं। कुछेक अपवादों में सच्चाईयों के उद्घाटन को छोड़ दिया जाए तो लगभग घटनाओं में लोग मीडिया के मार्फत पुलिसिया पक्ष को जानने को ही मजबूर होते हैं। इस एकतरफा रिपोर्टिंग के लिये जिन विश्वस्त सूत्रों का हवाला दिया जाता है, दरसल वे और कोई नहीं, पुलिसिया सूत्र ही होते हैं। इस किस्म की रिपोर्टिंग में कुछ मुहावरे और तथ्य हमेशा इस्तेमाल किये जाते हैं, मसलन, यह वाक्य बहुत धड़ल्ले से इस्तेमाल किया जाता है, 'पुलिस दल को देखते ही अपराधियों ने गोली चलाना शुरू कर दिया। जवाबी कार्रवाई में 'इतने' अपराधी मारे गये।' या 'गश्ती पर निकले पुलिस बल के आते ही नक्सलियों ने फायरिंग शुरू कर दी। पुलिस बल की जवाबी फायरिंग में 'इतने' नक्सली ढेर हो गये।' मुठभेड़ों की ऐसी तमाम खबरों में यह गौर करने वाली बात है कि पुलिस को हमेशा जवाबी हमले करते हुये दिखाया जाता है। पहला हमला हमेशा दूसरे पक्ष की ओर से होता है। पुलिस तो निर्दोष और बेचारी होती है। कई मुठभेड़ें जो दोतरफा कहकर प्रचारित की जाती हैं, असल में वे बिल्कुल एकतरफा विभत्स कार्रवाई होती हैं और राज्य के निर्देशानुसार पुलिस द्वारा रचे जाती है। माओवादिओं की ओर से मध्यस्थता कर रहे आजाद और पत्रकार हेमचन्द्रपांडे को नागपुर से पकड़कर आदिलाबाद के जंगलों में ले जाकर गोली मार दी गयी और प्रचारित कर दिया गया कि मुठभेड़ के दौरान दो कुख्यात नक्सली मारे गये। ऐसी हत्याओं की कई कहानियां हैं, जिनका उद्घाटन आज तक नहीं हो पाया है। केरल के एक काफी पुराने मामले की कलई सुप्रीम कोर्ट में खुली, जो दरअसल पुलिस अधिकारिओं द्वारा की गयी हत्या थी, जिसे मुठभेड़ के दौरान हुयी मौत बताया गया था। पुलिस ही नहीं, सेना भी इस मामले में काफी आगे है। उत्तर-पूर्व और कश्मीर में सेना ने सैकड़ों लोगों को प्वाइंट ब्लैंक से मार गिराया है, कई अब तक गायब हैं और उनका कोई सुराग नहीं है। इन मौतों को भी मुठभेड़ों में हुई मौतों की श्रेणी में डाल दिया गया है। कश्मीर में कई कब्रों की खुदाई से सेना द्वारा की गयी हत्याओं के खुलासे की शुरूआत हो चुकी है। ये हत्याएं जहाँ राज्य प्रायोजित होती हैं, वहीं कई मामलों में मेडल और तरक्की के

लिये भी जवानों और अधिकारियों द्वारा इसे अंजाम दिया जाता है। फिल्म 'दबंग' में अपने सहयोगी को तरक्की दिलाने का एक नुस्खा पुलिस नायक द्वारा अपनाया जाता है। नायक स्वयं अपने सहयोगी के कंधे में गोली मार देता है और इसे बैंक लुटेरों के साथ हुई मुठभेड़ का नतीजा बताता है। झूठे मुकदमों में फंसाने से लेकर, गायब कर देने, हत्या कर देने आदि मामलों में भी इस तरह के कई और नुस्खे पुलिसिया नायकों द्वारा उसी तरह अपनाए जाते हैं जैसे आम थाने का एक दरोगा रोजमर्रा की घटनाओं में अपनाता है। यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि हालिया पुलिसिया नायकों वाली फिल्मों में ये बातें आलोचनात्मक तरीके से आने की बजाय, बेहद नाटकीय तरीके से उन्हें महिमामंडित करते हुये आती हैं। पहले की फिल्मों के पोस्टर से ही यह पता चल जाता था कि खलनायक की ओर से पुलिस भी नायक के खिलाफ लड़ने वाली है। पुलिस का दरोगा वर्दी के बटन खोले, हवा में रिवाल्वर लहराते हुये, खलनायकत्व की भाव भंगिमा के साथ नायक को ललकारता हुआ दिखता था। इशारा पुलिसिया तंत्र के सड़ांध की ओर होता था कि कैसे जनता के रक्षक कहे जाने वाले भक्षक बने घूम रहे हैं। हालांकि तब की कई फिल्मों में पुलिस को बतौर नायक भी चित्रित किया गया। पुलिस नायक अमूमन ईमानदार और उसूलों वाला होता था, जो अपने फर्ज के आगे अपनी तमाम नाते–रिश्तेदारियां, धन–दौलत भी कुर्बान करने को तैयार रहता था। वह दयालू होता था और मानवीय मूल्यों का हमेशा ख्याल रखता था। तब ऐसे नायकों के लिये जो तालियां बजती थीं, उसका इशारा पुलिस व्यवस्था को अपनी चाल सुधारकर नायक के अनुरूप व्यवहार करने की ओर होता था। पर आज का पुलिस बना नायक अजीबोगरीब तरीके से सनकी, क्रूर, भ्रष्टाचारी और अमानवीय है। वह मानवाधिकारों को अपने ठेंगे पर रखता है। गरीबों का माखौल उड़ाता है। समाज को अपराधियों से मुक्त रखने के नाम पर वह सत्ता द्वारा प्रायोजित हत्याओं को अपने स्टाइल से अंजाम देता है और इसके लिये वाहवाही लूटता है। वह आसानी से पकड़ में आने वाले अपराधियों को भी मौके पर ही खत्म करने में भरोसा रखता है।

सिनेमा में बढ़ती हिंसा की बमबारी ने खलनायक को जितना हिंसक रूप दिया है, नायक भी प्रतिक्रियावश उतना ही हिंसक दिखाया जाता है। कई फिल्मों में बदला लेने के लिये नायक को और अधिक वहशी दिखाया गया है। चूंकि खलनायक बुराई का प्रतीक होता है, इसलिये उसकी क्रूरता देखकर दर्शक उससे नफरत करने को मजबूर होते हैं, लेकिन इसी क्रूरता के साथ खड़ा होने वाला पुलिसिया नायक कहीं से भी क्रूर, वहशी और बुरा नहीं जान पड़ता। उल्टे खलनायक को घेरने के प्लान और पटखनी देने के लिये उसकी भूरी–भूरी प्रशंसा की जाती है। क्या यह महज संयोग है कि आज जब भारतीय पुलिस सबसे ज्यादा संदिग्ध हो गयी है, तब इसे नायक के रूप में पेश कर इसका महिमामंडन किया जा रहा है, और इस पर लगातार फिल्में बनायी जा रही हैं। आज के दौर में पुलिस व्यवस्था में जनता का कितना यकीन है, इस पर एक सर्वेक्षण किया जाना चाहिये। क्या पुलिस को जो भूमिका सौंपी गयी है, उस पर वह खरी उतर रही है, क्या पुलिस या गुप्तचर एजेंसियां सरकार के लाइसेंसी गुंडें के तौर पर काम नहीं कर रही हैं, इन सवालों का जवाब यदि किसी शोध से जुटाया जा सके तो यह देखना दिलचस्प होगा कि पुलिस नायकों की क्रूरताओं पर सीटियां बजाने वाला दर्शक उसमें क्या मत जाहिर करता है।

•••

सभ्यता का खेल और निम्नवर्गीय संघर्ष : क्रिकेट और *लगान*

अजीत कुमार तिवारी

दुनिया को सभ्य बनाने के श्वेतबोझ से दबी औपनिवेशिक सत्ता ने अपने मातहतों को भद्रजनों का एक खेल सिखाया। यह खेल अंग्रेजी राज जब बराबरी वालों के साथ खेलता था तो वह 'क्रिकेट' कहलाता था। मातहतों के साथ खेलते समय उसी खेल का नाम रखा गयां 'लगान'। फिल्म लगान के आरंभ में ही अँग्रेजी औपनिवेशिक संस्कृति के इस सभ्य खेल की पृष्ठभूमि का संकेत सूत्रधार की टिप्पणी से मिलता है जो कि शीर्षक की प्रासंगिकता का आधार भी है, ''सन् १८९३ चंपानेर। देश के बीचो–बीच बसा एक छोटा सा गाँव। चंपानेर के लोग देश के हजारों गाँवों की तरह अपना गुजर–बसर खेती–बाड़ी से करते थे। गाँव की सीमा से लगकर अँग्रेज हुकूमत की छावनी थी और छावनी से दो कोस दूर दक्षिण की ओर इस प्रांत के राजा का किला था। अँग्रेज राजा के प्रांत की पड़ोसी राजाओं के आक्रमण से हिफाजत करते थे और उन राजाओं को भी वो इस राजा के आक्रमण से बचाने का वादा करते थे। इस दोगले खेल की बदौलत अँग्रेज उन राजाओं के साथ–साथ चंपानेर प्रांत के राजा से भी लगान वसूल करते थे। 'लगान'... किसान अपनी उपज– जैसे कि गेहूँ, बाजरा, चावल– का एक हिस्सा राजा को लगान के तौर पर देते थे। यही लगान हर राजा अपने प्रांत के हर गाँव से वसूल करता था। राजा इसमें से एक हिस्सा रखकर अँग्रेज के हवाले कर देता था। इस तरह अँग्रेज–मुट्ठी बुलंद होती गयी। देश के हजारों गाँवों की तरह चंपानेर के किसान भी दिन रात मेहनत करके, अपना पेट काटके सालों–साल राजा को लगान पहुँचाते रहे हैं।'' लगान रजत पटल पर क्रिकेट के रूपक में औपनिवेशिक प्रतिरोध और निम्नवर्गीय संघर्ष की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।

लोकप्रिय सिनेमा में निम्नवर्गीय नायकत्व की अवधारणा भारतीय जनआकांक्षाओं का प्रतिबिंब मानी जाती रही है। वहीं बीसवीं सदी के आठवें दशक के दौरान १९८३ क्रिकेट विश्वकप खिताब के बाद क्रिकेट ने जनआकांक्षाओं के साथ–साथ अर्थव्यवस्था के समीकरण को भी प्रभावित किया। *लगान* के पहले और बाद में क्रिकेट पर आधारित जो अन्य भारतीय फिल्में बनी

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, मो. ०९२११०६३४८०

है– *ऑल राउण्डर* (१९८४), *अव्वल नंबर* (१९९०), *इकबाल* (२००५), *चेन्नई ६०००२८* (२००७), *हैट्रिक* (२००७), *से सलाम इंडिया* (२००७), *चेन कुली की मेन कुली* (२००७), *मीराबाई नॉट आॅउट* (२००८), *विक्टरी* (२००९), *दिल बोले हड़िप्पा* (२००९), *पटियाला हाउस* (२०११), *फरारी की सवारी* (२०१२)– उनमें से अधिकांश व्यक्तिगत उत्थान–पतन, प्रेरणा, स्पर्धा, पहचान, सद्भाव, साथीभाव, ईमानदारी और मनोरंजन आदि की कहानियाँ हैं। कमोबेश सभी फिल्मों के कथानक तात्कालिक विषयों पर केंद्रित हैं। 'इकबाल' और तमिल कामदी 'चेन्नई ६०००२८' को छोड़कर अन्य कोई भी फिल्म प्रेक्षकों के मन और सिनेमाई अर्थशास्त्र पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव छोड़ने में असफल ही रही। तो एक महत्त्वपूर्ण सवाल मन में उपजता है कि आखिर *लगान* में ऐसी क्या खास बात थी कि उसने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। आम धारणा है कि क्रिकेट मनोरंजन से अधिक राष्ट्रीय भावनाओं के साथ जुड़ा खेल है। भारतीय फिल्मों में निम्नवर्गीय नायकत्व की रूमानियत के साथ राष्ट्रवाद और देशभक्ति को विरेचन का दुर्भेद्य अस्त्र माना जाता है। इस बिंदु पर सुधन्वा देशपाण्डे *लगान* की प्रमुख विशिष्टताओं को रेखांकित करते हैं, जिसमें देशप्रेम और राष्ट्रवाद की भावना के संचार के लिए न तो मुस्लिम खलनायक को रचा गया न ही पाकिस्तान विरोध का सहाग लिया गया। गांधीवादी आदर्शवाद की मूल भावना के साथ *लगान* हिंसक हुए बिना औपनिवेशिक प्रतिरोध की गाथा है, जिसमें हिंसा की गुंजाइश को भी नकार दिया गया है। राजा की एक विच्छिन्न राष्ट्रवादी की छवि में गाँधी ज़ी के उस आग्रह का संकेत भी है जिसमें राष्ट्रीय आंदोलन को देशी रियासतों तक न फैलने की ताकीद की गयी थी। *लगान* भविष्य के वास्तविक स्वराज की खातिर हर वर्ग के उपनिवेशितों को उपनिवेशों के विरूद्ध अपने सभी अंतर्विरोध दूरकर एकजुट होने का आह्वान करती है। *लगान* औपनिवेशिक चुनौती से निपटने और उसपर विजय प्राप्ति के लिए किसान, कामगार, दलित, मुस्लिम और सिख एकता की कल्पना के लिए भी उल्लेखनीय है।[६]

लगान औपनिवेशिक रूपकों और राजनीतिक व्यंग्य से भरपूर फिल्म है। फिल्म के आरंभ में ही जब अंग्रेजी सेना की एक टुकड़ी गाँव में कदम ताल करती हुई गुजर रही होती है तो गाँव के हर चेहरे पर अपनी बदहाली का वास्तविक कारण झलकता है। गूरन के मन की बात जुबां पर आ जाती है और वह अंग्रेजी हुकूमत का भविष्य बाँच देता है, ''हरामी कहीं के। गीदड़न की औलादों.. थू... धूप में जूगनू ढूँढत हैं। एक दिन वापस ओही गोरे टापू पर लौटे के पड़ी, जहाँ से आए हो। भाग का सनीचर कोढ़–कोढ़ फली, देख लीह।'' वहीं फिल्म में अँग्रेजी दंभ और स्थानीय नागरिकों के प्रति उनकी हिकारत का परिचय सनकी सार्जेण्ट कैप्टन रसेल के उस व्यवहार से मिलता है जब जंगल में हिरण का शिकार करते हुए उसके निशाने को भुवन बार–बार विफल कर देता है। सैनिक भुवन को पकड़ लाते हैं। रसेल कहता है, ''समझा। पाँच बार मैं उस हिरण को क्यों नहीं मार सका। तुम जानवरों के रक्षक हो!'' स्थानीय सैनिक बताते हैं, ''किसान है हुजूर, चंपानेर का।'' रसेल व्यंग्य करता है, ''वाउ। यू मस्ट बी अ वेरी गुड रनर। (वाह। तुम बेशक एक अच्छे धावक होगे।)'' फिर बंदूक का निशाना एक खरगोश की ओर करके रसेल भुवन से कहता है, ''नाऊ ट्राय टू सेव दिस वन। (अब इसे बचा कर दिखाओ।)'' फिर

चेतावनी देता है कि ''नेक्स्ट टाइम आय विल शूट यू। (अगली बार निशाना तुम्हें बनाऊंगा।)'' फिल्म के परवर्ती द्वंद्व की पृष्ठभूमि में इस घटना की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका है। शिकार खेलने के बाद रसेल छावनी लौटता है तो प्रांत के राजा पूरनमल उसका इंतजार कर रहे होते हैं। उनकी बातचीत की शैली भी एक राजनीतिक रूपक की तरह फिल्म के कथानक को गति प्रदान करती है। राजा पूछते हैं, ''कैसा रहा शिकार आपका?'' रसेल कहता है, ''अंग्रेज शिकार के खेल में दुनिया में सबसे आगे हैं। दि ब्रिटिशन एंपायर इज दि बेस्ट इन द वर्ल्ड। (ब्रिटिश साम्राज्य दुनिया में सर्वश्रेष्ठ है) नहीं?'' राजा सहमति के साथ मजाक करते हैं कि, ''बिल्कुल। लेकिन हमें फिक्र हो रही है। (रसेल– क्या?) जब शिकार जंगल में खत्म हो जाएगा, कौन सा खेल खेलेगी आपकी बंदूक।'' दरअसल ब्रिटिश साम्राज्य को केवल वर्चस्व का खेल पसंद था, बस खेल के नियम और मैदान बदल जाया करते थे। लगान उसी दोगले खेल का एक नियम और मैदान भर था। *लगान* फिल्म में भारतीय संस्कृति और जीवन शैली के प्रमुख अंग धार्मिक विश्वास को विशिष्ट रूपक के तौर पर प्रस्तुत किया गया है। *लगान* फिल्म में वर्णित द्वंद्व के पार्श्व में धार्मिक आस्था की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। रसेल जब राजा से उनके आने की वजह पूछता है तो राजा बताते हैं कि, ''पिछले तीन साल से हमारी प्रजा ने सिद्धेश्वर के मंदिर में पूजा नहीं की है। उनका विश्वास है कि पिछले साल जो उनपर तकलीफें आयीं हैं, वहाँ पूजा करने से खत्म हो जाएंगी। लेकिन ... (रसेल बीच में टोकता है– लेकिन जिस प्रांत में मंदिर है उस प्रांत का राजा है राजा दिलेर सिंह। आपका चचेरा भाई और आपका दुश्मन।) राजा– और आपका अजीज दोस्त। मुझे विश्वास है कि अगर आप दिलेर सिंह से बात करेंगे तो वह बात टालेगा नहीं।'' रसेल का कुटिल स्वभाव राजा के सामने एक शर्त रख देता है कि यदि वह गोश्त का एक टुकड़ा खा लेंगे तो उनका काम हो जाएगा। राजा इस शर्त का मंदिर से ताल्लुक जानना चाहते हैं, तो रसेल कहता है कि कोई ताल्लुक नहीं है। बस वह राजा को गोश्त खाते हुए देखना चाहता है। राजा इस अयाचित प्रस्ताव को यह कहकर अस्वीकार कर देते हैं कि ''कर्म का धागा पहनने के लिए हम धर्म का धागा नहीं तोड़ सकते।'' रसेल के अहंकार को राजा के अस्वीकार से ठेस पहुँचती है। वह दुगुने लगान की माँग रख देता है। साथ ही यह याद दिलाता है कि पिछले साल भी उसने आधा लगान राजा के कहने पर ही स्वीकार कर लिया था, वह भी देरी से। राजा बारिश न होने का तर्क देते हैं तो रसेल तंज कसता है, ''ब्रिटिश राज हिंदुस्तान की बारिश से नहीं नहाता राजा जी। बारिश या नो बारिश, मुझे तो ये छावनी बरकरार रखनी है। फौज का खर्चा उठाना है। उनका खाना–पीना, कपड़े सबकुछ। आपकी सुरक्षा के लिए। (राजा चिंता में कि किसान दुगुना लगान देंगे कैसे)... कम ऑन राजा जी! सिर्फ दुगुना लगान ही तो है। और फिर आप कुछ भी तो नहीं खाते।'' लगान न केवल आर्थिक शोषण का अपितु साम्राज्यवादी राजनीति और सैन्य संघटन का भी एक प्रमुख माध्यम था। जंगल में शिकार और राजा द्वारा गोश्त खाने से इनकार की दो घटनाओं ने रसेल के सनकी और दंभी दिमाग को तिलमिलाकर रख दिया। सभ्य अँग्रेज ने जाहिल गँवार देशजों को सबक सिखाने का फैसला कर लिया। रीढ़विहीन राजा पूरनमल द्वारा 'धर्म के धागे' (स्वहित) को 'कर्म के धागे' (सामान्यहित) पर वरीयता देना तत्कालीन प्रांतीय राजाओं की स्वार्थपरता और

अशक्तता का चित्रण करता है। शीघ्र ही राजा पूरनमल की ओर से दुगुने लगान का फरमान चंपानेर की जनता तक पहुँचता है। साथ ही इसे पूरे प्रांत पर लागू कर दिया जाता है। इस फरमान पर पूरे गाँव का गुस्सा राजा के खिलाफ फूट पड़ता है। गाँव का मुखिया राजा के खिलाफ कुछ भी सुनने से यह कहकर इनकार कर देता है कि ''राजा जी के खिलाफ कऊनो ऊँच नीच बात नहीं सुनेंगे हम। राजा जी और उनके पुरखन ही इतना बरस साया रखे हैं हम पर।'' गाँव का ही अरजन मुखिया पर कटाक्ष करता है कि ''साया रखा है तो! अहसान किया है! छाँव देना पेड़ का धरम होता है। हम तो सिर्फ इतना जानना चाहित हैं कि भूखे पेट आखिर कब तक उनकी मलारें गावैं। उनकी गोदामें भरैं।'' मुखिया उसे समझाता है, ''बात समझो अरजन। ई दुगुना लगान राजा जी का नहीं... ऊ गोरे सांडों की माँग है।'' इस घटना का साम्य ज्ञानेंद्र पाण्डेय ने १९२१ के अवध किसान आंदोलन के बाद गाँधी जी की सलाह से दर्शाया है। गाँधी जी की सलाह थी कि जमींदार अगर सताते हैं तो किसानों को थोड़ा सह लेना चाहिए। हम जमींदारों से लड़ना नहीं चाहते। जमींदार भी गुलाम ही हैं.और हम उन्हें परेशान करना नहीं चाहते।[२]

भुवन मुखिया के इस तर्क का विरोध करता है। वह प्रस्ताव रखता है कि सभी गाँव वालों को राजा से चलकर इस साल भी लगान दे पाने की असमर्थता जाहिर कर देनी चाहिए। मुखिया प्रतिप्रश्न करता है कि यदि राजा मना कर दें तो? भुवन टका सा जवाब देता है, ''तो सारी अलग–अलग उँगलियन की मुट्ठी बन जइहैं मुखिया जी। (मुखिया– मतलब! तुम लड़ोगे!) भुवन– अगर जरूरत पड़ी तो वो भी। (मुखिया– तोहार खोपड़ी घूम गयी है भुवन। राजा जी के साथ गुस्ताखी करोगे तो खुद तो डूबोगे ही हम सबका भी लैके डूबोगे।) भुवन– तो अबै कौन सी जिंदगी सुख भोग रही है? डूबे नहीं है का? (मुखिया– जो भी हो लेकिन हम पूरे गाँव पर धूल नहीं उड़ने देंगे।) भुवन– का चाहते का हैं आप? घर बार बेंच दें! गाय बैल और तन बेंच दें दुगुना लगान भरे खातिर! कौनो इंसाफ है?'' भुवन के इस बुनियादी सवाल पर मुखिया निरुत्तर हो जाता है और पूरा गाँव इंसाफ की आस में राजा के पास पहुँचता है। भुवन का विरोध किसान विद्रोह की संभावना का एक आभास कराता है। हालांकि निसिम मन्नथकरण का मानना है कि भारत में किसान विद्रोहों पर एक सरसरी निगाह डालने पर, कम से कम १९वीं सदी के अंत तक के, यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐसी निम्नवर्गीय गतिविधियों में कहीं से भी राष्ट्रीय चेतना का निवेश नहीं किया जा सकता। इसके उलट जैसा कि रंजीत गुहा दर्शाते हैं इसका चरित्र मुख्यतः अपने देशीय भूभाग को बचाने की भावना से प्रेरित था। प्राथमिक तौर पर चंपानेर गाँव का अंग्रेजी राज के प्रति आक्रोश भी स्थानीय निजी भूभाग के सरोकार का ही नतीजा था। लेकिन निम्नवर्ग द्वारा औपनिवेशक सत्ता मात्र को अपने शत्रु के रूप में पहचान ने एक राष्ट्रवादी काल्पनिकता का मार्ग प्रशस्त किया।[३]

गाँव का एक समूह लगान की माफी के लिए राजा से मिलने जाता है। राजा राजमहल में न होकर अंग्रेजों का क्रिकेट मैच देख रहे होते हैं। पहली नजर में यह खेल उनके कौतूहल का विषय बनता है। भुवन इस खेल को 'गिल्ली डंडा' जैसा ही बताता है। क्रिकेट के मैदान में पहली टकराहट की स्थिति तब उत्पन्न होती है जब एक गेंद को गाँव का भूरा कौतुक से उठा लेता है।

अंग्रेज खिलाड़ी उसे धक्का देते हुए हिकारत से कहता है कि ''यू आर नॉट सपोज्ड टू टच द बॉल। (तुम गेंद छूने के लायक नहीं हो।)'' प्रतिरोध में गेंद भुवन उठा लेता है तो हाथापाई की नौबत आ जाती है। अंग्रेज खिलाड़ी उस पर नस्लीय टिप्पणी (ब्लडी डार्की) करता है और सैनिकों से तुरंत भुवन को पकड़ लेने का आदेश देता है। इस त्वरित घटनाक्रम के बाद सभी खिलाड़ी और राजा स्वयं गांव वालों के पास जाते हैं। राजा द्वारा कारण पूछे जाने पर भुवन रोष प्रकट करते हुए कहता है, ''माफी चाहित हैं राजा जी। हम इहां आप से मिले के वास्ते आये थे। इनका ई टुकटुक वाला सड़ियल भद्दा सा खेल देखने नाहीं। (भुवन का इशारा कैप्टन रसेल की ओर होता है)... हमारा दर्द जानना तो दूर, ऊ गोरे ने भूरा पर हाथ छोड़ दिया।'' अपने भद्र खेल क्रिकेट को 'सड़ियल भद्दा सा खेल' सुनकर रसेल तिलमिला उठता है। रसेल को यह बात पसंद नहीं आयी। बीच बचाव करते हुए राजा ने गाँव वालों की परेशानी का हवाला दिया और रसेल से भुवन को नादान बच्चा समझकर माफ कर देने की गुजारिश की। इस पर रसेल कहता है ''इतना भी नादान नहीं है।... जंगल में तुम्हीं थे ना।... ठीक है। इसका फैसला खेल के बाद करेंगे। लीव हिम। (छोड़ दो इसे)'' चूंकि क्रिकेट का मजाक भुवन ने उड़ाया था इसलिए इसी बात को रसेल ने प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। बल्लेबाजी के दौरान भुवन की तरफ देखकर रसेल के चेहरे पर जो भाव उभरता है वह सब कुछ स्पष्ट कर देता है।

क्रिकेट के बाद गाँव वाले राजा से अपनी लगान माफी की दरख्वास्त रखते हैं। राजा सहानुभूति रखते हुए भी अपनी असमर्थता जाहिर करते हैं। ''हम समझ सकते हैं कि आप लोगों पर क्या बीत रही है। लेकिन हमारे हाथ भी बँधे हैं। ...गोरी चमड़ी वाले अपने बाप के सगे नहीं होते। दुगुना लगान तो आप लोगों को देना ही पड़ेगा।'' कैप्टन रसेल राजा से कहता है कि गाँव वालों का लगान माफ हो सकता है लेकिन एक शर्त पर। और फिर भुवन की ओर इशारा करते हुए पूछता है कि ''तुम... इधर आओ। क्या कहा था तुमने हमारे खेल के बारे में। ...सड़ियल भद्दा सा खेल है। ...तुम इस खेल के बारे में क्या जानते हो?'' भुवन दु:साहस के साथ कहता है ''बचपन से खेलत आ रहे हैं। हम इका गिल्ली डंडा कहत हैं और आप न जाने का।'' रसेल इस तुलना पर चिढ़ जाता है, ''क्रिकेट।... तो तुम्हारा ये कहना है कि क्रिकेट तुम खेल सकते हो।'' भुवन कहता है ''हाँ, आसान है।'' रसेल भुवन के इस बड़बोलेपन का उपहास करते हुए लगान माफी की शर्त को सामने रखता है। वह चुनौती देता है कि गाँव वाले क्रिकेट के खेल में अंग्रेजों को हरा दें तो उनका लगान माफ हो सकता है। राजा के इस शर्त पर हँसने पर तो रसेल और भी गंभीर हो जाता है। लेकिन साथ ही शर्त यह भी कि कहीं गाँव वाले मैच हार गये तो उन्हें तीन गुना लगान चुकाना पड़ेगा। भुवन इस शर्त पर तुरंत कोई प्रतिक्रिया नहीं देता। रसेल शर्त को और लुभावना बनाकर अधीनस्थों की लाचारी का लुत्फ लेना चाहता है। रसेल प्रस्ताव रखता है कि ''ठीक है। हम शर्त बढ़ाता है। तुम हमको इस खेल में हराओगे तो तुम्हारा इस साल का तो क्या, हम अगले साल का भी लगान माफ कर देगा। है मंजूर? (मुखिया और अन्य गाँव वाले भुवन को इस उकसावे पर चुप रह जाने को कहते हैं) ... ठीक है। हम शर्त और बढ़ाता है। सिर्फ एक नहीं अगले दो साल का लगान माफ कर देगा। यानि तीन साल। सिर्फ तुम्हारे ही

अंग्रेज खिलाड़ी उसे धक्का देते हुए हिकारत से कहता है कि ''यू आर नॉट सपोज्ड टू टच द बॉल। (तुम गेंद छूने के लायक नहीं हो।)'' प्रतिरोध में गेंद भुवन उठा लेता है तो हाथापाई की नौबत आ जाती है। अंग्रेज खिलाड़ी उस पर नस्लीय टिप्पणी (ब्लडी डार्की) करता है और सैनिकों से तुरंत भुवन को पकड़ लेने का आदेश देता है। इस त्वरित घटनाक्रम के बाद सभी खिलाड़ी और राजा स्वयं गांव वालों के पास जाते हैं। राजा द्वारा कारण पूछे जाने पर भुवन रोष प्रकट करते हुए कहता है, ''माफी चाहित हैं राजा जी। हम इहां आप से मिले के वास्ते आये थे। इनका ई टुकटुक वाला सड़ियल भद्दा सा खेल देखने नाहीं। (भुवन का इशारा कैप्टन रसेल की ओर होता है)... हमारा दर्द जानना तो दूर, ऊ गोरे ने भूरा पर हाथ छोड़ दिया।'' अपने भद्र खेल क्रिकेट को 'सड़ियल भद्दा सा खेल' सुनकर रसेल तिलमिला उठता है। रसेल को यह बात पसंद नहीं आयी। बीच बचाव करते हुए राजा ने गाँव वालों की परेशानी का हवाला दिया और रसेल से भुवन को नादान बच्चा समझकर माफ कर देने की गुजारिश की। इस पर रसेल कहता है ''इतना भी नादान नहीं है।... जंगल में तुम्हीं थे ना।... ठीक है। इसका फैसला खेल के बाद करेंगे। लीव हिम। (छोड़ दो इसे)'' चूंकि क्रिकेट का मजाक भुवन ने उड़ाया था इसलिए इसी बात को रसेल ने प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। बल्लेबाजी के दौरान भुवन की तरफ देखकर रसेल के चेहरे पर जो भाव उभरता है वह सब कुछ स्पष्ट कर देता है।

क्रिकेट के बाद गाँव वाले राजा से अपनी लगान माफी की दरख्वास्त रखते हैं। राजा सहानुभूति रखते हुए भी अपनी असमर्थता जाहिर करते हैं। ''हम समझ सकते हैं कि आप लोगों पर क्या बीत रही है। लेकिन हमारे हाथ भी बँधे हैं। ...गोरी चमड़ी वाले अपने बाप के सगे नहीं होते। दुगुना लगान तो आप लोगों को देना ही पड़ेगा।'' कैप्टन रसेल राजा से कहता है कि गाँव वालों का लगान माफ हो सकता है लेकिन एक शर्त पर। और फिर भुवन की ओर इशारा करते हुए पूछता है कि ''तुम... इधर आओ। क्या कहा था तुमने हमारे खेल के बारे में। ...सड़ियल भद्दा सा खेल है। ...तुम इस खेल के बारे में क्या जानते हो?'' भुवन दु:साहस के साथ कहता है ''बचपन से खेलत आ रहे हैं। हम इका गिल्ली डंडा कहत हैं और आप न जाने का।'' रसेल इस तुलना पर चिढ़ जाता है, ''क्रिकेट।... तो तुम्हारा ये कहना है कि क्रिकेट तुम खेल सकते हो।'' भुवन कहता है ''हाँ, आसान है।'' रसेल भुवन के इस बड़बोलेपन का उपहास करते हुए लगान माफी की शर्त को सामने रखता है। वह चुनौती देता है कि गाँव वाले क्रिकेट के खेल में अंग्रेजों को हरा दें तो उनका लगान माफ हो सकता है। राजा के इस शर्त पर हँसने पर तो रसेल और भी गंभीर हो जाता है। लेकिन साथ ही शर्त यह भी कि कहीं गाँव वाले मैच हार गये तो उन्हें तीन गुना लगान चुकाना पड़ेगा। भुवन इस शर्त पर तुरंत कोई प्रतिक्रिया नहीं देता। रसेल शर्त को और लुभावना बनाकर अधीनस्थों की लाचारी का लुत्फ लेना चाहता है। रसेल प्रस्ताव रखता है कि ''ठीक है। हम शर्त बढ़ाता है। तुम हमको इस खेल में हराओगे तो तुम्हारा इस साल का तो क्या, हम अगले साल का भी लगान माफ कर देगा। है मंजूर? (मुखिया और अन्य गाँव वाले भुवन को इस उकसावे पर चुप रह जाने को कहते हैं) ... ठीक है। हम शर्त और बढ़ाता है। सिर्फ एक नहीं अगले दो साल का लगान माफ कर देगा। यानि तीन साल। सिर्फ तुम्हारे ही

अंग्रेज खिलाड़ी उसे धक्का देते हुए हिकारत से कहता है कि ''यू आर नॉट सपोज्ड टू टच द बॉल। (तुम गेंद छूने के लायक नहीं हो।)'' प्रतिरोध में गेंद भुवन उठा लेता है तो हाथापाई की नौबत आ जाती है। अंग्रेज खिलाड़ी उस पर नस्लीय टिप्पणी (ब्लडी डार्की) करता है और सैनिकों से तुरंत भुवन को पकड़ लेने का आदेश देता है। इस त्वरित घटनाक्रम के बाद सभी खिलाड़ी और राजा स्वयं गांव वालों के पास जाते हैं। राजा द्वारा कारण पूछे जाने पर भुवन रोष प्रकट करते हुए कहता है, ''माफी चाहित हैं राजा जी। हम इहां आप से मिले के वास्ते आये थे। इनका ई टुकटुक वाला सड़ियल भद्दा सा खेल देखने नाहीं। (भुवन का इशारा कैप्टन रसेल की ओर होता है)... हमारा दर्द जानना तो दूर, ऊ गोरे ने भूरा पर हाथ छोड़ दिया।'' अपने भद्र खेल क्रिकेट को 'सड़ियल भद्दा सा खेल' सुनकर रसेल तिलमिला उठता है। रसेल को यह बात पसंद नहीं आयी। बीच बचाव करते हुए राजा ने गाँव वालों की परेशानी का हवाला दिया और रसेल से भुवन को नादान बच्चा समझकर माफ कर देने की गुजारिश की। इस पर रसेल कहता है ''इतना भी नादान नहीं है।... जंगल में तुम्हीं थे ना।... ठीक है। इसका फैसला खेल के बाद करेंगे। लीव हिम। (छोड़ दो इसे)'' चूंकि क्रिकेट का मजाक भुवन ने उड़ाया था इसलिए इसी बात को रसेल ने प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया। बल्लेबाजी के दौरान भुवन की तरफ देखकर रसेल के चेहरे पर जो भाव उभरता है वह सब कुछ स्पष्ट कर देता है।

क्रिकेट के बाद गाँव वाले राजा से अपनी लगान माफी की दरख्वास्त रखते हैं। राजा सहानुभूति रखते हुए भी अपनी असमर्थता जाहिर करते हैं। ''हम समझ सकते हैं कि आप लोगों पर क्या बीत रही है। लेकिन हमारे हाथ भी बँधे हैं। ...गोरी चमड़ी वाले अपने बाप के सगे नहीं होते। दुगुना लगान तो आप लोगों को देना ही पड़ेगा।'' कैप्टन रसेल राजा से कहता है कि गाँव वालों का लगान माफ हो सकता है लेकिन एक शर्त पर। और फिर भुवन की ओर इशारा करते हुए पूछता है कि ''तुम... इधर आओ। क्या कहा था तुमने हमारे खेल के बारे में। ...सड़ियल भद्दा सा खेल है। ...तुम इस खेल के बारे में क्या जानते हो?'' भुवन दु:साहस के साथ कहता है ''बचपन से खेलत आ रहे हैं। हम इका गिल्ली डंडा कहत हैं और आप न जाने का।'' रसेल इस तुलना पर चिढ़ जाता है, ''क्रिकेट।... तो तुम्हारा ये कहना है कि क्रिकेट तुम खेल सकते हो।'' भुवन कहता है ''हाँ, आसान है।'' रसेल भुवन के इस बड़बोलेपन का उपहास करते हुए लगान माफी की शर्त को सामने रखता है। वह चुनौती देता है कि गाँव वाले क्रिकेट के खेल में अंग्रेजों को हरा दें तो उनका लगान माफ हो सकता है। राजा के इस शर्त पर हँसने पर तो रसेल और भी गंभीर हो जाता है। लेकिन साथ ही शर्त यह भी कि कहीं गाँव वाले मैच हार गये तो उन्हें तीन गुना लगान चुकाना पड़ेगा। भुवन इस शर्त पर तुरंत कोई प्रतिक्रिया नहीं देता। रसेल शर्त को और लुभावना बनाकर अधीनस्थों की लाचारी का लुत्फ लेना चाहता है। रसेल प्रस्ताव रखता है कि ''ठीक है। हम शर्त बढ़ाता है। तुम हमको इस खेल में हराओगे तो तुम्हारा इस साल का तो क्या, हम अगले साल का भी लगान माफ कर देगा। है मंजूर? (मुखिया और अन्य गाँव वाले भुवन को इस उकसावे पर चुप रह जाने को कहते हैं) ... ठीक है। हम शर्त और बढ़ाता है। सिर्फ एक नहीं अगले दो साल का लगान माफ कर देगा। यानि तीन साल। सिर्फ तुम्हारे ही

नहीं सारे प्रांत का। कहो मंजूर है?'' गाँव वाले भुवन के चेहरे पर चुनौती स्वीकारने का भाव पढ़कर मुखिया जी को बात करने के लिए कहते हैं लेकिन रसेल उन्हें डाँट देता है। वह भुवन से फिर पूछता है कि क्या वह दुगुना लगान देने को तैयार या उसे शर्त मंजूर है। लगान भले ही अंग्रेजों के लिए निरीह जनता की बदहाली और लाचारी का आनंद लेने का महज एक खेल हो लेकिन भुवन जैसे किसानों के लिए जीवन—मरण का प्रश्न था। रसेल और भुवन दोनों ने इसे प्रतिद्वंद्वी को उसी के जाल में फँसाने की युक्ति के रूप में देखा। रसेल ने तय किया कि मैच तीन महीने बाद होगा। गाँव वालों ने जहाँ इस चुनौती को विपदा की तरह देखा तो वहीं भुवन ने इसे एक अवसर की तरह लिया। भुवन के अनुसार ''विपदा नहीं है मुखिया जी, मौका है मौका। हम सिर्फ जोश में हाँ नहीं किये। चूल्हे से रोटी निकाले के लिए चिमटे को अपना मुँह जलाहे के पड़ी। मानत हैं कि हमार पलड़ा हल्का है मगर इम्मा उम्मीद तो है। और इसी उम्मीद का हम सच्चाई में बदलना चाहत हैं। ...ई खेल है हमरे खेत खलिहान के लिए। भूल गये। अगर जीते तो तीन साल सुखी होंगे। तीन साल। जरा सोचो तीन साल कौनो लगान नहीं। जाने हो ईका मतलब? मतलब हमार अनाज सिर्फ हमरा होगा।...'' गाँव के अरजन के इस पर व्यंग्य पर कि ''छोटी छोटी आँखें और बड़े बड़े सपने!'' पर भुवन कहता है कि ''हाँ अरजन हम सपना देखत हैं। लेकिन सपने वहीं साकार कर पावै हैं जो उन्हें देखत हैं।'' तात्कालिक हित के सपनों के बीच कहीं न कहीं औपनिवेशिक प्रतिरोध के लिए एक निम्नवर्गीय संघटन का सपना भी आकार ले रहा था। रसेल ने क्रिकेट का मैच जीतने के लिए नहीं बल्कि जनता के हौसले को पस्त करने की नीयत से खेलने का प्रस्ताव रखा था। इस दृष्टि से भुवन का शर्त मंजूर करना ही औपनिवेशिक अहंकार पर गहरा आघात था। फिल्म का पूरा कथानक इसी घटना और दृश्य का विस्तार मात्र है। आगे की कहानी सभ्यता के खेल और निम्नवर्गीय संघर्ष के रूपक को रजत पटल पर पूरे रोमांच के साथ उभारती है।

फिल्म में साम्राज्यवादी प्रतिरोध के अहिंसक प्रतीक के रूप में क्रिकेट का चुनाव अकारण और आकस्मिक नहीं था। मजूमदार बताते हैं कि भारत में क्रिकेट की शुरुआत उन्नीसवीं सदी के चौथे दशक में पारसी लड़कों के द्वारा हुई। वे कुछ उसी तरह क्रिकेट खेलना शुरु करते हैं जिस तरह *लगान* फिल्म में भुवन अपने दो तीन साथियों के साथ शुरु करता है। टोपी को विकेट, छाते को बल्ला और चमड़े के चीथड़ों को सिलकर गेंद बनाने के साथ क्रिकेट खेलने की शुरुआत हुई। १८४८ में इन्हीं पारसी पुरुषों ने 'ओरिएण्टल क्रिकेट क्लब' की स्थापना की। ५०—६० के दशक तक लगभग तीस पारसी क्रिकेट क्लब बन चुके थे। पारसी क्रिकेट के शुरुआती इतिहासकारों में से एक मंकसजी कावसजी पटेल के अनुसार इस प्रवृत्ति के पार्श्व में नवोदित पारसी बुर्जुआ की औपनिवेशिक राज्य के साथ संबंध मजबूत करने की मंशा थी। पारसी बुद्धिजीवियों ने भी इस प्रवृत्ति का, स्थानीय गर्म वातावरण में सदियों से कुंद हो चली एक नस्ल के भौतिक जीवनी शक्ति के नवोन्मेष के प्रतीक के रूप में, स्वागत किया। भारतीय क्रिकेट की कहानी कई तरह से, जैसी कि *लगान* में भी कही गयी, इतिहास के उन धुँधले पन्नों पर भी रोशनी डालती है जिसमें इस खेल को खेलने का कारण महज ब्रिटिशों से स्पर्धा के बजाय बहुत ही जटिल रहा है। समय बीतने के साथ पारसियों की पहल में भी राष्ट्रवादी अनुगूँज सुनाई पड़ने लगी। दिलचस्प है कि, लगान

का मैच १८९३ में खेला गया, ठीक दो साल बाद जब पारसियों ने जी. एफ. वर्नन के नेतृत्व वाली मेहमान ब्रिटिश टीम को तत्कालीन बंबई में १२०० दर्शकों के सामने पराजित कर दिया था। इस मैच ने पूरे देश में देशभक्ति के उत्साह का संचार कर दिया था। ऐतिहासिक साम्य की दृष्टि से वह घटना भी उल्लेखनीय है जिसमें भारतीय गेंदबाज एच. मोदी के गेंदबाजी शैली की शिकायत ब्रिटिश टीम ने वैसे ही की थी जैसे कि *लगान* फिल्म में गोली पर उँगली उठायी गयी।[४] इन घटनाओं ने फिल्म को निम्नवर्गीय इतिहास दृष्टि से एक दर्शनीय रूपक और उल्लेखनीय पाठ बना दिया।

जैसा कि आलेख में पहले भी कहा गया है *लगान* में धार्मिक विश्वास एक महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। नायक भुवन के बल्ले से निकला पहला शॉट जब मंदिर के घंटे से लगता है तो भुवन का सपना दूसरे गाँव वालों की आँखों में भी तैरने लगता है। और फिर लोग आते गये और कारवाँ बढ़ता गया। क्रिकेट को सीखने और गाँव की जनता को एकजुट करने की प्रक्रिया में भारतीय जनमानस के तमाम अंतर्विरोधों का परिचय मिलता चलता है। विरूद्धों के सामंजस्य और समन्वय की विराट चेष्टा का प्रतीक बनकर नायक भुवन क्रिकेट के मैदान में निम्नवर्गीय संघर्ष का बीज बो दे देता है। इसी बीच प्रांत के दूसरे गाँव वाले भुवन से इस बात का जवाब माँगने आ जाते हैं कि उनकी किस्मत का फैसला करने वाला वह कौन होता है। साथ ही उसे इस नादानी और गुस्ताखी के लिए अंग्रेजों से माफी माँगने की हिदायत भी दी जाती है। चूंकि राजा ही अंग्रेजों और प्रांत की जनता के बीच मध्यस्थ की भूमिका में था इसलिए गुहार राजा से ही की जाती है। राजा का दोहरा चरित्र भी उजागर होता है जब वह कहता है कि "बात मंदिर, खेल या दुगुने लगान की नहीं रही। बात अब अंग्रेज की है। उस सनकी कैप्टन रसेल के अहंकार की।...(गाँव वाले दलील देते हैं कि भुवन ने जोश में बात कह दी थी।)...जोश और होश की तो बात ही नहीं रही। इसने तुम सबकी तरफ से अंग्रेजों को ललकारा है।...(गाँव वाले कहते हैं कि भुवन और सभी गाँव वाले माफी माँगने को तैयार हैं, लेकिन भुवन इनकार कर देता है। यह बात राजा को भी नागवार गुजरती है जो श्वेत श्रेष्ठता स्वीकार कर चुका होता है।) ...माफी की तो अब बात ही नहीं उठती। अब जो कर दिया है उसे भुगतो। (और व्यंग्य से) उनका खेल सीखो।" भुवन चुनौती को तो पहले ही स्वीकार कर चुका था, राजा के इनकार ने गाँव वालों के सामने भी भुवन का साथ दे पाने का ही एकमात्र विकल्प छोड़ा।

लगान की विशिष्टता इस बात में भी है कि यह किसी जाति या राष्ट्रीयता के पक्षपात की नहीं बल्कि न्याय और अन्याय की पक्षधरता की कहानी है। काव्यात्मक न्याय के अंतर्गत स्वयं कैप्टन रसेल की बहन एलिजाबेथ भुवन और उसके साथियों की सहायता के लिए आगे आती है और उन्हें क्रिकेट की बारीकियों से परिचित कराती है। एलिजाबेथ ने गाँव की अलग–अलग ऊँगलियों को मुट्ठी बनने की प्रक्रिया में उत्प्रेरक का काम किया। उधर कैप्टन रसेल को मध्य प्रांत के ब्रिटिश मुख्यालय तलब किया जाता है। अंग्रेज अधिकारी कैप्टन रसेल के अतिआत्मविश्वास तथा ब्रिटिश कानून व्यवस्था के नजरिये से उसकी अप्रत्याशित कार्यप्रणाली पर बेहद नाराज होते हैं। उसे याद दिलाया जाता है कि ब्रिटिश राज उसकी फंतासियों से नहीं

चल सकता और उसे यहाँ रानी की सेवा के लिए रखा गया है। रसेल अपने बचाव में दलील देता है कि अगर गाँव वाले हार जाते हैं जो कि उन्हें हारना ही है तो उन्हें तिगुना लगान देना होगा। यह दलील अधिकारियों को हास्यास्पद लगती है और वे रसेल को चेतावनी देते हैं कि यदि वह क्रिकेट के खेल में जीत जाता है तो बाल–बाल बच जाएगा। लेकिन कहीं वह हार गया तो उसे न केवल अपनी जेब से पूरे प्रांत का लगान भरना पड़ेगा बल्कि उसका तबादला मध्य अफ्रीका के रेगिस्तान में कर दिया जाएगा। इस प्रसंग ने रसेल को तिलमिलाकर रख दिया। छावनी लौटकर वह अपनी झल्लाहट अधीनस्थ सिपाहियों पर उतारता है। वरिष्ठ अधिकारियों से अपमानित होने पर वह इस बात का संकल्प जताता है कि क्रिकेट के खेल और लगान के बीच संबंध सिद्ध करके दम लेगा। एक अन्य अंग्रेज जब पूछता है कि क्या हम क्रिकेट मैच को स्थगित कर दें तो रसेल साफ इनकार कर देता है। इसी बीच अरजन, जो घोड़े की नाल लगा रहा होता है, का ध्यान हटता है और घोड़े को चोट लग जाती है। रसेल इस बात पर बुरी तरह भड़क उठता है। अरजन को चाबुक से पीटते हुए रसेल अपने वास्तविक चरित्र और मंशा का परिचय देता है, ''मेरे घोड़े को तकलीफ दिया। अब तुम लोग नहीं बचेगा। तुम लोगों से इतना लगान वसूल करेगा कि पहनने को कपड़ा नहीं रहेगा।... तुम साला गुलाम लोग हमारी जूती के नीचे ही रहेगा।'' अरजन रसेल से बस इतना ही कह पाता है कि ''जूते की तल्ली कितनी भी मोटी हो सरकार, एक दिन घिसत जरूर है। फिर कीलें चुभने लगती हैं।'' इस घटना ने औपनिवेशिक मंशा के विरूद्ध देसी मानस के तत्काल ध्रुवीकरण का काम किया।

लगान का संघर्ष महत दीर्घकालिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिए छोटे और तात्कालिक स्वार्थों की आहुति देने का प्रतीक भी बना। न्याय की इस लड़ाई से सरोकार रखने वाले एक–एक करके जुड़ते गये। गोरी मेम एलिजाबेथ के साथ ने जहाँ इस्माईल को प्रेरित किया वहीं अंग्रेजों को किसी भी लड़ाई में हराने के जज्बे ने धौलपुर से आये देवा सिंह सोढ़ी को भुवन के दल से मिलवाया। फिल्म में मुस्लिम और सिख अस्मिता को बड़े ही सौम्य ढंग से आत्मसात कर मुट्ठी की बढ़ती मजबूती को दर्शाने का प्रयास किया गया है। स्थानीय सामाजिक विषमता और अंतर्विरोधों की कड़ी में कचरा प्रकरण औपनिवेशिक संघर्ष के इस महायज्ञ की अंतिम आहुति सिद्ध होती है। पूरे गाँव के विरोध के बावजूद भुवन कचरा को दल में शामिल करने की प्रतिबद्धता नहीं छोड़ता। भुवन सबके जमीर को झिंझोड़ता है और अपने उद्देश्य को फिर से दोहराता है, ''एक बात आप सबको फिर से याद दिलाइ दूँ। ये सिर्फ खेल नहीं है जो हम किसी मौज मनोरंजन के लिए खेलत हैं। ये एक लड़ाई है जो हमका जीतनी है। हमार मकसद सिर्फ एक है। लगान से मुक्ति और गाँव की खुशहाली।'' कचरा न केवल अछूत है बल्कि लूला भी जो प्रकारांतर से उसकी सामाजिक स्थिति का संकेत भी है। लेकिन इस कमजोर मानी जाने वाली कड़ी को ही भुवन अपनी सबसे बड़ी ताकत के रूप में देखता है। मजूमदार के अनुसार कचरा का प्रसंग इतिहास में उन घटनाओं से प्रेरित है जब बंगाल में मनीदास और बंबई में बालू जैसे निम्नवर्गीय और अछूत खिलाड़ियों को दल मे धनी और सवर्ण खिलाड़ियो का विरोध सहना पड़ा था। भुवन की भाँति ही नागेंद्रनाथ सर्बाधिकारी जैसी शख्सियतों ने उन्नीसवीं सदी में खेल में जात–पाँत और ऊँच–नीच

का पुरजोर विरोध किया।[5] इतिहास की घटनाओं से इस तरह के साम्य लगान को एक अतिरंजित और अतिभावुक फिल्म होने से बचा लेते हैं।

निम्नवर्गीय चेतना के निदर्शन के क्रम में लगान स्त्री प्रश्न पर राजनीतिक तौर पर एक कमजोर फिल्म है। ऐसा परिवेशगत यथार्थ के कारण भी संभव है। हालांकि इस बिंदु पर चंद्रिमा चक्रबोर्ती नोट करती हैं कि एलिजाबेथ को क्रिकेट कोच के रूप में प्रस्तुत कर एक तरह के संतुलन का प्रयास किया गया है। हालांकि चंद्रिमा यह भी मानती हैं कि फिल्म में एलिजाबेथ की उपस्थिति समस्यात्मक रूप से 'अन्य' नस्ल के उद्धारक के रूप में प्रायोजित है।[6] तमाम अंतर्विरोधों और सीमाओं के बावजूद लगान में किसान, कामगार, दलित, अल्पसंख्यक और स्त्रियों का एक ऐसा निम्नवर्गीय संघटन तैयार होता है जो राष्ट्र के मुहावरे से इतर अपने संघर्ष का नेतृत्वकर्ता और मार्गदर्शक स्वयं है। *लगान* में उपनिवेश विरोधी चेतना का निर्माण किसी बाहरी तत्त्व द्वारा नहीं किया गया। इन्हीं प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से फिल्म उस आदर्शवादी निष्कर्ष की ओर बढ़ती है, जिसमें एक राष्ट्रीय चरित्र की सुगबुगाहट है। फिल्म के कथानक को सघन और अर्थपूर्ण बनाने में गीतों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। आरंभ में *लगान* के गीत में जहाँ आशावाद के संगीत का संचार है (''संत कहे, साधू कहे, सच और साहस है जिसके मन में, अंत में जीत उसी की रहे।''), वहीं चेतना के विकास के क्रम में वास्तविक शत्रु के पहचान, देशीय स्तर पर गहरे क्षैतिक साथीभाव और राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण की झलक भी मिलती है (''बार–बार हाँ। बोलो यार हाँ। अपनी जीत हो उनकी हार हाँ।...वही जो तेरा हाकिम है। जालिम है। की है जिसने तबाही। घर उसका पच्छिम है यहाँ न बसने पाये।...''')। फिल्म में चित्रित अन्य सभी भावों– प्रेम, उलाहना, साथीभाव, सहानुभूति, सद्भाव, ईर्ष्या और घृणा– से ऊपर अन्याय के प्रति आक्रोश का भाव *लगान* का केंद्रीय भाव है।

फिल्म में निष्कर्ष से अधिक प्रभावोत्पादक संघर्ष की प्रक्रिया है। फिल्म में लगभग डेढ़ घण्टे तक चले क्रिकेट मैच के दौरान न्याय का पलड़ा असंतुलन में झूलता रहता है। अंग्रेज न्यायप्रियता के प्रतीक ईमानदार अम्पायर कानपुर से बुलाए जाते हैं। खेल देखने के लिए उमड़ पड़ी जनता को वरिष्ठ अंग्रेज अधिकारी कौतुक से सराहते हैं। अपेक्षा के अनुरूप तमाम नाटकीय मोड़ों से गुजरते हुए आखिरकार भुवन के नेतृत्व में चंपानेर का दल विजयी होता है। अंग्रेजों के लिए क्रिकेट जहाँ प्रतिष्ठा का प्रश्न था वहीं गाँववालों के लिए जीवन और गरिमा का। यह जीत सम्मिलित योगदानों का नतीजा थी जिसमें कचरा की तिकड़ी और भुवन के सैकड़े ने प्रमुख भूमिका निभायी। फिल्म में भुवन का सैकड़ा अतिरंजित प्रतीत होता है। हालांकि मजूमदार ने इस घटना को भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखा है। १९२६–२७ के दौरान कुछ भुवन जैसी ही पारी सी के. नायडू ने आर्थर गिलिगन के नेतृत्व में मेहमान दल एमसीसी के खिलाफ खेली थी। ब्रिटिशों के खिलाफ नायडू की १५३ रन की पारी आज भी भारतीय क्रिकेट कौशल की गौरव गाथा की तरह इतिहास में अंकित है।[7] क्रिकेट में मिली हार ने रसेल के साथ स्थानीय ब्रिटिश हुकूमत का मनोबल भी तोड़ दिया। सूत्रधार फिल्म की समाप्ति के पहले अंतिम टिप्पणी करता है कि, ''अंग्रेज सरकार यह जिल्लत बर्दाश्त नहीं कर सकी। उसने चंपानेर से छावनी हटाने के फैसले पर मुहर

लगा दी।... और इस तरह नपानेर ही नहीं उस प्रांत के सारे गाँवों को तीन साल तक कोई लगान नहीं देना पड़ा। कैप्टन रसेल को अपने सनकी बर्ताव की कीमत चुकानी पड़ी। उसे तीन गुना लगान भरना पड़ा और साथ ही उसका तबादला मध्य अफ्रीका के रेगिस्तान में कर दिया गया।... इस ऐतिहासिक जीत के बाद भी भुवन का नाम इतिहास के पन्नों के बीच कहीं खो गया।'' बावजूद इसके फिल्म का पाठ इसलिए उल्लेखनीय है कि क्रिकेट के जरिये लगान माफी की कवायद से शुरु हुआ एक खेल अंतत: औपनिवेशिक मुक्ति की आकांक्षा के साथ समाप्त होता है।

हिंदी सिनेमा के पटल पर स्वत:स्फूर्त जनसंघर्षों की श्रृंखला में *लगान* को एक ऐसी महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में प्रस्तुत किया गया जो मुख्यधारा के इतिहासलेखन में अनुल्लिखित रह गयी। हालांकि *लगान* फिल्म का अध्ययन करने वाले बोरिया मजूमदार ने इसको विस्मृत इतिहास के आह्वान के तौर पर देखा है और फिल्म के कई दृश्यों का साम्य ऐतिहासिक घटनाओं से दर्शाया है।[८] औपनिवेशिक प्रतिरोध की प्रक्रिया में लगान एक ऐसी घटना थी जिसने वर्ग विभाजित भारतीय मानस को राष्ट्र की भावना नहीं तो कम से कम स्थानीय तौर पर एक 'कल्पित समुदाय'[९] के संघटन के लिए अवश्य प्रेरित किया। जैसा कि रैनन ने भी माना है कि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया में स्मृतियों की विरासत के साथ विस्मृतियों की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।[१०] *लगान* कई दृष्टिकोणों– क्रिकेट, राष्ट्रवाद और सबाल्टर्न अध्ययन– से एक महत्त्वपूर्ण पाठ है। *लगान* इसलिए भी महत्त्वपूर्ण है कि इसने निम्नवर्गीय प्रसंग की ऐतिहासिक फिल्म होते हुए भी, जिसके दर्शकों की आम तौर पर कमी होती है, रजत पटल पर सफलता अर्जित की साथ ही वास्तविक (लोकप्रिय सिनेमा) और कल्पित (समानांतर सिनेमा) दर्शक वर्ग के अंतर को भी मिटा दिया।[११]

सन्दर्भ :

१. **Sudhanva Deshpande**; ***What's so Great about Lagaan?***, India International Centre Quarterly, Vol. 29, No. 3/4, India: A National Culture? (WINTER 2002-SPRING 2003), pp. 244-45

२. **Gyanendra Pandey**; ***'Peasant Revolt and Indian Nationalism: The Peasant Movement in Awadh, 1919-1922'*** in Ranajit Guha (ed.) Subaltern Studies 1, Oxford University Press, Delhi, pp. 159

३. **Nissim Mannathukkaren**; ***Subalterns, Cricket and the 'Nation': The Silences of 'Lagaan'***, Economic and Political Weekly, Vol. 36, No. 49 (Dec. 8-14, 2001), pp. 4581

४. **Boria Majumdar**; ***Politics of Leisure in Colonial India: 'Lagaan': Invocation of a Lost History?***, Economic and Political Weekly ; Vol. 36, No. 35 (Sep. 1-7, 2001), pp. 3400

५. Ibid, pp. 3401

६. **Chandrima Chakraborty**; ***Subaltern Studies, Bollywood and "Lagaan"***, Economic and Political Weekly, Vol. 38, No. 19 (May 10-16, 2003), pp. 1883

७. **Boria Majumdar**; ***Politics of Leisure in Colonial India: 'Lagaan': Invocation of a Lost History?***. Economic and Political Weekly ; Vol. 36, No. 35 (Sep. 1-7, 2001), pp. 3400

८. **Boria Majumdar**; ***Politics of Leisure in Colonial India: 'Lagaan': Invocation of a Lost History?***. Economic and Political Weekly ; Vol. 36, No. 35 (Sep. 1-7, 2001), pp. 3399-3404

९. (Nation) is an imagined political community- and imagined as both inherently limited and sovereign. It is *imagined* because the members of even the smallest nation will never know most of their fellow- members, meet them, or even hear of them, yet in the minds of each lives the image of their communion. **Anderson, Benedict** ; ***Imagined Communities***, Verso, 2003, p 6

१०. Forgetting, I would even go so far as to say historical error, is a crucial factor in the creation of a nation, which is why progress in historical studies often constitutes adanger for [the principle of] nationality. **Renan, Ernest**; '***What is a Nation***' in 'Nation and Narration', ed. Bhabha, Homi, Routledge, London and New York, 1995, pp-11

११. **Rachel Dwyer**; ***Real and Imagined Audiences: "Lagaan" and the Hindi Film after the 1990s***, Etnofoor, Vol. 15, No. 1/2, SCREENS (2002), pp. 177

...

ऑस्कर में भारतीय सिनेमा : एक विवरण

रेखा सिंह

वर्ष १९५७ से *भारतीय फिल्म फेडरेशन* द्वारा चयनित होकर प्रतिवर्ष एक फिल्म आधिकारिक प्रविष्टि के रूप में विदेशी भाषा फिल्म श्रेणी में ऑस्कर पुरस्कार के लिए भेजी जाती रही है। यूनाइटेड स्टेट्स की 'अकादमी ऑफ मोशन पिक्चर एंड साइंस' नामक संस्था द्वारा यह पुरस्कार हर वर्ष दिया जाता है। १९५७ से लेकर अब तक भेजी गयी कुल ४५ भारतीय फिल्मों से सिर्फ ३ फिल्में अंतिम रूप से ऑस्कर के लिए नामित हो पायीं— *मदर इंडिया*, *लगान* और *सलाम बाबे*। हालांकि अब तक किसी भी भारतीय फिंल्म को यह पुरस्कार प्राप्त नहीं हुआ है। इसके अपने साम्राज्यवादी अभिप्राय हैं। फिर भी यह जानना बड़ा दिलचस्प है कि अब तक भेजी गई प्रविष्टियों में हिन्दी भाषा की फिल्में सर्वाधिक रहीं हैं। आठ बार तमिल, दो बार बंगाली, मराठी और मलयालम तथा एक बार तेलुगु फिल्म भेजी गई है। तमिल फिल्मों के अभिनेता कमल हासन ने सर्वाधिक सात बार बतौर प्रतियोगी अभिनेता भारत का प्रतिनिधित्व किया है। इनमें से १९८५ से १९८७ के दरम्यान उनकी तीन लगातार फिल्मों को यह आधिकारिक प्रविष्टि मिली। सत्यजित राय ने तीन बार प्रतिनिधित्व किया लेकिन अंतिम रूप से उनकी कोई भी फिल्म नामित न हो सकी। १९५७ से अब तक का सिलसिला कुछ यों है :

वर्ष	फिल्म	भाषा	निर्देशक
१९५७	मदर इंडिया	हिन्दी	महबूब खान
१९५८	मधुमती	हिन्दी	विमल रॉय
१९५९	अपुर संसार	बंगाली	सत्यजित रॉय
१९६२	साहिब बीबी और गुलाम	हिन्दी/उर्दू	अबरार अल्वी
१९६३	महानगर	बंगाली	सत्यजित रॉय
१९६५	गाइड	हिन्दी	विजय आनंद
१९६६	आम्रपाली	हिन्दी	लेख टण्डन
१९६७	आखरी खत	हिन्दी	चेतन आनंद
१९६८	मझली दीदी	हिन्दी	ऋषिकेश मुखर्जी

३, न्यू स्टॉफ क्वार्टर्स, को—ऑपरेटिव कॉलेज कैंपस, जमशेदपुर, झारखण्ड

१९६९	देविया मगन	तमिल	ए.सी.तिरुलोकचन्दर
१९७१	रेशमा और शेरा	हिन्दी	सुनील दत्त
१९७२	उपहार	हिन्दी	सुधेंदु राय
१९७३	सौदागर	हिन्दी	सुधेंदु राय
१९७४	गरम हवा	उर्दू	एम.एस.सथ्यू
१९७७	मंथन	हिन्दी	श्याम बेनेगल
१९७८	शतरंज के खिलाड़ी	उर्दू/हिन्दी	सत्यजित रॉय
१९८०	पायल की झंकार	हिन्दी	सत्येन बोस
१९८४	सारांश	हिन्दी	महेश भट्ट
१९८५	सागर	हिन्दी	रमेश सिप्पी
१९८६	स्वाथी मुथियम	तेलुगु	कासीनाधुनी विश्वनाथ
१९८७	नयगन	तमिल	मणिरत्नम
१९८८	सलाम बांबे!	हिन्दी	मीरा नायर
१९८९	परिंदा	हिन्दी	विधु विनोद चोपड़ा
१९९०	अंजलि	तमिल	मणिरत्नम
१९९१	हिना	हिन्दी/उर्दू	रंधीर कपूर
१९९२	थेवार मगन	तमिल	भारथन
१९९३	रुदाली	हिन्दी	कल्पना लाजमी
१९९४	बैंडिट क्वीन	हिन्दी	शेखर कपूर
१९९५	कुरुथीपुनल	तमिल	पी.सी.श्रीराम
१९९६	इंडियन	तमिल	एस.शंकर

शेष पृष्ठ १८२ पर...

सिनेमाई बाजार में विकलांगता की नुमाइश : करुणा का बिकाऊ फार्मूला

अनिरूद्ध कुमार

करुणा और श्रृंगारिकता को भरपूर खूबसूरती के साथ ही तमाम विद्रुपताओं के साथ परोसने वाले हिंदी फिल्मकारों को विकलांगता कामधेनु लगती रही है जो दर्शकों की संवेदना को सिक्कों मे ढालकर न केवल उनके खाते की जमा राशि को दस अंकों वाले आकर्षक क्लब में पहुँचा सकती है बल्कि संवेदनशीलता, सामाजिक जुड़ाव और ऑस्कर में नामांकन जैसे तमगे भी दिला सकती है। यह आजमाया हुआ नुस्खा है जिसे हिंदी फिल्मों ने कई बार अपनाया है। २००५ ई. में आई **ब्लैक** की सफलता ने इसकी हृदयबेधक क्षमता पर फिर से मुहर लगा दी तो एक बारगी हिंदी फिल्मकार इस फार्मूले को तरह–तरह के रंग में रंगकर बाजार में उतर पड़े। विविध मात्रा और स्वाद के साथ ***इकबाल*** (२००५), ***गुजारिश*** (२०१०), ***माय नेम इज खान*** (२०१०), **बर्फी** (२०१२) आदि नामों से फिल्माई गई कहानियों के पात्र और घटनाओं की विविधता के आवरण को बेधकर मूल कथानक तक पहुँचने पर एक ही बुनियादी सूत्र हाथ लगता है। भारतीय दर्शक भीषण संघर्ष में जूझते नायक के जीत की कहानी देखना चाहते हैं। नायक का कमजोर लगना जरूरी है ताकि भीषण भावात्मक झंझावातों से तीन घंटे में दो–चार हो चुकने के बाद मिली जीत का स्वाद आश्चर्य की चटनी के साथ और भी मजेदार हो जाए। नायक कमजोर लगे इसके लिए सबसे सुविधाजनक रास्ता है उसे बीमार या विकलांग बना देना। गरीबी और सामाजिक उपेक्षा भी जुड़ जाय तब तो नायक करुणा पैदा करने का सफल यंत्र साबित होता है। ऐसे पराजित नायक के संघर्ष कर जीत हासिल करने की क़रामाती कहानी बचपन को खींचने वाले मदारी के बंदर की तरह दर्शकों को सिनेमाघरों में बार–बार ला बिठाने की ताकत रखती है। इस फॉर्मुले को लागू करने के लिए हिंदी फिल्मों ने बीसवीं सदी के नायक को लगातार ब्लड कैंसर या ब्रेन ट्यूमर या ऐसी ही किसी डरावनी बीमारी का शिकार बनाया। १९ वीं सदी के आखिरी दशक तक भारत में विकलांग आंदोलनों से पैदा हुई चेतना ने समाज का ध्यान अपनी ओर खींचा तो फिल्मकार भी इस दिशा की ओर फिर से आकृष्ट हुए। बीमारी में नायक का मरना जरूरी सा हो जाता

सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, पीजीडीएवी(सांध्य), दिल्ली वि.वि., मो. ०८५२७८२३३४२

था और ऐसी हर फिल्म पिछले की याद दिला जाती थी। कुछ नया करने के लिए उत्साही फिल्मकारों ने इक्कीसवीं सदी में करुणा के व्यापार के लिए सुविधाजनक रास्ते के रूप में विकलांगता की पहचान कर सोने की चिड़िया तक पहुँचने की स्वेज नहर खोद ली।

फरवरी २०१३ में आयोजित ८५वें ऑस्कर के लिए सर्वश्रेष्ठ विदेशी भाषा फिल्म की श्रेणी में भारत की ओर से आधिकारिक प्रविष्टि के रूप में भेजी गई फिल्म बर्फी (२०१२) विकलांगता को कुरकुरे की तरह परोसने की ताजी कोशिश है जिसमें दार्जिलिंग के मूक बधिर युवक मर्फी (बर्फी) जॉनसन दो लड़कियों श्रुति घोष और फिर झिलमिल चटर्जी के प्रेम की ओर उन्मुख घटनाओं के साथ हैरत और हास्य बिखेरता चलता है। बॉक्स ऑफिस के लिए इतना सामान भी पर्याप्त हो सकता था मगर लेखक और निर्देशक अनुराग बसु असफलता के द्वार पर दोहरा ताला जड़ते हुए दोस्ती की तरह का विविध विकलांगता वाला फार्मूला अपनाते हैं। ३८ करोड़ को ४०० करोड़ में बदलने वाली फिल्म ***माय नेम इज खान*** के रिजवान तरह ही झिलमिल मानसिक विकलांगता (ऑटिज्म) से पीड़ित है और संप्रेषण में कठिनाई, कार्य–व्यवहार में दुहराव, सामाजिक कटाव आदि मुश्किलों से जूझती है। इतनी भिन्नता जरूर है कि रिजवान को ऐस्पर्जर सिंड्रोम (ऑटिज्म का एक प्रकार) होने का पता बहुत बाद में चलता है लेकिन झिलमिल तो बचपन से ही उसकी और अपने अमीर माँ–बाप की सामाजिक कुंठा की शिकार है। दिल को सुकून मुहैया कराने वाली हास्य–रोमांस से भरपूर ***माय नेम इज खान*** या ***बर्फी*** के सुखिया संसार से निकलकर विकलांगता के प्रस्तुतिकरण पर विचार करने पर यह समझना मुश्किल हो जाता है कि यदि विकलांगता न होती तो फिल्म की कहानी में बुनियादी रूप से क्या बदल जाता? ***आक्रोश*** जैसी फिल्म के संवाद रहित पात्र और ***बर्फी*** के मूक–बधिर होने के कारण संवाद रहित पात्र होने में क्या फर्क है? वास्तव में विकलांगता कहानी में ऐसा कुछ भी नहीं जोड़ती है जिसके लिए उसे विकलांगों की सकारात्मक छवि प्रस्तुत करने वाली फिल्म के रूप में चिह्नित किया जाए। मूक–बधिरता और ऑटिज़्म केवल प्रेम–रोमांस को नया स्वाद देने के मसाले हैं जिनका विकलांगता के आंदोलनों से पैदा हुई सकारात्मक चेतना से कोई सरोकार नहीं है। ***बर्फी*** की हरकुलिसिया हरकतों के पीछे की किसी प्रक्रिया को बताना एक मुश्किल डगर है जिसपर चलने के साहस का दर्शन हिंदी फिल्म में दुर्लभ है। मुश्किल यह है कि विकलांगता के मसाले से ३० करोड़ को १७५ करोड़ में बदलने में सफल होने पर यह या ऐसी फिल्म सकारात्मक विकलांगता के चित्रण के दावे के साथ कलात्मक और संवेदनात्मक श्रेष्ठता का पुरस्कार माँगने निकल पड़ती हैं। ***रेनमैन***, ***एलिफैंटमैन***, ***आई डोंट वांट टू टॉक एवाउट इट*** जैसी अधुनातन विकलांगता चेतना से युक्त फिल्मों को देख चुके अंग्रेजी चयनकर्ताओं की कसौटी पर इन दावों के साथ गई ***बर्फी*** जैसी फिल्मों का पहले ही दौर में चयन से बाहर हो जाना स्वाभाविक था।

विकलांगता के फॉर्मूले के उन व्यवसायियों और उनके समर्थक अधिकारियों के लिए २०१२ के सफलतम फिल्म की असफलता भी शायद ही एक सबक हो सके जो विकलांग व्यक्ति को देखते ही करुणा से द्रवीभूत होकर उनके जीवन यथार्थ को उसमें डूबो देते हैं और, जब दूसरा मार्ग पकड़ते हैं तो विकलांग पात्र उन्हें इतना जिंदादिल और जिजीविषा से पूर्ण दिखाई पड़ते हैं

कि वे उसे हैरतजनक खतरों से खेलकर मजा लूटते, केवल होठों के इशारों पर भरतनाट्यम करते, शब्दबेधी शक्ति से लैस होकर अचूक निशाना मारते, भीख माँगकर भी दूसरे दुखियों का कल्याण करते आदि अलौकिक विभूतियों से युक्त देव बना देते हैं। हिंदी सिनेमा के अधिकांश विकलांग पात्र इन्हीं दो ध्रुवों पर रचे गए हैं। इसलिए जब ये फिल्में कुछ सकारात्मक संदेश देने की कोशिश करती हैं तो अपना ही मजाक बना बैठती हैं। मसलन ***बर्फी*** में मूक–बधिर युवक से विवाह न करने की सलाह देते हुए श्रुति की माँ कहती है : ''बात सिर्फ पैसों की नहीं है। जो तू सुनना चाहेगी, वो बोल नहीं पाएगा और जो तू कहेगी वो सुन नहीं पाएगा। ...वो खामोशी धीरे–धीरे एक दिन तेरे प्यार को ही खामोश कर देगी। तू शायद उससे इशारों में बात कर भी लेगी। लेकिन दुनिया तुझे देखके इशारे करेगी।'' विकलांगता की सकारात्मक छवि के दावेदार फिल्म के लेखक अनुराग बसु माँ के इस दावे को श्रुति के अनुभव के आधार पर गलत ठहराकर विकलांगता को बेहतर साबित करने की कोशिश करते हैं। श्रुति कहती है : 'माँ ने कहा था कि बर्फी और मेरे बीच की खामोशी एक दिन हमारे बीच के प्यार को ही खामोश कर देगी। मैं और रंजीत बात तो करते थे पर दिल खामोश थे। हम शब्दों को सुनते थे पर उन्हें महसूस नहीं करते थे। हम हर लिहाज में पूरे थे मगर हमारा प्यार अधूरा था। बर्फी अधूरा था पर उसका प्यार पूरा था।'' यह मजाक नहीं तो क्या था कि अनुराग की कलम त्वरित निर्णय ले सकने और समर्पित प्रेम करने वाले बर्फी की प्रशंसा करते हुए भी अधूरा कह रही थी और खामोश दिल वाले और किसी के खो जाने को अपने लिए मौका के रूप में देखने वाली पात्र खुद और अपने ही जैसे पात्रों को पूरा कह रहे थे।

अनुराग बसु बर्फी के प्यार की पूर्णता की तारीफ करते वक्त भी उसकी अपूर्णता को रेखांकित करना अनिवार्य समझते हैं। ठीक उसी तरह जैसे प्रेम की शब्दातीत भाषा समझाने के लिए बर्फी को जबर्दस्ती मूक और झिलमिल को मानसिक विकलांग बना देना जरूरी समझा गया। भारतीय फिल्म समीक्षकों और सितारादाताओं ने भी इस फिल्म से सबक लेकर विकलांगता को ध्रुवों से उतारकर हरी–भरी कोलाहल युक्त धरती पर लाने के मार्ग बंद ही किए हैं। मसलन जी न्यूज के फिल्म समीक्षक रेशम सेंगर ने इस फिल्म से उन निर्माताओं को सबक लेने की सलाह दी जो विकलांग चरित्रों को दब्बू और उबाऊ बनाते हैं। हालांकि मूल्यहीन अखबारी लेखन की जोर–शोर से जारी परंपरा निभाते हुए ऐसे किसी फिल्म और निर्माता का नाम लेना उन्होंने उचित नहीं समझा।[२] ***बर्फी*** के विकलांग पात्रों के प्रेम को उसके ही गैर–विकलांग पात्रों के प्रेम की तुलना में रखकर देखने के बजाय १९८० ई. में साई परंजपय द्वारा लिखित और निर्देशित फिल्म ***स्पर्श*** के विकलांग और गैरविकलांग पात्र के बीच के प्रेम के सामने रखने पर विकलांगता और प्रेम दोनों कसौटी पर ***बर्फी*** नितांत बनावटी और चिढ़ानेवाली लगती हैं। ***स्पर्श*** के नवजीवन अंध विद्यालय में कार्यरत दृष्टिबाधित प्राचार्य अनिरूद्ध परमार (नसीरुद्दीन शाह) में न बर्फी की सी अतिशय जिंदादिली है न ही दिल को परोसने की बेचैनी। हालांकि दिल जरूर है जिसमें २०० दृष्टिबाधित विद्यार्थियों के हित की कामना और उन्हें स्वावलंबी बनाने के पुख्ता इरादे हैं। उसमें परावलंबी होकर सुविधाभोगी होने के खिलाफ एक ज्वलनशील आत्माभिमान है जो विकलांगता

को करुणा का उत्स बना देने के खिलाफ सदैव सचेत रखती है। वह डॉक्टर के पास पहुँचने में आरंभ में ही मदद जरूर लेता है मगर उससे अधिक नहीं जितनी की जरूरी और स्वाभाविक है। वह कविता प्रसाद (शबाना आजमी) के मदद के प्रस्ताव को सधन्यवाद इनकार करता है। वह सहयोगी अध्यापक जगदीश से कहता है : "जानते हो जगदीश! जिस दिन मुझे ये लगेगा कि तुम्हारे बगैर मेरा काम नहीं चल सकता उस दिन तुम्हारी छुट्टी हो जाएगी।" वह कविता द्वारा बेचारे बच्चों को जयादा से ज्यादा कुछ सिखाने की बात पर कहता है : "एक छोटी सी अर्ज है। एक लब्ज आप जितनी जल्दी–से–जल्दी भूल जाएं उतना अच्छा होगा। बेचारा। हमें मदद चाहिए तरस नहीं। यहाँ के बच्चों की जिंदगी में एक बहुत बड़ी कमी जरूर है लेकिन उस कमी का बार–बार अहसास दिलाने से कोई फायदा नहीं।... अगर आप उन्हें कुछ देंगी तो वो भी आपको बहुत कुछ देंगें। किसी का किसी पर अहसान नहीं। कोई बेचारा नहीं।" यह फिल्म देखने वालों की दुनिया के समानांतर दृष्टिबाधितों की अपनी अलग दुनिया को रेखांकित करती है जिसमें मस्ती, शरारतें, दोस्ती, स्नेह, स्पर्धा सबकुछ है– जरा सी भिन्नता के साथ। वे बोतल के ढक्कन से गेंद सा बनाकर क्रिकेट का मजा लेते हैं। नाटक खेलते हैं, दोस्त बनाते हैं, झगड़ा और कुश्ती करते हैं तथा ब्रेल के माध्यम से पढ़ाई करते हैं। उनकी समस्याएं भी अलग हैं और प्रेम की कसौटी भी भिन्न है। अनिरूद्ध दृष्टिबाधित तथा सामान्य बच्चे की दुनिया में पैदा खाई को रेखांकित करते हुए कहता है : "ब्रेल में सिर्फ टेक्सटबुक छपती हैं। भूगोल, विज्ञान, गणित, इतिहास। लेकिन हल्की–फुल्की कहानियों से दिल बहलाने वाली किताबें कितनी हैं ब्रेल में! क्या आप समझती हैं कि अंधे बच्चों को परियाँ और राक्षस और सिंदबाद और इसप्ट और टाज़म और मिकी माउस ये सब पसंद नहीं आते।" कविता से प्रेम हो जाने पर वे एक उजाले को अपनाने के लिए सगाई कर लेते हैं। अनिरूद्ध कविता की सुंदरता को गोरा बड़ी आँखें, घने बाल, रंग आदि से अलग पहचान बताते हुए कहता है : "तुम्हारे बदन की, बालों की महक टुबुकमी है। इसलिए तुम सुंदर हो। निसिगंधा के फूल की तरह और, तुम्हारी आवाज बहुत स्पर्शी है इसीलिए तुम सुंदर हो; सितार के झंकार की तरह। और तुम्हारा स्पर्श बहुत कोमल है इसलिए तुम सुंदर हो– मखमल की तरह।" *स्पर्श* दृष्टिबाधितों के स्वाभिमान और स्वावलंबन का जीवन जीने की तीव्र जिजीविषा के साथ उसके पीछे की न्यूनता के गहन आत्मबोध को भी रेखांकित करता है और उनके प्रति न्यूनता के सामाजिक बोध को भी। कविता के साथ अनिरूद्ध के विवाह को जब मंजू का पति सुरेश कविता के त्याग और बलिदान के रूप में रेखांकित करता है और स्वयं कविता भी उसे अपना कर्त्तव्य बताती है तो अनिरूद्ध विवाह के नाम पर होने वाले त्याग रूपी एहसान को अस्वीकार कर देता है। वह कविता की सहेली मंजू से इसकी वजह बताते हुए कहता है : "जब से हमारी सगाई तय हुई मुझे ये अहसास होने लगा कि ये शादी नहीं यज्ञ होने जा रहा है जिसमें कविता आत्मबलिदान देने जा रही है, महान बनने जा रही है। और इस चक्कर में मुझे छोटे से छोटा बनाया जा रहा है। ...एक अपाहिज से शादी करके वह शहीद होने जा रही थी। ...वो मेरी सेवा करेगी। उसका सुंदर त्याग कभी खत्म नहीं होगा। यही रहेगी हमारे वैवाहिक जीवन की कहानी।"

स्पर्श ने बड़ी खूबसूरती से दो दुनिया के अंतर को दिखाने के साथ ही उसे समझदारी

से पाटने के रास्ते को भी रेखांकित किया। कविता शीघ्र ही दृश्य के बदले ध्वनि, खुशबू और स्पर्श के महत्व को पहचानकर उन्हें दृश्यों के विकल्प के रूप में स्थान देना शुरू करती है। वह ब्रेल सीखती है और अंततः सगाई को तोड़ने वाला अनिरूद्ध पुनः मिलकर एक उजाला लाने के लिए उसके पास जाता है। हालांकि फिल्म कुछ स्थानों पर जबर्दस्ती संवादों के सहारे कुछ निष्कर्ष निकालने की कोशिश करती प्रतीत होती है। मसलन बेचारे शब्द पर प्रतिबंध लगाने वाले प्राचार्य द्वारा बेचारा शब्द कहलवाना संवाद में ठीक नहीं बैठता है और आगे के कुछ संवादों के लिए बनाई गई सीढ़ी सा लगता है जिसके सहारे लेखक ने दृष्टिबाधित व्यक्ति के न्यूनता के आत्मबोध को प्रदर्शित करने की चेष्टा की है। इसी तरह संबोधन के प्रति संवेदनशील प्राचार्य का नॉर्मल बच्चों का संवाद लेखक की समझदारी में मौजूद फाँक को चिह्नित करता है। अनिरूद्ध ब्रेल किताबों की समस्या को सामने रखते हुए कहता है : "नॉर्मल बच्चों के लिए हर रोज हजारों किताबें छपती हैं और यहाँ मैं इसी इंतजार में रहता हूँ कि कब कोई नई किताब ब्रेल में छपे और कब मैं उसे अपने बच्चों के लिए खरीद लूँ।" १९८० ई. तक विकलांगता आंदोलन वैश्विक स्तर पर जोर पकड़ने लगा था तथा १९७५ में हुए समझौते के साथ वैश्विक स्तर पर विकलांगता संबंधी नई चेतना प्रसारित हो रही थी। अपमानजनक या न्यूनताबोध कराने वाली भाषा चिह्नित कर प्रतिबंधित की जाने की शुरूआत हो गई थी। ऐसे में एक सचेत प्राचार्य पर बेचारा और नॉर्मल जैसे शब्द आरोपित ही लगते हैं और लेखक की सीमा का संकेत करते हैं।

बर्फी की श्रुति ने बर्फी और रिमझिम के प्रेम को पूर्ण माना था और ***स्पर्श*** की मंजू ने अनिरूद्ध से कविता के प्रेम को अलौकिक बताया। किंतु ***बर्फी*** जितनी असामाजिक, दुर्लभ और अस्वाभाविक लगती है ***स्पर्श*** उतनी ही सामाजिक, संभव और स्वाभाविक। इसमें ***बर्फी*** की तरह न प्यार की सच्चाई परखने वाला कोई लिटमस है न ही एक साथ मरने की कसौटी।

१९७२ ई. में आई गुलजार द्वारा लिखित और निर्देशित फिल्म ***कोशिश***, ***स्पर्श*** की तरह ही विकलांगता को उसकी शक्तियों और संभावनाओं के साथ यथार्थ रूप में बेहद खूबसूरत, मार्मिक और प्रेरणादायी ढंग से चित्रित करती है। ***स्पर्श*** की तरह ही यहाँ भी एक समानांतर दुनिया है जिसमें मूक–बधिर हाथों, इशारों और होंठ पढ़ना सीखकर अपनी निजी दुनिया का निर्माण करते हैं। मूक–बधिर युवक हरिचरण के बताने पर आरती की माँ दुर्गा उसे मूक बधिर विद्यालय में भर्ती करवाती है। वहाँ की शिक्षिका उससे इस समानांतर और उतनी ही मजेदार दुनिया का राज समझाते हुए कहती है : "आवाज के साथ तो नहीं बोल सकते ये बच्चे लेकिन उँगुलियों के इशारों से बिल्कुल उसी तरह बात कर सकते हैं जैसे हमलोग दो होठों से बात कर सकते हैं। खास तौर पर वो बच्चे जो आरती की तरह कुछ लिखना–पढ़ना पहले से जानते हैं। इनके दो–तीन कोर्स होते हैं पहला वो जो दो बेजुबान आपस में बोलते हैं। दूसरा वो जो ये लोग बोलने–सुनने वालों के साथ–साथ बातचीत करते हैं। तीसरा है लिप रीडिंग। यानि की आप जरा आहिस्ता बोलें तो आपके होठों से ये लोग लब्ज बना लेते हैं और, समझ जाते हैं। ...उसने अपनी बीबी को हाथों की जुबान सिखा दी है और अब वो लोगों के सामने भी प्राइवेट बाते करते रहते हैं।" शिक्षिका दुर्गा को यह जरूरी नसीहत भी देती है कि : "इन बच्चों को ज्यादा सहारा भी नहीं देना चाहिए।

इन पर तरस कभी न खाइए। इन्हें बिल्कुल ये महसूस न होने दीजिए कि इनमें कुछ कमी है इसलिए दूसरों से अलग बर्ताव किया जा रहा है। बल्कि जितना आम लोगों में घुलेंगें–मिलेंगें उतना ही अच्छा है।" कोशिश न केवल दो मूक–बधिर आरती और हरि के मिलने, प्रेम करने, विवाह करने और कठिन परिश्रम कर अपनी संतान को उच्च शिक्षा दिलाने तक के सफर की कहानी है। यह फिल्म दिलचस्प ढंग से उनके साथ दृष्टिबाधित नारायण अंकल के परिचय तथा संवाद को रेखांकित करते हुए संवाद का सर्वथा नवीन सूत्र संभव करती है मगर ***बर्फी*** या ***ब्लैक*** की तरह न कोई आरोपित मसाला है न अवास्तविक लगने वाला जीवन। जीवन को संपूर्णता में जीने की अदम्य कोशिश इस फिल्म को बेहद खास बनाती है। समस्या यह है कि हिंदी की अधिकांश फिल्में ***बर्फी*** की तरह अस्वाभाविक उपकरणों के साथ विकलांगता को परोसने वाली कतार में शामिल है।

संजय लीला भंसाली की ***ब्लैक*** (२००५) और ***गुजारिश*** (२०१०) विकलांग पात्रों को हीरो के रूप में प्रस्तुत करने के लिए उन्हें बेहद मुश्किल स्थिति में डालकर कठिन संघर्ष में जीतते हुए दिखाती हैं। इसके लिए वह कई अस्वाभाविक मसाले का इस्तेमाल करती है जो इन कहानियों को सुर्खियां बनाने वाली क्षमता को बढ़ाती है मगर साथ ही विकलांग जीवन यथार्थ से बेहद दूर ले जाती है। यह दिलचस्प है कि उनके पात्र निम्न या निम्न मध्यवर्ग से नहीं आए हैं। इसलिए आर्थिक समस्या की चिंता जो कि विकलांग पात्रों को, ***दोस्ती*** (१९६४) जैसी फिल्मों में भिखारी बना रही थी, इन्हें नहीं थी। २१वीं सदी की विकलांग चेतना के नए दौर में विकलांग पात्र को भिखारी बनाकर नायक बनाने की कहानी कहना अस्वाभाविक हो उठा था। विकलांगों के संघर्ष, शिक्षण और सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के इस दौर में संजय ने विकलांगता से उबरने और मुश्किलों के बीच जिंदादिल रहकर प्रेरणा–स्रोत बनने की कहानी चुनी। ***ब्लैक*** की मिसेल मैकनली वास्तव में प्रसिद्ध अमेरिकी दृष्टिबाधित–बधिर आचार्य, समाजसेवी और राजनीतिक विचारक हेलेन केलर की कहानी है जो १९ माह की अवस्था में पेट और मस्तिष्क की बीमारी (शायद स्कार्लेट फीवर या मेनिंजाइटिस) के कारण मूक–बधिर और दृष्टिबाधित हो गई। वह तब केवल अपने परिवार के रसोइए की ६ वर्षीय बेटी के सहारे ही कुछ कह पाती थी जो कि उसके इशारों को समझती थी। उसकी माँ ने चार्ल्स डिकेंस की एक दूसरी बधिर–दृष्टिबाधित महिला लोरा ब्रिजमैन की सफल शिक्षा पर लिखे नोट्स से प्रभावित होकर बधिर बच्चों पर काम करने वालों से प्रायः मिलती रही। अंततः ***पर्किंस स्कूल फॉर दि ब्लाइंड*** की पूर्व दृष्टिबाधित छात्रा २० वर्षीय ऐन सुलिवन के ६ वर्षीय हेलेन के प्रशिक्षक बनने के रूप में उनकी तलाश पूरी हुई। ऐन हेलेन के लिए गुड़िया लाई और उसकी हथेली पर डॉल लिखा। हेलेन वस्तुओं को स्पर्श कराने के साथ हथेली पर कुछ किए जाने से परेशान हो उठी मगर लगातार कोशिश के बाद अगले महीनें तक पानी छूने के साथ हथेली पर सुलिवन द्वारा कुछ उकेरने के संबंध को वह पहचान गई। २ वर्षों में बहुत सी वस्तुओं का नाम सीखने के बाद ८ वर्षीय हेलेन सुलिवन के संरक्षण में पर्किंस स्कूल फॉर दि ब्लाइंड में दाखिल हुई। १४ वर्ष की अवस्था में दे ह्युमेसन स्कूल फॉर दी डेफ में दाखिल हुई। इस ठोस जमीन की तैयारी के बाद हेलेन मैसाचुसेट्स के कैंब्रिज स्कूल फॉर यंग लेडी आदि

संस्थानों में पढ़ते हुए २४ वर्ष की अवस्था तक रेड क्लिफ से स्नातक होने वाली पहली बधिर दृष्टिबाधित बन गई। बाद में पत्रों के अलावा उसने संप्रेषण के लिए बोलना और होठों की गति के सहारे बातों को समझना भी सीख लिया। वह पूंजीवाद विरोधी समाजवादी विचारधारा के पक्ष तथा मजदूरों, स्त्रियों और विकलांगों के अधिकारों की बड़ी प्रवक्ता बनी तथा जीवन भर इनके लिए निरंतर व्याख्यान दिए और किताबें लिखी।

ब्लैक में आकर हेलेन की कहानी जिस रूप में बदली गई वह रोचक है तथा तथाकथित गंभीरता के बावजूद हिंदी सिनेमा की फार्मूलाबाजी और विकलांगों के प्रति संकुचित दृष्टि का परिचायक है। हेलेन के विकास की कहानी में दृष्टिबाधित, बधिर और उनकी शिक्षण संस्थाएं लगातार शामिल है लेकिन मिशेल की कहानी में इनका कहीं पता नहीं है। लगातार ४९ वर्षों तक साथ रहकर हेलेन के शिक्षण–प्रशिक्षण में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली दृष्टिबाधित सुलिवन का सारा श्रेय गैरविकलांग पात्र देवराज सहाय को दे दिया गया। इसे और भी मसालेदार बनाने के लिए उसे अल्जाइमर से पीड़ित बनाया गया और हेलेन को उससे प्यार का अर्थ जानने को आतुर दिखाया गया। **ब्लैक** में आकर विकलांगों के सामूहिक संघर्ष को मिटाकर व्यक्तिगत नायकत्व में बदला जाता है साथ ही उनकी क्रांतिकारी भूमिका समाप्त कर दी जाती है। मिशेल हेलेन की ताकत से लैस होकर भी उसकी तरह मजदूरों, स्त्रियों, और विकलांगों के अधिकारों के लिए समर्पित कार्यकर्ता वाली भूमिका खो देती है। इसके विपरीत वह अपने प्रशिक्षक से प्रेम की भावना में और उसे प्रशिक्षित करने में लग जाती है। यह कितनी मुग्धकारी कल्पना है कि याददाश्त खो चुके प्रशिक्षक के प्रशिक्षण की शुरुआत भी हाथ पर पानी गिरने के साथ सीखे पहले शब्द पानी के रूप में ही होती है। मगर इन सारे शिल्पगत और संरचनागत वैभव के बावजूद यह सवाल जेहन पर अटका रह जाता है कि विकलांगता की सामाजिक उपयोगिता की भूमिका को सीमित करना हिंदी सिनेमा लेखकों, निर्देशकों और निर्माताओं को अनिवार्य क्यूं लगता है?

मिसेल के बाद संजय लीला भंसाली ने भरपूर जिजीविषा लेकर १२ वर्षों तक रेडियो जॉकी के रूप में लगातार लोगों को खुशियां बांटने वाला विकलांग पात्र एथेन मेस्करेन रचा जो लकवाग्रस्त होने से पहले सफल जादूगर था। मगर इस बार ब्लैक के खिलाफ संघर्ष नहीं बल्कि पराजय की अनूभूति के साथ आत्महत्या की गुजारिश थी। हेलन की कहानी से क्रांतिकारी तथा सामाजिक उपयोगितापरक तत्त्वों को निकालने के बाद उन्होंने स्टीवन हॉकिन्स की तरह जिजीविषा से भरपूर एथेन को १२ वर्षों तक खुशियाँ बाँटते दिखाया मगर फिर अंततः मृत्यु के लिए गुजारिश करते हुए पात्र के रूप में चित्रित किया। ७० साल के बाद अपने गालों की पेशियों पर से भी नियंत्रण खो देने के कारण एक मिनट में मसीन के सहारे ५ शब्द बोल पाने तक सीमित हो गए हॉकिन्स की अदम्य जीजीविषा तथा निरंतर भौतिक विज्ञान की गुत्थियों से उलझते रहने की कहानी के बदले बारह साल तक दुनिया को खुशियां देने के बाद मृत्यु का अधिकार मांगने की कहानी को दिलचस्प रोमांस की चाशनी में डूबोकर परोसा गया। विकलांग पात्र को नायक तो बनाया गया किंतु नायकत्व की दिशा जरा सी चूक गई। इसलिए फिल्म को प्रशंसा और पुरस्कार तो बहुत मिली मगर दर्शकों को बात समझ नहीं आई और निर्माताओं को सौदे में घाटा उठाना पड़ा।

आम सामाजिक धारणा विकलांग पात्रों को लेकर गफलत की है। विकलांग सिनेमा के नए दौर में यह धारणा टूटी है मगर अभी भी इतनी नहीं की मान लिया जाय कि विकलांग खतरनाक आपराधिक कार्यवाइयों में संलिप्त हो सकते हैं। इसलिए विकलांगों को ऐसी कार्यवाइयों में सफल होते दिखाना फिल्म का एक सनसनीखेज विषय हो सकता है और थोड़े इंतजाम के साथ इसे वास्तविक रूप दिया जा सकता है। निर्देशक विपुल अमृतलाल शाह ने आतिश कपाड़िया के साथ मिलकर २००२ में आई ***आँखें*** फिल्म में इसी कथानक को फिल्माया। विकलांगता की इस नुमाईश ने एक ऐसी काल्पनिक दुनिया रची जिसका ***स्पर्श*** की तो दुनिया से न किसी से भी वास्ता नहीं था। इसमें दर्शकों के लिए एक सनसनी थी किंतु विकलांगों की भीतरी दुनिया और बाहरी दुनिया पर यह फिल्म एक नकारात्मक वास्तविकता को आरोपित करने की कोशिश कर रही थी। २००५ ई. में सुभाष घई द्वारा निर्देशित और विपुल के. रावल द्वारा लिखित फिल्म ***इकबाल***, ***आँखें*** की तरह विभिन्न औजारों के सहारे नकारात्मकता को वास्तविकता में बदलकर सनसनी के सहारे विकलांगता को भुनाने की कोशिश करने के विपरीत सकारात्मक कहानी कहने की कोशिश कर रही थी जिसका वास्तव में विकलांगता से कोई खास सरोकार नहीं था। यदि इकबाल बोलता तो भी कहानी में परिवर्तन नहीं होता भले ही कुछ दृश्य और संवाद बदल जाते। ***बर्फी*** और ***माय नेम इज खान*** की तरह इसमें भी नायक की विकलांगता सहानुभूति अर्जित करने की अरुचिकर कोशिश ही लगती है। इकबाल का अपने मूक होने से उत्पन्न स्थितियों के साथ कोई संघर्ष नहीं है बल्कि उसका सारा संघर्ष एक गरीब किसान के बेटे के राष्ट्रीय क्रिकेट टीम में शामिल होने को लेकर है। इकबाल के मूक होने ने मूक व्यक्ति के जीवन संघर्ष को भले ही अनदेखा किया लेकिन ७० लाख की कहानी से ४५ करोड़ जरूर बना दिया।

हिंदी सिनेमा में ***बर्फी***, ***माय नेम इज खान***, ***इकबाल***, ***खामोशी*** जैसी कहानियों की ही फेहरिश्त लंबी है; ***स्पर्श*** और ***कोशिश*** जैसी कहानियों की नहीं और, ***ब्लैक*** जैसी कहानियाँ भी कम ही बनी हैं। अर्थात् ज्यादातर कहानियों में विकलांगता के सहारे दर्शकों की सहानुभूति अर्जित करने की सुविधाजनक कोशिश ही सामने आती है। १९८१ ई. में आई शक्ति सामंत द्वारा निर्देशित और शक्तिपदा राजगुरू द्वारा लिखित ***बरसात की एक रात*** में रजनी की दृष्टिहीनता ऐसा ही एक उदाहरण है। अभिजीत रजनी से उसकी दृष्टिहीनता को देखकर दुःखी होने के प्रश्न पर कहता है : ''जिंदगी की इतनी बड़ी नियामत खोने के बाद भी आपने अपने जीवन में कभी अँधेरा नहीं आने दिया। हँसी खुशी सबकुछ अपना लिया। किसी से कोई शिकायत नहीं की।'' कालीराम द्वारा रजनी के साथ बलात्कार के प्रयास के बाद उसकी बदनामी के बीच भी अमिताभ उसके साथ विवाह करने का प्रस्ताव करते हुए उससे प्यार होने की बात बताता है। रजनी अपनी दृष्टिहीनता के अभिशाप को अभिजीत पर थोपने से मना करती है और तब अभिजित कहता है– ''ना! तुम्हें पाना अभिशाप नहीं रजनी। ये तो मेरा सौभाग्य है।''

बरसात की एक रात की तरह अधिकांश हिंदी सिनेमा में बहुत पहले से ही विकलांग पात्र वास्तव में नायक की वीरता, उदारता और मानवता को प्रकाशित करने का माध्यम बनाए जा रहे थे। यह रोमांस इन फिल्मों की टिकट खिड़की पर भीड़ जुटाने में सफल हो रहा था। यही

कारण था कि सभी प्रमुख हिंदी अभिनेताओं तथा अभिनेत्रियों ने इस तरह के चरित्र को स्वीकार कर अपनी चमक और मूल्य में इजाफा किया। विकलांग या बीमार चरित्रों का अभिनय दूर से पीड़ा में शामिल होने का सुखियापन था जिससे बिना कष्ट झेले विजय और सहृदयता के भावबोध को तृप्ति मिलती थी। इस तृप्ति भाव में गिने–चुने निर्माताओं, लेखकों और कलाकारों ने ही इस ओर ध्यान देने की जहमत उठाई कि दूर से पीड़ा भोग का सुख उठाने वालों की पीड़ से इतर सचमुच विकलांगता की स्थिति में शामिल लोगों पर इस रवैये का क्या असर होगा? विकलांगता को शामिल करने वाली फिल्मों इतना लाभ जरूर हुआ कि विकलांगों के प्रति नकारात्मक सामाजिक दृष्टि का बार–बार पर्दाफाश हुआ और उन पर करुणा करने वाले पात्रों ने भी जब सहानुभूति के बजाय प्रेम के आधार पर उन्हें अपनाया तो विकलांगों की सामाजिक स्वीकृति को बढ़ावा मिला। यद्यपि यह दिशा गलत थी मगर ***बरसात की एक रात, अंकुर, आँखें, गुजारिश, बर्फी*** आदि फिल्मों की धारणाओं के साथ ***स्पर्श, कोशिश*** और कुछ हद तक **ब्लैक** जैसी फिल्मों की स्थापनाओं को रखकर देखें तो करुणा के बाजार की नुमाइश में भी एक सकारात्मक बदलाव और विकास की झलक मिल जाती है।

सन्दर्भ :

१ ऑस्कर की दौड़ से बर्फी बाहर : एन.डी.टी.वी.
http://khabar.ndtv.com/news/show/barfi-fails-to-make-oscar-shortlist-29934

२ Barfi' Review: It is an out and out entertainer!
http://zeenews.india.com/entertainment/movies/barfi-review-it-is-an-out-and-out-entertainer_119082.htm

फिल्म *कोशिश* का दृश्य

जख्म अब भी ताजा हैं...

हिंदी सिनेमा और विभाजन

सोन सन् क्यंग

भारत के इतिहास में देश विभाजन की त्रासदी घटे ६६ वर्ष हो गया है। विभाजन क्यों हुआ और कैसे हुआ, शायद आजकल की नई पीढ़ी को मालूम भी न हो या उन्होंने इसे किताबों में दर्ज एक ऐतिहासिक तथ्य मात्र समझ लिया हो। समय होते ही यादें भी मिट जाया करती हैं या उनपर मोटा आवरण पड़ जाता है। आजकल के व्यस्त जीवन में जीने वाले लोगों के लिए विभाजन के नरसंहार को भूंल जाना बहुत अस्वाभाविक नहीं है। मगर इस स्वाभाविक स्थिति से प्रयत्न करके दूर रहना जरूरी है। अमृतसर की बाघा सीमा पर हर रोज शाम को चल रहे भारत तथा पाकिस्तान सेनाओं के प्रदर्शन को देखकर केवल उसे एक मंच पर चल रहे अभिनय की तरह समझने की स्थिति में पहुँचना बहुत बड़ी भूल होगी जिसकी कीमत संभव है कि आगे चलकर फिर किसी पाकिस्तान के निर्माण के विषय पर भीषण जनसंहार में हो।

सीमा पर खड़े हिंदुस्तानी और सीमा पार खड़े पाकिस्तानी झंडा हिलाने वाले सेनाओं के पुरखे कभी एक इलाके में पड़ोसी बनकर गहरे स्नेह के साथ रहते थे। १९४७ में आजादी के साथ हिन्दुस्तान की धरती को काटकर दो टुकड़े में बाँट दिया गया था। धरती के साथ कटे थे हजारों–स्त्री पुरुषों के देह और हजारों स्त्रियों की मर्यादाएं और आत्मसम्मान, लूटे गए थे घर–बार और जहाँ लूटना मुश्किल था या लूटने लायक कुछ नहीं था वहाँ का सबकुछ अग्निदेव की हविष्य बना दिया गया था।

विभाजन ने भारत के जिन इलाकों को सबसे ज्यादा प्रभावित किया वहाँ के लोगों की हिंदी सिनेमा में शुरू से ही जोरदार दखल था। इसलिए हिंदी सिनेमा के पर्दे पर विभाजन के दंगे, रक्तपात, आगजनी, बलात्कार और इन सबके बीच मरते और जीते मानवीय मूल्य का उतर आना स्वाभाविक था। विभाजन पर बनी हिन्दी फिलमों में 'धर्मपुत्र'(१९६१), 'गर्म

शोध छात्रा, भारतीय भाषा केन्द्र, जे.एन.यू., नई दिल्ली, ११००६७

हवा'(१९७३), 'सरदार'(१९९३), '१९४७ अर्थ'(१९९८), 'ट्रेन टू पाकिस्तान'(१९९८), 'हे राम'(२०००) और 'पिंजर'(२००३) आदि जैसी फिल्में उस हौलनाक मंज़र की याद फिर से ताज़ा करती है। गीता विश्वनाथ और सलमा मलिक ने लोकप्रिय सिनेमा के माध्यम से भारत–पाकिस्तान विभाजन का अध्ययन कर यह दर्शाया है कि विभाजन ने न केवल मानवीय मूल्यों की अपितु जातीय सिनेमा की भी अपूरणीय क्षति की।[१]

१९५६ में प्रकाशित खुशवंत सिंह के अंग्रेजी उपन्यास 'ट्रेन टू पाकिस्तान' से पमेला रूक्स के निर्देशन में 'ट्रेन टू पाकिस्तान' फिल्म बनी। 'ट्रेन टू पाकिस्तान' में पंजाब के एक छोटे से गाँव में सिक्ख और मुसलमान दोनों शांति और इज्जत के साथ रहते हैं। उनमें आपस में गहरा स्नेह है। मगर विभाजन के आसपास उस गाँव में सिक्ख शरणार्थी गुरुद्वारे में पनाह लेने आते हैं तो गाँव वालों को लगता है कि कुछ गड़बड़ चल रहा है। स्टेशन पर जब ट्रेन रुकती है तो केवल ट्रेन का ड्राइवर ही बाहर निकलता है। स्टेशन के आसपास सिपाही बंदूक लेकर खड़े रहते हैं और गाँव में किसी को आने नहीं देते। गाँव के सरकारी अधिकारी हुकुम चंद स्टेशन जाकर ट्रेन के भीतर देखते हैं और लाशों से भरे डिब्बे के भीतर घुसते ही मुँह बंद कर लेते हैं। इसकी खबर फैलने से पहले गाँव के निवासियों से लकड़ी तथा तेल जमाकर सारी लाशों को चुपचाप जला देने का आदेश देते हैं। हुकुम चंद चाहते हैं कि अपने गाँव में कोई दंगा या फसाद न हो जाए मगर विभाजन का जहर फैल जाने से वहाँ के लोगों के ऊपर भी नफरत का जहर फैल जाता है। अगली बार भी सिक्खों के लाशों से भरी ट्रेन स्टेशन पर पहुँचती है तो फौज के सिपाही फिर से लाशों को निकालकर जला देते हैं। कई जवान सिक्ख इस दृश्य को देखकर भड़क उठते हैं और गुरूद्वारे में शांति की प्रार्थना करने के समय घुसकर दूसरे जवानों पर नफरत का जहर फैलाते हैं : ''अगर वह हमारा एक आदमी मारते हैं तो हम उनके दो मारेंगे। एक औरत को अगवा करके ज़बरज़िना करते हैं तो हम दो को करेंगे। वह एक घर को लूटते हैं तो हम दो घर लूटेंगे।... कल रात मुसलमानों से भरी एक गाड़ी पुल पार करके पाकिस्तान जाएगी। अगर तुम मर्द के बच्चे हो तो उनका भी वही हश्र होना चाहिए जो उन्होंने हमारे साथ किया था।''

जुग्गत सिंह सांप्रदायिकता के जहर में डूबते इसी गाँव का सिक्ख युवक है। वह गाँव की ही मुसलमान युवती नूरन से प्रेम करता है। जब जुग्गत सिंह हत्या के जुर्म में जेल चला गया था तब नूरन अपने कानी अब्बू के साथ मुसलमानों के कैम्प में चली जाती है। लाशों से भरे दूसरे ट्रेन को देखकर गाँव के सिक्ख जवान संगठित होकर कैम्प में इकट्ठे हुए मुसलमानों को बैठाकर लाहौर जाने वाली ट्रेन पर हमला करने की योजना बनाते हैं। जुग्गत सिंह को जब इसका पता चलता है तो वह उसे रोकने की कोशिश करता है। नूरन भी उसी कैंप में थी इसलिए वह भी उसी ट्रेन से पाकिस्तान जाने वालों में शामिल थी। अपनी प्रेमिका को ले जा रही ट्रेन पर होने वाले हमले की साजिश को रोककर उसे सुरक्षित निकालने की चेष्टा में जुग्गत सिंह मारा जाता है। सिक्ख युवक की हत्या उसके ही धर्म के

लोग कर देते हैं। इसी बीच ट्रेन पुल पार कर निकल जाती है। यह फिल्म दिखाती है कि सिक्ख तथा मुसलमान आपस में विश्वास तथा भरोसे के साथ सदियों से रहने के बावजूद परिस्थितियों के वशीभूत होकर एक दूसरे के प्रति हिंसा और अविश्वास से भर जाते हैं। परिस्थिति सिक्खों और मुसलमानों को अपने जमीन से उखाड़कर दूसरे वतन भिजवा रही थी। गाँव की शांति का माहौल ट्रेन से आई बाहरी सांप्रदायिक हिंसा के कारण नष्ट हो रहा था। इस बाहरी हिंसा ने कुछ सिक्खों को अपने ही गाँव के मुसलमानों के प्रति हिंसक बना दिया था। वर्षो का विश्वास एक झटके में मुसलमानों के खिलाफ नफरत तथा हिंसा में बदल जाता है। जुग्गत सिंह और अन्य सिक्ख युवक समुदाय के संघर्ष और सहधर्मियों द्वारा ही जुग्गत की हत्या होने के द्वारा सिक्खों के व्यवहार की विषमता दिखाई गयी है। एक तरफ तो एक सिक्ख युवक सांप्रदायिक जहर से अप्रभावित रहकर अपने प्रेम पर पूर्ण विश्वास रखते हुए अपनी प्रेमिका की रक्षा करता है और दूसरी तरफ क्रोध में मुसलमानों की हत्या में जमे लोग हत्या से रोकने की कोशिश करने वाले अपने ही सहधर्मी को मार डालते हैं। यह विभाजन की स्थिति में लोगों की भिन्न प्रतिक्रियाओं को भी दर्शाता है। सभी लोग खून का बदला खून से लेने के समर्थक नहीं थे। बहुत से लोगों के लिए मानवीय मूल्य उस त्रासदी के बीच भी महत्वपूर्ण थे। फिल्म अंततः जुग्गत सिंह के इंसानी जज्बात के माध्यम से विभाजन के जहर के बीच भी अमृत के होने को रेखांकित करती है।

१९५० में प्रकाशित अमृता प्रीतम के पंजाबी उपन्यास 'पिंजर' के आधार पर २००३ ई. में चंद्रप्रकाश द्विवेदी के निर्देशन में 'पिंजर' फिल्म बनी। अगस्त १९४६ के अमृतसर के दृश्य से फिल्म शुरू होती है। बाजार में अचानक से मुसलमानों के तलवार लेकर आने के साथ सिक्खों तथा मुसलमानों के बीच मार–काट होती है। फिल्म की शुरूआत में ही कथावचाक गुलजार की आवाज में विभाजन की भूमिका बनाने वाली स्थितियों पर टिप्पणी की गई है : ''बात पुरानी है। १९४६ की बरसात, देश में अब कहर बरसा·रही थी। देश के आँगन और सांझे चूल्हे बाँटने की तैयारी में थे। बुझी–बुझी राख के नीचे से चिंगारियाँ सुलग रही थी अभी। कहीं देश जल रहा था, कहीं जलने की तैयारी में था। पंजाब भी उससे अछूता न था। यह तो बँटवारे की सिर्फ शुरुआत थी।... जिन मासूम हाथों ने अलिफ भी लिखना–सीखना शुरू ही किया था। वह बेहोश से नफरत की आग में झोंक दिये गये। पर जिन्दगी दरिया की तरह अपनी राह खोज लेती है। उसी की यह कहानी है। इस कहानी के सिर्फ किरदारों के नाम झूठे हैं, बाकी कोरी सच्चाई है।'' हिंदू शाह की बेटी पूरो अपनी शादी के लिए परिवार सहित गाँव छत्तोआनी आती है। वहाँ गाँव का एक मुसलमान लड़का रशीद कई दिनों से उसे पीछा करते हुए नजर आता है। एक दिन पूरो खेत में सब्जी लेने जाती है तब वह युवक पूरो को उठा ले जाता है। मुसलमान जवान लड़का रशीद के खानदान से शाह जी की पूरानी खानदानी दुश्मनी थी। शेख खानदान का मुखिया शाह जी से कहता है कि : ''शाहू जी, वर्षो का पुराना हिसाब अब बराबर हो गया।'' एक रात पूरो रशीद के घर से भाग निकलकर अपने घर आती है। उसे देखकर उसके पिता शाह जी कहते हैं कि

: ''बेटी, तेरी किस्मत... अब हमारे पास कुछ नहीं। थोड़ी देर में शेखों के लोग यहाँ आ जाएँगे और हमारे बच्चे–बच्चे को पेर डालेंगे।... कहाँ रखेंगे हम तुझे? कौन तुझसे ब्याह रचाएगा? तेरा धर्म गया, जन्म गया। हम इस समय कुछ भी बोले तो हमारे लहू की एक बूंद भी नहीं बचेगी।'' पूरो निराशा भरे दुखी मन से घर के दरवाजे के बाहर निकलती है। उनके लिए घर में कोई जगह नहीं थी। फिर मार–काट के सहित विभाजन के बाद वह अपने भाई तथा मंगेतर रामचन्द्र से मिलता है तो भाई ने पूरो से सबके साथ भारत जाने को कहा। रामचन्द्र भी पूरो के साथ विवाह करने के लिए तैयार है। किन्तु पूरो भाई के साथ नहीं जा पाती है और रशीद के पास लौट जाती है। पूरो आँसुओं से भीगे हुए रशीद से कहती है कि : ''रशीद, अब तू ही मेरे साथ चल। मेरे लिए अब यहीं मेरा घर है, रशीद। यहीं मेरा घर है।'' रोते हुए दोनों को देखकर रामचन्द्र पूरो के भाई त्रिलोक से कहता है कि : ''जाने दो उसे, अब दुबारा उसे अपने घर से अलग मत करो।''

पिंजर देश विभाजन के दौरान हिन्दू तथा मुस्लिम के बीच सांप्रदायिक संघर्ष से दंगे, फसाद तथा आपसी मारकाट, जबर्दस्ती धर्म परिवर्तन कराने और स्त्रियों पर हुए अपराध तथा बलात्कार की सजीव तस्वीर प्रस्तुत करती है। *ट्रेन टू पाकिस्तान* की तरह ही यह फिल्म एक ही धर्म के भीतर दो तरह के लोगों के होने को रेखांकित करती है। हिन्दू शरणार्थियों की कतार से मुसलमान लोग एक हिन्दू स्त्री को उठा ले जाते हैं और रशीद मुसलमान होकर उसे बचाता है। यद्यपि रशीद ने भी पहले एक हिंदू लड़की पूरो को उठाया था मगर फिर वही लाजो को बचाता है। हर इंसान के दिल में कुविचार और सद्विचार दोनों मौजूद होते हैं। किसी विचार के प्रभावी होने के साथ ही आदमी का इंसान और राक्षस की तरह व्यवहार करना तय होता है। रशीद अपने रिश्तेदारों के कहने पर पुराने प्रतिशोध के कारण राक्षस हो गया था लेकिन पूरो के साथ रहते हुए उसके सद्विचार अधिक प्रभावी हो गए।

'१९४७ अर्थ'(१९९८) की फिल्म बाप्सी सिध्वा के उपन्यास 'आइस कैंडी मेन (क्रेकिंग इंडिया)' पर आधारित है। अपनी पसंदीदा युवती शांता को अपने मुसलमान साथी हसन के साथ देखने के बाद दिल नवाज को हसन से ईर्ष्या होती है। धीरे–धीरे नवाज के दिल में ईर्ष्या नफरत में बदल जाती है। अगले दिन रास्ते पर हसन की लाश फेंकी हुई मिलती है। इससे शहर का पूरा माहौल बदल गया। नवाज मुसलमान समूहों के साथ शांता को चालाकी से पकड़कर ले जाने में सफल हो जाता है। हिन्दू तथा मुसलमान आपस में ही लड़ते हैं। यह फिल्म दिखाती है कि दोनों कौम के बीच जितनी पारस्परिक घृणा है उतनी दूसरे कौम के प्रति नहीं है। जब मुसलमान समुदाय लेनी के घर पर हिन्दुओं को पकड़ने जाते हैं तो लेनी का परिवार फारसी होने से तथा एक कर्मचारी के ईसाई होने से इन सांप्रदायिक मारकाट से मुक्त हो जाता है। कोई व्यक्ति हिन्दू होने से ही मुसलमान का दुश्मन तथा मुसलमान होने से ही हिन्दू का शत्रु मान लिया जा रहा था। दूसरे धर्म के लोग इन दोनों के बीच में नहीं आते हैं। लाहौर के अंग्रेज अधिकारी रॉजस और सरदार के झगड़े में

फारसी दंपत्ति के होश उड़ जाते है कि वे अंग्रेजों के कार्यों की प्रशंसा करने लगते हैं। वह जमाना ही ऐसा था कि बिना अंग्रेजों की सहायता से कोई भी व्यापार या काम नहीं हो सकता था। इसलिए कई लोग अपनी सत्ता आकांक्षाओं, आर्थिक लोभ के चलते अंग्रेजों के साथ जुड़े थे। हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख धर्म के लोगों के अच्छी दोस्ती निभाने और एक साथ बैठकर बातें करने या खाने का दृश्य दिखाने के बाद उन्हें आपस में कत्ले–आम और हिंसा करने का दृश्य दिखाने के माध्यम से यह फिल्म संबंधों को मजहब के आधार पर बाँट दिये जाने की ओर इशारा करती है।

विभाजन के दौरान सांप्रदायिक आग में डूबे हिन्दू तथा मुसलमानों ने मासूम बच्चों को जो दृश्य दिखाया वह भयानक था। लेनी आठ साल की बच्ची है। वह दंगे के दौरान गाड़ी में बंद हुए आदमी को दोनों दिशाओं से खींचकर मारने का दृश्य देखती है और घर लौटकर अपनी गुड़िया के हाथ–पैर खींचकर फाड़ देती है। फिर रो पड़ती है। वह भयंकर दृश्य उसके दिमाग से कभी मिट नहीं सका। मासूम बच्चों की दुनिया को सांप्रदायिक विभाजन बाँट नहीं पाया था। लेनी मुस्कराते हुए सबसे जन्मदिन की बधाई लेना चाहती है किन्तु विभाजन की खबर से पैदा हुई चिंता और डर के माहौल में उसे बधाई देने वाला कोई नहीं है। एक मुसलमान लड़का माँ की मौत से दुखी है। मगर वह लेनी की भावनाओं को समझता है और उसे साथ में बंट्टे (कंचे) खेलने को पूछता है। बच्चों की मासूमियत का दुरुपयोग दिल नवाज ने झूठ कहकर लेनी से किया। लेनी के सच बोलने से शांता पकड़ी जाती है। इसे देखकर लेनी चिल्लाकर रोती है मगर शांता को वापस नहीं ला पाती है। बच्चों को हमेशा सच बोलने को कहा जाता है किन्तु इसके बाद लेनी को सच बोलने की हिम्मत नहीं रह गई। फिल्म के आरंभ में लेनी द्वारा अविभाजित हिन्दुस्तान के नक्शे का चित्र बनाते हुए दिखाया गया है। वह नक्शा १९४७ के बाद बदल चुका है। लेनी टेबल पर रखा प्लेट गिराकर तोड़ देती है और खड़ी होकर टूटे प्लेट के टुकड़ों को देखती है। वह उसे हिन्दुस्तान की तरह लगता है जो एक बार टूट जाने के बाद फिर एक नहीं हो सकेगा।

'ट्रेन टू पाकिस्तान', 'पिंजर' तथा '१९४७ अर्थ' में विभाजन के दौरान पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर हुए अमानवीय अत्याचार को बार–बार दिखाया गया है। स्त्रियों को घरों से उठा लाया गया, उनकी हत्या की गई। उनके साथ बलात्कार किया गया और उन्हें अपने घरों में अंतहीन समय तक शारीरिक और मानसिक यातना भोगने के लिए दासी बनाकर कैद कर लिया गया। 'पिंजर' में भले ही रशीद ने पूरो से प्रेम किया हो किन्तु पहले वह पूरो को उठा लाया था और कलमा पढ़वाकर जबरदस्ती मुसलमान बना दिया था। उसने बिना पूरो की मर्जी के उससे निकाह किया। पूरो भागकर अपने घर में पहुंची तो माँ–बाप से घर में दाखिल होने की अनुमति नहीं मिली। पूरो बिना किसी गलती के बेइज्जत, बेधर्म और अशुद्ध हो गयी थी। रामचन्द्र की शादीशुदा बहन लाजो को भी मुसलमानों ने शरणार्थियों के कतार के बीच से उठाकर अपने घर में कैद कर दिया। पूरो के गाँव में घूमते–फिरते भीख माँगने वाली पगली को भी पुरुष आततताइयों ने नहीं छोड़ा। न जाने कितने बलात्कार के बाद

वह गर्भवती हो गई तथा शिशु के जन्म के साथ ही उसके जीवन का अंत हो गया। उस बच्चे को पहली बार पूरो और रशीद ने उठाया और घर में लाकर अपना बच्चा समझकर पालन–पोषण करना आरंभ कर दिया। परंतु सांप्रदायिक परिस्थिति ने उस बच्चे का धर्म तय करते हुए पूरो से बच्चे को छीन लिया। हिन्दू समुदाय के सदस्य कहने लगे कि वह पगली हिन्दू थी इसलिए वह बच्चा मुसलमान के घर में नहीं पल सकता है। बच्चे को जो दूध पिलाती है, पालती है वही उसकी माँ होती है, किन्तु अजीब विडंबना है कि धर्म पर हक़ जमाने वालों ने माँ के धर्म को भी बदल दिया। विभाजन के दौरान स्त्री पुरुषों की बदले की कार्यवाइयों या कुंठित यौन लालसाओं की बड़े पैमाने पर शिकार बनी।

'१९४७ अर्थ' में लेनी के घर में काम करने वाले कर्मचारी की बेटी लेनी जैसी उम्र की पापू की शादी होती है। दुल्हा के छोटे कद को देखकर भ्रम होता है कि बाल–विवाह हो रहा है। लेकिन दुल्हे के चेहरे पर लगे फूल के हट जाने पर दुल्हा लगभग साठ साल का बूढ़ा निकलता है। 'ट्रेन टू पाकिस्तान' में हुकुम चंद के मौज–मस्ती के लिए मुजरा करने वाली हसीना की अवस्था भी किशोरी की ही है। लगभग सोलह–सत्रह साल की किशोरी पुरुषों की मानसिक तथा शारीरिक तृप्ति के लिए ही पाली गयी थी।

सिनेमा के साहित्य से रूपांतरण की प्रक्रिया में कथावस्तु तथा प्रस्तुतिकरण में कई अंतर आ जाता है। उपन्यास जैसी साहित्यिक गद्य विधा में विभाजन का कथानक जितने बड़े पैमाने पर आ सका है उतना फिल्म में संभव नहीं हो पाता है। मसलन यशपाल के ८०० पृष्ठ लंबे उपन्यास 'झूठा सच' में विभाजन से पहले से लकर विभाजन के बाद तक की विभाजन के क्षेत्रों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विवरण घटनाओं के साथ विस्तार से दर्ज हुए हैं। कमलेश्वर ने 'कितने पाकिस्तान' में विभाजन के सूत्र को प्राचीन काल से लेकर आज तक के हिन्दुस्तान तथा अन्य देशों में हुए विभाजन के साथ रखकर देखा है।

भीष्म साहनी का 'तमस' उपन्यास टी.वी. धारावाहिक के रूप में आया तो वह चार एपिसोड में बाँटकर दिखाया गया। यह स्वाभाविक है कि उपन्यास पर आधारित कोई भी फिल्म बनती है तो उसके कथानक को पूर्ण रूप से समेट नहीं पाती है। उसमें मुख्य पात्रों को केन्द्र में रखकर कहानी के प्रधान दृश्यों को दिखाने की कोशिश की जाती है। छोटे–छोटे पात्र और उनकी कहानियाँ छोड़ दी जाती हैं। 'तमस' का एक एपिसोड लगभग डेढ़ घंटे का है। जाहिर है कि इसमें उपन्यास की कहानियों को पूर्णत: समेटने का प्रयास किया गया। 'तमस' की भाँति १९५४ में प्रकाशित आचार्य चतुरसेन के उपन्यास 'धर्मपुत्र' के आधार पर यश चोपड़ा ने १९६१ में फिल्म 'धर्मपुत्र' बनायी और इस्मत चुगताई की कहानी से १९७३ में मैसोर श्रीनिवास सथ्यू ने 'गर्म हवा' फिल्म बनाई। 'ट्रेन टू पाकिस्तान', '१९४७ अर्थ' तथा 'पिंजर' भी उपन्यास के आधार पर बनी फिल्म हैं। साहित्य में उपन्यास और कहानी को छोड़कर विभाजन पर बहुत कम लिखा गया है। विभाजन के बाद से अब तक हिन्दी में विभाजन पर मुश्किल से नौ–दस अच्छी फिल्में ही मिल पाती हैं। उनमें से चार–पाँच फिल्मों की कथावस्तु उपन्यास या कहानी से ही ली गई है। विभाजन के बाद भारत तथा पाकिस्तान

के बीच लगातार चलने वाले संघर्ष तथा तनाव और भारत पर पाकिस्तानी आतंकवादियों के आक्रमण पर कई फिल्में बनीं। इसकी तुलना में विभाजन पर बनी फिल्मों की संख्या बहुत कम है। वास्तव में आतंकवाद, भारत–पाकिस्तान संघर्ष आदि के मूल में विभाजन ही है। इसलिए भी विभाजन को याद रखा जाना और उसपर लगातार काम किया जाना जरूरी है। ताकि सांप्रदायिक जहर में उन्मादी हुए समाज के खोने, पाने का विश्लेषण कर भावी पीढ़ी अपना बेहतर रास्ता तय करती रहे। विभाजन पर बनी फिल्मों को देखते हुए यह सोचकर डर लगता है कि यदि हमारा जीवन उस त्रासदी से गुजरता तो क्या होता? १९४७ का समय बहुत पुराना नहीं है, वह हमारे बाप–दादाओं की पीढ़ीयों का ही समय था। हिन्दू तथा मुसलमान सदियों तक एक देश में रहने के बाद एक साझी संस्कृति विकसित कर सहसंबंध के बीच रहते आ रहे थे। मजहब का भेद था मगर यह आम जीवन पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं रखता था। किन्तु एक साथ रहने से इनकार के साथ संघर्ष शुरू हुआ। इतिहास में साझी विरासत के दो धर्मों के बीच एक देश के भीतर इतना व्यापक और क्रूर नरसंहार का दूसरा उदाहरण नहीं मिलता है। अफसोस की बात तो यह है कि यह संघर्ष अब तक समाप्त नहीं हो पाया है। विभाजन पर आधारित फिल्में विभाजन की त्रासदी का बयान कर सांप्रदायिक संघर्ष के जहर के प्रभाव को रेखांकित करते हुए स्वस्थ समाज की ओर ले जाने वाले आशा की किरणें हैं।

सन्दर्भ :

१. Gita Vishwanath, Salma Malik ; *Revisiting 1947 through Popular Cinema : A comparative study of India and Pakistan*; Economic and Political Weekly; September 5, 2009; XLIV no. 36. pp. 61-69

...

Akbar and the Theme of Love
Mughal-e-Azam and *Jodha-Akbar*

Smriti Suman

"The act of Imagination is an act of magic", this statement of the French philosopher Jean Paul Sartre is true about the two historical movies - K. Asif's *Mughal-e-Azam* (1960) and Asutosh Gowarikar's *Jodha-Akbar* (2008) which have recreated the magic of the act of imagination of the past. Both these films deal with the theme of love in the Mughal period.

K. Asif started *Mughal-e-Azam* in 1944 with Chandramohan, Sapru, and Nargis as the lead artists. The name of the film then was *Anarkali* (not *Mughal-e-Azam*), and it was financed by Shiraz Ali. After few reels of shooting, in 1946, Chandramohan (who was playing the role of Akbar) died and K. Asif had to drop the project. He restarted the project in 1950 and completed it in 1960. It was then considered the most costly movie ever made in the history of Indian cinema. Its cost was $3 million in the 1950s, when most of the Indian films were made at 5–10 percent of this cost. It also proved to be the biggest blockbuster of Indian cinema.

I will discuss here the political and social context of this film keeping in mind Skinnerian notion that study of the social context of a text only can give us a clue to the full authorial intentionality and an understanding of the utterances of that text.[1] The film starts with the idea of 'Hindustan' which shows K. Asif's trust in a secular and democratic India. This was also the time when the Hindi films like *Kanun, Jis Desh me Ganga Bahti Hai, Kala Bajar, Anuradha* and Bangali films like *Megha Dhake Tara* by Ritwik Ghatak and *Devi* by Satyajit Ray were being made. These great films discussed the theme of contradiction between idealism and pragmatism, sentiments and duty and tradition and modernity.[2]

Mughal-e-Azam presented all these issues through mixing up of legend and history. As Sumita Chakravarty says, "*Mughal-e-Azam* depicts a structure

Research scholar : Pol. Sc., D.U., New Delhi

of historical orchestration where past becomes the means of resolving tension in the present. This text illustrates that the impulse towards synthesis becomes a means of exploring ideological and psychic disturbances pertaining to the group in question that then get resolved through emotional drama."[3] Chakrvarty also says that "It claims both authority of history and license of legend and inscribes its dual focus in an oedipal conflict. History and legend no longer blend smoothly and casually, but appear in hierarchical relationships. In choosing to call his film *Mughal-e-Azam*, the film makes Akbar as much a protagonist as Salim."[4]

The story of *Mughal-e-Azam*, set in the 16th century, is unsupported by empirical evidences. The film's plot is taken from a 1920 play by Syed Imtiaz Ali Taj, which revolves around the passionate love between Prince Salim and Anarkali, a servant girl. When Salim's father, emperor Akbar, learns about his son's obsessive love for the girl, he refuses to entertain the idea that a servant-girl could become the future queen of India. Starting as a clash of ego between the unflinching emperor and his rebellious son, it soon became so intense that even a mighty battle could not bring about a resolution. Despite Salim's brave feats against his father, the lovers are ultimately separated.

Sumita Chakravarty describes this movie a work of art which was intended to consolidate a fragmented Hindu-Muslim identity from its fractured present to a formal state of glory as the map of India moves slowly upward in the frame. The composite voice image invites collective spectator identification for each individual viewer to recognize him or herself as a national subject and citizen in relation to the map. Her second major interpretation revolves around the idea of the epical character of *Mughal-e-Azam* like *Ramayana* and *Mahabharata* in which family history is not strictly demarcated of political and social history in which family relationship emerges in contradiction to the social roles.

Ira Bhaskar states the importance of *Mughal-e-Azam* in terms of the concept of justice and the centrality of this conception in all kinds of Muslim historical works. In fact, Ira Bhaskar, Sumita Chakravarty and Jawrimal Parikh all of them have described the movie in terms of contradiction between love and duty. The idea of love in *Mughal-e-Azam* is manifest in the opening background voice: 'मेरे इन चाहने वालों में एक इंसान का नाम जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर खान था। अकबर ने मुझसे प्यार किया। मजहबों और रस्मों रिवायतों से बुलंद होकर इंसान से इंसान को प्यार करना सिखाया और हमेशा के लिए मुझे गले लगा लिया।''

of historical orchestration where past becomes the means of resolving tension in the present. This text illustrates that the impulse towards synthesis becomes a means of exploring ideological and psychic disturbances pertaining to the group in question that then get resolved through emotional drama."[13] Chakrvarty also says that "It claims both authority of history and license of legend and inscribes its dual focus in an oedipal conflict. History and legend no longer blend smoothly and casually, but appear in hierarchical relationships. In choosing to call his film *Mughal-e-Azam*, the film makes Akbar as much a protagonist as Salim."[14]

The story of *Mughal-e-Azam*, set in the 16th century, is unsupported by empirical evidences. The film's plot is taken from a 1920 play by Syed Imtiaz Ali Taj, which revolves around the passionate love between Prince Salim and Anarkali, a servant girl. When Salim's father, emperor Akbar, learns about his son's obsessive love for the girl, he refuses to entertain the idea that a servant-girl could become the future queen of India. Starting as a clash of ego between the unflinching emperor and his rebellious son, it soon became so intense that even a mighty battle could not bring about a resolution. Despite Salim's brave feats against his father, the lovers are ultimately separated.

Sumita Chakravarty describes this movie a work of art which was intended to consolidate a fragmented Hindu-Muslim identity from its fractured present to a formal state of glory as the map of India moves slowly upward in the frame. The composite voice image invites collective spectator identification for each individual viewer to recognize him or herself as a national subject and citizen in relation to the map. Her second major interpretation revolves around the idea of the epical character of *Mughal-e-Azam* like *Ramayana* and *Mahabharata* in which family history is not strictly demarcated of political and social history in which family relationship emerges in contradiction to the social roles.

Ira Bhaskar states the importance of *Mughal-e-Azam* in terms of the concept of justice and the centrality of this conception in all kinds of Muslim historical works. In fact, Ira Bhaskar, Sumita Chakravarty and Jawrimal Parikh all of them have described the movie in terms of contradiction between love and duty. The idea of love in *Mughal-e-Azam* is manifest in the opening background voice: ''मेरे इन चाहने वालों में एक इंसान का नाम जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर खान था। अकबर ने मुझसे प्यार किया। मजहबों और रस्मो रिवायतों से बुलंद होकर इंसान से इंसान को प्यार करना सिखाया और हमेशा के लिए मुझे गले लगा लिया।''

This opening voice-image in the film asserts that Akbar did not rule India, he loved India. The first scene of the movie glorifies Akbar's love with Hindustan and this love- relationship establishes the fact that idea of India as Hindustan was there in pre-modern times and Akbar's fascination and love with this land was superior to any other love. The second conception of love around which this movie weaves its imagery of syncreticism and composite culture of the Mughal period and portrayal of Akbar as mega appreciator of art and dance form of Hindustan is revolved around the love story of Salim and Anarkali. "To phir mai ek aisa but banauga jis ke qadmo me sipahi apni talwar, Shahenshah apni taaj aur insaan apna dil nikal kar rakh de." This dialogue is delivered in the movie through the character of a sculpture in the backdrop of the first interaction of Salim and Anarkali and this prepares the ground for the public appearance of fascinating beauty of Madhubala as Ananrkali. Anarkali is introduced in the form of a statue presented in Akbar's court to celebrate Salim's return home after a long absence. Amid the assembled crowd, Salim drops the veil that covers the statue by shooting an arrow to it. Anarkali's doubling as a statue has many meanings, according to Sumita Chakrvarty. It is an early hint at Anarkali impudence in falling in love with Akbar's great son, thus exceeding her lowly status; it recalls her tragic end when she will be buried alive; it also signifies the very distinct character of *Mughal-e-Azam* as historical film where the public dimension of the private domain being reinforced.

Mughal-e-Azam was not only depicting the past for the resolution of crisis of the present, it also captures the socio-historical dimensions of the concept of love from pre-modernity to modernity. The film starts with the idea of erotic love, then shifted to the notion of devotional love, and in the scene of war as well as scene of Anarkali's transformation into a dead object was a depiction of tragic love which is a very dominant characterstics of modernity. This film captures the denial and rejection of inter class love for the love of nation, hence the sacrifice of the personal for the public. This film also gives us an idea of linkage between power and patriarchy.

Jodha-Akbar, like *Mughal-e-Azam*, is based on the theme of love. However, the political and social context of this movie is very different from the earlier one. The movie was started in 2004 and finished in 2008. *Jodha-Akbar* tells the story of marriage between the Mughal emperor Akbar and the Rajput princess Jodha Bai, which transforms into a love match. In this Gowariker's innovative interpretation of the past, it is Jodha Bai-Akbar love story that

actively contributed to the formation of enlightened vision of Akbar. Gowarikar is also depicting feminine influences of Hindu culture on a Musalman prince which reconstituted him as a modified and responsive king. Thus not only personal is political, but political in this instance is deeply personal.[5]

Jodha-Akbar's love story is not a love at first site. It was neither erotic nor devotional in nature. Here love emerges and blossoms through mutuality and reciprocality. Unlike *Mughal-e-Azam* this movie does not enhance the contradictory aspect of love and duty, but it shows a reconciliatory aspect of love and duty. Although both films followed the rules of the monumental, the antiquarian and the critical construction of history which create a ground of comparison between them, their different approaches to the theme of love make them wide apart.

References :

1. Skinner Quintin, "Meaning and Understanding in History of Ideas", *Vision of Politics*, Vol. 1, Cambridge University Press, London, p. 87
2. Parikh, Jawrima, *Pragatisheel Vasudha*, Vol. 81
3. Chakravarty, Sumita, *National Identity in Indian Popular Cinema: 1947-1987*, Oxford University Press, 1998, New Delhi
4. Ibid.
5. Bhaskar, Ira and Richard Allen, *Islamicate Cultures of Bombay Cinema*, Tulika, 2009, Delhi

***

शेक्सपीयर सिनेमा के परदे पर

विजय शर्मा

कई बार मैं सोचती हूँ कि यदि शेक्सपीयर इंग्लिश का लेखक न होकर हिन्दी का लेखक होता तो क्या तब भी उसकी इतनी ख्याति होती? यदि वह बाँग्ला, तमिल, मलयालम, गुजराती, मराठी में लिख रहा होता तो उसे कितने लोग जानते? मगर यह संयोग है कि वह इंग्लैंड में पैदा हुआ। एक ऐसे देश में जिसने लम्बे समय तक दुनिया के कई देशों पर राज किया। जैसा कि होता है विजेता अपनी भाषा–संस्कृति विजित लोगों पर थोपते हैं, अंग्रेजों ने भी यही किया। इन लोगों ने जहाँ राज किया वहाँ अपनी भाषा–संस्कृति को लोगों पर लादा। अधिकांश औपनिवेशिक देशों की यह विडम्बना है कि स्वतंत्रता पश्चात भी वे इंग्लिश के प्रभाव से उबर नहीं सके हैं। भारत उनमें से एक है। वरना क्या कारण है कि अपने देश, अपनी भाषा के साहित्य को भूल कर हम आज भी विदेशी साहित्य, शेक्सपीयर से आतंकित हैं। उसके बिना हमारा काम नहीं चलता है। इंग्लिश दुनिया के एक बड़े भूभाग, कई देशों में प्रयोग की जाती है। यूरोप के कई देश और अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया में इसका प्रयोग होता ही है। इसमें शक नहीं कि शेक्सपीयर इंग्लिश का महान लेखक है। उसने काव्य और नाटक को अपनी विधा बनाया। उसके नाटक काल की सीमा को पार कर आज भी लोकप्रिय हैं। स्थान की सीमा पर उसने विजय पाई है। प्राय: उसके सारे नाटक दुनिया भर में खेले जाते हैं। मूल भाषा इंग्लिश (प्राचीन नहीं वरन आधुनिक इंग्लिश में) और अनुवाद द्वारा विश्व की तमाम भाषाओं में इनका मंचन होता है। भारत भी इसका अपवाद नहीं है।

नाटक की अपेक्षा फिल्म एक नई विधा है। फिल्म स्वतंत्र विधा होते हुए भी कई विधाओं का संगम है। राही मासूम रजा फिल्म को साहित्य का अंग मानते हैं और आज के संदर्भ में इसकी महत्ता बताते हैं, "मैं फिल्म को साहित्य का अंग मानता हूँ। आज के मानव की आत्मा की पेचीदगी को अभिव्यक्त करने के लिए साहित्य के पास उपन्यास और फिल्म के सिवा कोई और साधन नहीं है।"[१] फिल्म मात्र साहित्य का अवतार नहीं है, न ही केवल बोलता हुआ साहित्य है। यह भौतिक यथार्थ से जुड़ा हुआ होता है। वास्तविक लोग, वास्तविक सेटिंग्स। निर्देशक दर्शकों से एक साझा संबंध बनाता है, दर्शक और समाज की

रीडर, शिक्षा संकाय, लोयला कॉलेज ऑफ एजुकेशन, जमशेदपुर, मो. ०९४३०३८९७९८

ज़िंदगी बताता है। नाटक करने वालों और फिल्म बनाने वालों को शेक्सपीयर प्रारंभ से लुभाता रहा है। उसके नाटकों को फिल्म में रूपांतरित करना निर्देशकों के लिए आकर्षण का विषय होने के साथ ही चुनौती भी रहा है। विश्व के प्रमुख निर्देशकों ने शेक्सपीयर के काम को अपनी–अपनी फिल्म में साकार करने का प्रयास किया है। 'रोमियो जूलियट', 'टेम्पेस्ट', 'मिडसमर नाइट्स ड्रीम', 'मर्चेंट ऑफ वेनिस', 'मैकबेथ', 'ओथेलो' सब फिल्म निर्देशकों के लिए थीम रहे हैं। सिर्फ मैकबेथ की ही बात करें तो शेक्सपीयर के इस नाटक पर ओर्सन वेल्स, रोमन पोलांस्की, कुरुसोवा आदि दिग्गज निर्देशकों ने अपना हाथ आजमाया है। फिर भला भारत के निर्देशक कैसे पीछे रहते। प्रत्येक वर्ष भारत में दुनिया में सबसे ज्यादा फिल्में बनती हैं। हिन्दी के अलावा यहाँ क्षेत्रीय सिनेमा भी खूब बनते हैं। इस आलेख में मात्र हिन्दी सिनेमा की बात ली गई है। हिन्दी सिने निर्देशक भी शुरु से शेक्सपीयर से प्रभावित रहे हैं। शुरुआत में ही शोहराब मोदी ने शेक्सपीयर के कई नाटकों पर फिल्म बनाई। अभी हाल–हाल में २००३, २००६ में विशाल भारद्वाज ने शेक्सपीयर को उठाया है और 'मकबूल' तथा 'ओंकारा' बनाई है। आइए यहाँ हम 'मकबूल' को देखते हैं।

यूं तो शेक्सपीयर के सारे नाटकों में ढेर सारी विशेषताएं हैं। लेकिन 'मैकबेथ' और 'ओथेलो' की बात ही कुछ और है। दोनों में मनुष्य के हृदय की उथल–पुथल का बड़ा बारीक विश्लेषण मिलता है। दोनों भारतीय दर्शन–विश्वास के बहुत करीब पड़ते हैं। दोनों में मनोविज्ञान की बारीकियाँ देखने को मिलती हैं। वह मानव मन का पारखी था इसमें कोई संदेह नहीं है भले ही तब तक मनोविज्ञान का एक विषय के रूप में प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। मैकबेथ की महत्त्वाकांक्षा उसके विनाश का कारण बनती है तो ओथेलो शक की बीमारी का शिकार होता है। मनुष्य कभी अकेले नष्ट नहीं होता है उसके साथ उसके संग रहने वाले भी नष्ट होते हैं। इन दोनों के साथ भी यही होता है। ये खुद भी नष्ट होते हैं मगर अपने साथ तमाम और लोगों को भी नष्ट करते हैं। दोनों नाटक त्रासदी नाटक हैं। दोनों नाटकों ने विश्व भर के नाटक प्रेमियों के दिल में अपनी जगह बनाई है। नाटक खेलने वालों के लिए दोनों नाटक चुनौती रहे हैं। जब फिल्म विधा सामने आई तो दोनों नाटक फिल्म निर्देशकों के लिए भी आकर्षण और चुनौती रहे हैं। भारत जहाँ सुखांत नाटक और कथाओं की परम्परा है वहाँ भी ये दुखांत नाटक दर्शकों द्वारा सराहे गए हैं। दुखांत हमारी परम्परा नहीं है मगर यहाँ हमारी परम्परा का विचलन होता है। इसी तरह दुखांत फिल्मों को हिन्दी दर्शक द्वारा नकारे जाने की परम्परा रही है। यहाँ भी शेक्सपीयर अपवाद रहा है। ***ओथेलो*** का हिन्दी रूपांतरण (हालाँकि इसे रूपांतरण कहना पूरी तौर पर सही नहीं है) 'ओंकारा' फिल्म न केवल आलोचकों और दर्शकों को पसंद आई इसने बॉक्स ऑफिस पर भी पर्याप्त सफलता पाई। 'मैकबेथ' पर आधारित 'मकबूल' फिल्म भी एक ऐसी ही फिल्म है जिसे भारतीय दर्शकों, आलोचकों ने सराहा, भले ही वह आर्थिक दृष्टि से उतनी कमाई न कर सकी।

'मैकबेथ' शेक्सपीयर का ऐसा नाटक है जिसने दुनिया भर के फिल्म निर्देशकों को फिल्म बनाने के लिए उकसाया और उन्होंने इस पर फिल्म बनाई है। कैसे आइडिया मिला

उसे इस नाटक का? इसके कथानक में शेक्सपीयर ने कई कथाओं को समेटा है। १६०३ में महारानी एलीजाबेथ के मरते ही मुकुट धारण करने उसका भांजा किंग जेम्स स्कॉटलैंड से आ पहुँचा। तत्काल गृहयुद्ध प्रारंभ नहीं हुआ। शेक्सपीयर को आश्चर्य और गहन दोनों हुई। लेकिन जल्द ही १६०५ में राजा की हत्या का षड्यंत्र 'गनपाउडर प्लॉट' के नाम से हुआ जिसका परिणाम गे फॉक्स की गिरफ्तारी और फाँसी में हुआ। ''शेक्सपीयर ने भाँप लिया कि उसके बार–बार आने वाले कथानक–राजा की हत्या–थीम उसके लिए माकूल है, जबकि हाल ही में उसने घरेलू मुद्दों पर ***ओथेलो*** बनाया था। भाँड (शेक्सपीयर इस तरह भी जाना जाता है) ने वर्तमान पर टिप्पणी करते हुए अतीत की कहानी को लिया।''[1] और इस तरह 'मैकबेथ' नाटक का जन्म हुआ। मगर नाटककार ने मात्र यहीं से कथा नहीं उठाई। अपनी महत्वाकांक्षी पत्नी के उकसाने पर डोनवाल्ड ने डफ नामक राजा की उसके ही किले में हत्या कर दी थी। यह कहानी भी इसमें जोड़ी गई। इतिहास में एक अन्य हत्या की बात भी मिलती है। हत्यारे माल्कॉम ने स्कॉटलैंड के राजा केनेथ की हत्या की थी और कहा जाता है कि इस हत्या के बाद वह अपराधबोध के कारण सो नहीं पाता था। शेक्सपीयर को मैकबेथ के अपराधबोध और दु:स्वप्नों का आइडिया यहीं से मिला। उसने बेमेल विवाह की कहानी को भी शामिल किया। वृद्ध डंकन की जवान पत्नी का मैकबेथ के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। इंग्लैंड को उसके अत्याचारी राजा से छुटकारा दिलाने के लिए स्कॉटलैंड के सिवार्ड की इंग्लैंड पर चढ़ाई को भी नाटक में जोड़ा गया। चलता–फिरता जंगल तथा आदमी जो औरत से पैदा नहीं हुआ है, पुराइतिहास काल की दो लोककथाओं को भी यहाँ लाया गया। चुड़ैलें (विच) तो उसकी खासियत हैं, उन्हें तो आना ही था। इस तरह जगह–जगह से मसाला लेकर शेक्सपीयर ने जो रसायन तैयार किया उसका नाम है 'मैकबेथ'। असल ने इन मसालों से उसने दो नाटक बनाए 'मैकबेथ' तो बना ही दूसरा नाटक बना 'हैमलेट'। खैर 'हैमलेट की बात फिर कभी। अभी तो शेक्सपीयर के महान नाटक 'मैकबेथ' और उस पर बनी फिल्मों को ही देखते हैं। आलोचक कहते हैं कि इस नाटक ने शेक्सपीयर को ग्रीक नाटककार सोफोक्लस की ऊँचाई पर पहुँचा दिया।

१९०५ से ही ***मैकबेथ*** पर फिल्म बनने का सिलसिला प्रारंभ हो गया था। इस दौरान अमेरिका, इटली और फ्रांस में दो मिनट से लेकर पंद्रह मिनट तक की फिल्में बनी थीं। इन अल्पावधि की फिल्मों में मूल कृति के पूरी तरह उभरने की कोई गुंजाइश न थी। नाटक के साथ इन फिल्मों में न्याय नहीं हो सकता था। इनमें मैकबेथ मात्र एक खलनायक हत्यारे के रूप में चित्रित हुआ है। इन फिल्मों का ऐतिहासिक महत्त्व है। जिस समय हिन्दी सिनेमा का प्रारंभ हुआ इसी साल सर्वप्रथम १९१३ में जर्मनी के निर्देशक लुडविग लैंडमान ने इस पर सैंतालिस मिनट की पूरी फिल्म बनाई। अफसोस आज यह फिल्म उपलब्ध नहीं है। डी डब्ल्यू ग्रिफिथ की अमेरिकन फिल्म भी नष्ट हो चुकी है। इसके बाद काफी समय तक कोई फिल्म मैकबेथ पर नहीं मिलती है। पिछली सदी के पाँचवें दशक से मैकबेथ को लेकर फिल्म बनने का सिलसिला एक बार फिर चल पड़ा। कई देशों के फिल्म निर्देशकों

ने इस पर अपना हाथ आजमाया। यहाँ तक कि जापान के महान फिल्म निर्देशक अकीरा कुरोसावा ने भी मैकबेथ को कोस्ट्यूम ड्रामा के रूप में फिल्माया। भारत में विशाल भारद्वाज ने इसे अपनी फिल्म का कथानक बनाया परंतु पूरी तौर पर भारतीयता में रंग कर और आज के अंडरवर्ल्ड से जोड़ कर। उन्होंने मैकबेथ को मकबूल नाम दिया। फिल्म हमारा मनोरंजन तो करती ही है साथ ही हमारे जीवन को भी दिखाती है, हमारी भावनाओं को स्पर्श करती है। यह मात्र 'एंटरटेनमेंट, एंटरटेनमेंट, एंटरटेनमेंट' ही नहीं है। यह गहराई में पैठ कर समकालीन चरित्रों, मुद्दों को उठाती है, हमारे अतीत–वर्तमान को जोड़ कर भविष्य की ओर इंगित करती है।

बीसवीं सदी के आखिरी दशक में शेक्सपीयर अचानक हॉलीवुड का लाड़ला बन बैठा। उसके कई नाटकों पर हॉलीवुड के साथ–साथ विश्व भर में फिल्में बनने लगीं। शुरू से भारत के फिल्म निर्देशक शेक्सपीयर की ओर आकर्षित रहे हैं। इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ में विशाल भारद्वाज ने शेक्सपीयर को हाथ में लिया। 'यहाँ से सिनेमा' में अरुण कुमार लिखते हैं, ''संगीतकार विशाल भारद्वाज फिल्म निर्माण की दुनिया में आए। उन्होंने शेक्सपीयर के नाटक 'मैकबेथ' पर 'मकबूल' फिल्म बनाई। भारद्वाज ने इस फिल्म के संवाद भी लिखे और संगीत भी दिया। विदेशी रंग को देशीपन देने में यह फिल्म बहुत कामयाब रही।''[१] इसी तरह कुछ लोग इसे वर्ष (२००४) की सर्वश्रेष्ठ फिल्म का दर्जा देते हैं। ''विशाल भारद्वाज शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' को फिल्मांकन के लिए चुनते हैं और उस पर आधारित फिल्म नहीं बनाते, 'मकबूल' के रूप में पुनर्रचना करते हैं। इस विदेशी कथा को सौ फीसदी देसी बना देते हैं और वह भी इस तरह कि मूलकथा की भावना को रत्ती भर भी ठेस न लगे।'' मूलकथा को ठेस नहीं पहुँची है इस कथन से मैं सहमत नहीं हूँ। मूलकथा में मैकबेथ जिस तरह अपराधबोध से ग्रस्त है और आत्मद्वंद्व से परेशान दिखता है मकबूल में यह बात नहीं आ पाई है। मूलकथा का अर्थ मात्र कहानी का कंकाल नहीं होता है। मूलकथा में डंकन की भूमिका इतनी सशक्त नहीं है जितनी अब्बाजी की भूमिका। इरफान एक कुशल अभिनेता है पर पंकज कपूर (अब्बाजी) के अभिनय कौशल के सामने उभर नहीं पाते हैं। मरने के पहले और हत्या के बाद भी पूरी फिल्म पर जहाँगीर खान उर्फ अब्बाजी ही छाए रहते हैं। ''अब्बाजी की भूमिका में पंकज कपूर किसी भी विदेशी जेम्स बांड के सामने बड़ी उपस्थिति है। बड़े से बड़ा स्टार उनसे सीख सकता है। बगैर किसी अतिरिक्त हरकत के सहजतापूर्वक माफिया डॉन का आतंक खड़ा कर देते हैं।''[४] यह सही है कि बड़ा से बड़ा स्टार पंकज कपूर से सीख सकता है.मगर इस फिल्म में उनकी जेम्स बांड से तुलना गलत है। जेम्स बांड एक्शन हीरो है जबकि अब्बाजी एक्शन हीरो नहीं है। हाँ वे डॉन है और उनका अभिनय देख कर उनकी संवाद अदायगी मुझे **गॉड फादर** की याद अवश्य दिलाता है। जैसे **गॉड फादर** में बिना हाथ–पैर फेंके और शरीर को हरकत में लाए मर्लीन ब्रांडो ने संवाद बोले हैं ठीक वही अंदाज पंकज कपूर का इस फिल्म में रहा है। यही नहीं उनकी बॉडी लैंग्वेज भी वैसी ही है, थोड़ी तोंद के साथ खास अदा में झुक कर चलना,

बैठना, चेहरे का हावभाव सब। मैं यह नहीं कहूँगी कि उन्होंने मर्लोन ब्रांडो की नकल की है। वे एक मौलिक कलाकार हैं। प्रभाव भले ही मर्लोन ब्रांडो का हो मगर अदा पंकज कपूर की अपनी खास है। ''गिलौरी खाया करो मियाँ, जुबान काबू में रहती है'' उनका यह संवाद बहुत लोकप्रिय हुआ था। अब्बाजी असूलों वाले आदमी हैं। मुंबई को अपनी महबूबा मानते हैं और उसे छोड़ कर करोड़ों के लालच में भी कराची–दुबई जाने के लिए राजी नहीं हैं। यहाँ उन माफिया लोगों पर तंज कसा गया है जो दूसरे देशों में रह कर भारत में अपना कारोबार चलाते हैं। अब्बाजी मानते हैं कि केवल लाभ के लिए धंधा करना ठीक नहीं होता है।

ओर्सन वेल्स का 'मैकबेथ' शेक्सपीयर के 'मैकबेथ' की अपेक्षा 'केन' और 'एम्बरसन' के अधिक निकट है। ओर्सन वेल्स का मैकबेथ ''अपनी रिरियाती छोटी–सी पत्नी से भयभीत एक खोखला आदमी है। यह एक बड़े घर में रहता है जिसका खालीपन इस शक्तिशाली आदमी के आंतरिक शून्यता का प्रतीक है।'' पोलांस्की में यह पात्र बहुत कम बोलता है। जबकि विशाल भारद्वाज निम्मी (तब्बू) को खुलने का भरपूर मौका देते हैं। वह अपनी सुंदरता, अदा और यौनिकता से अब्बाजी और मकबूल दोनों को नचाती है। फिर गर्भवती स्त्री के रूप में उसकी भूमिका है और अंत में रो–रो कर हलकान होते हुए वह मरती है। कठिन प्रसव के बाद मौत से जूझती हुई निम्मी को अपराधबोध चैन नहीं लेने देता है। वह इस अवश शारीरिक हालत में भी खुद को खून के दाग छुड़ाने से रोक नहीं पाती है। खून के दाग क्या ऐसी आसानी से छूटते हैं? तब्बू पात्र और परिवेश के अनुरूप अभिनय को उठाने में समर्थ हुई हैं मगर संवाद अदायगी में न मालूम क्यों खुल कर सामने नहीं आ पाती हैं। फिर भी उसकी शारीरिक और मानसिक असुरक्षा– लाचारी, स्त्री के रूप में अपना स्थान सुरक्षित रखने की जद्दोजहद दर्शक के मन में उसके प्रति सहानुभूति जगाती है। वह जानती है किसी भी दिन कोई मोहिनी उसे उसके स्थान से बेदखल कर सकती है। शेक्सपीयर की भी यह खासियत है कि वे गलत काम करने वाले आदमी के प्रति भी आश्चर्यजनक रूप से सहानुभूति उत्पन्न कराने में सक्षम हैं। यह व्यक्ति जानता है कि वह गलत है फिर भी गलत काम करता चला जाता है और पतन के गर्त में गिरता चला जाता है, अंत में नष्ट हो जाता है। मगर यह बात मैकबेथ और मकबूल पर लागू होती है। लेडी मेकबेथ अथवा निम्मी कभी नहीं जान–मान पाती है कि वे कुछ गलत कर रही हैं।

१९४७ में हमारा देश स्वतंत्रता का जश्न मना रहा था इसी साल डेविड ब्रेडली 'मैकबेथ' बना रहे थे। उन्होंने बहुत कम खर्च, पाँच हजार से भी कम डॉलर में यह फिल्म बनाई। वे इलीनोइस के वुडस्टोक के उसी टोड स्कूल में पढ़े थे जहाँ ओर्सन वेल्स ने पढ़ाई की थी। उन्होंने यह फिल्म स्कूली शिक्षा के लिए तैयार की थी और उनका इरादा इस फिल्म को स्कूलों में बेच कर धन कमाना था। वे खूब मुनाफे का ख्वाब देख रहे थे मगर स्कूलों में घूम–घूम कर फिल्म बेचना इतना आसान न था। ब्रेडली को आशानुरूप लाभ न हुआ। कम खर्च के लिए उन्होंने किले के लिए पुरानी इमारतों का प्रयोग किया। घर के बेसमेंट

को स्टूडियो में तब्दील करके घर पर ही एडीटिंग और साउंड रिकॉर्डिंग की। साउंडट्रैक का काम बाहर नहीं हो सकता था क्योंकि सारे समय हवाई जहाज खूब शोर करते हुए उड़ते रहते थे। ''होठ संचालन हुए पर संवाद सहित सारी ध्वनि बाद में डब की गई।''[६] फिल्म बनाने में उनके मित्रों ने खूब सहायता की। किसी ने कैमरा संभाला तो किसी ने बैंको की भूमिका की, प्रकाश व्यवस्था का भार भी बैंको बने मित्र ने संभाला। एक मित्र ने इस ७३ मिनट की फिल्म के लिए ढेरों पोशाक का जिम्मा संभाला। कबाड़ी बाजार से प्रोप्स खरीदे गए। कागज की लुगदी से हेलमेट और लकड़ी से तलवारें बनाई गई। ब्रेडली की माँ इन सबके लिए खाने–पीने का इंतजाम करती। इस तरह सामूहिक सहयोग का प्रतिफल हुई एक और 'मैकबेथ' फिल्म। मार्के की बात यह है कि जब ब्रेडली ने 'मैकबेथ' बनाई वे केवल २६ साल के नौजवान थे, द्वितीय विश्वयुद्ध में सेना के सिग्नलकोर में काम कर चुके थे। फिल्म बनाने में उनके सहयोगी भी सेना में विभिन्न पदों पर काम करने ही वाले थे। इसी टेड स्कूल से निकले ओर्सन वेल्स ने निर्देशन के क्षेत्र में विश्वख्याति पाई। वेल्स फिल्म में प्रकाश और छाया से खेलने वाले निर्देशक हैं। उनका अपने मीडियम, फिल्म पर उतना ही नियंत्रण है जितना शेक्सपीयर को अपने माध्यम, स्टेजप्ले पर हासिल है। चूँकि वेल्स की फिल्म 'मैकबेथ' श्वेत–श्याम है और 'मकबूल' रंगीन फिल्म है अत: फिल्म कला के रूप में दोनों की तुलना नहीं की जानी चाहिए। क्योंकि जो प्रभाव प्रकाश और छाया द्वारा उत्पन्न किया जा सकता है वह रंगों में उतनी खूबसूरती से संभव नहीं है। उदाहरण के लिए वेल्स के मैकबेथ का एक दृश्य काफी होगा। जब मैकबेथ हत्या करने जा रहा है उसका चेहरा रोशनी में है ज्यों–ज्यों वह आगे बढ़ता है चेहरे पर अंधेरा बढ़ता जाता है। थोड़ी देर बाद चेहरा आधा प्रकाश और आधा अंधकार में है। फिर हत्या होते वह पूरी तौर से छाया में समा जाता है। यह प्रतीकात्मक तो है ही साथ ही बहुत प्रभावपूर्ण भी है। ८९ मिनट की इस फिल्म में वेल्स ने शेक्सपीयर की कविता की सारी महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध पंक्तियों को समेटा है, इसके लिए उनकी आलोचना भी हुई। आज ओर्सन वेल्स की फिल्म को क्लासिक माना जाता है, बाकायदा उसका फिल्म स्कूलों में अध्ययन–अध्यापन होता है, मगर जब यह रिलीज हुई थी तो आलोचकों ने काफी नाक–भौं सिकोड़ी थी। यहाँ तक कि मैकबेथ के रूप में ओर्सन वेल्स के अभिनय और निर्देशक के रूप में उनको सराहा नहीं गया। संवादों के लिए कहा गया कि वे इतने खराब तरीके से संप्रेषित किए गए हैं कि सारी काव्यात्मकता के बावजूद इसे सामान्य दर्शक नहीं समझ सकेगा इसलिए इसके सबटाइटिल्स दिए जाने चाहिए। गौरतलब है कि फिल्म इंग्लिश दर्शकों के लिए बनी थी जो शेक्सपीयर की एक–एक पंक्ति कंठस्थ किए रहते हैं। ''एक ब्रिटिश मसखरे ने सुझाव दिया कि फिल्म उत्तम हो जाएगी बस अगर उसमें इंग्लिश सबटाइटिल्स का साथ हो।''[७] ओर्सन वेल्स ने कम बजट में यह फिल्म बनाई थी। विशाल भारद्वाज ने भी मकबूल कम बजट में बनाई। वेल्स की चुड़ैलें पुराने धर्म का प्रतिनिधित्व करती हैं। वे धरा पर अराजकता की वाहक भी हैं, जबकि विशाल भारद्वाज ने तीन चुड़ैलों को आधुनिक युग के दो भ्रष्ट पुलिसवालों में परिवर्तित कर

दिया है। ये दोनों पुलिस वाले पुरोहित (नसीरुद्दीन शाह) और पंडित (ओमपुरी) ज्योतिष भी है और फिल्म में हास्य (कॉमेडी) की सर्जना भी करते हैं। फिल्म राजनीति, अंडरवर्ल्ड और पुलिस के गठजोड़ को बखूबी दिखाती है। मूल की तरह ये भविष्यवाणी करके रुक नहीं जाते हैं बल्कि संपूर्ण कथानक में हिस्सेदारी भी करते हैं। अब्बाजी से हफ्ता लेकर उनके खिलाफ मकबूल को उकसाते हैं। मकबूल और काका, गुड्डू को एक दूसरे के विरुद्ध करते है। जरूरत पड़ने पर पुलिस ऑफिसर की नाक के नीचे से मियाँ (फिल्म में अधिकांश समय मकबूल को इसी नाम से संबोधित किया जाता है) को निकाल ले जाते हैं। अंत में मकबूल को सीमा पार, तड़ी पार करने का इंतजाम करते हैं। यह बात दूसरी है कि मकबूल इसके पहले ही दुनिया के पार चला जाता है। ज्योतिष गणना के लिए चौपड़खाना (पत्री) बनाने के लिए कबाब, पानी की बूँद, बालू, कंकड़, सूखा मेवा, किसी भी चीज का प्रयोग करते हैं। इनका पेटेंट वाक्य है, ''शक्ति का संतुलन चाहिए संसार में। आग के लिए पानी का डर होना चाहिए।'' नसीर और ओम दोनों मंजे हुए कलाकार हैं। नसीर गंभीर भूमिकाएँ जितनी सहजता से करते हैं उसी अंदाज में वे हास्य भूमिकाओं में उतरते हैं। ओम भी आजकल बराबर हास्य भूमिका करते नजर आते हैं। हिन्दी फिल्मों में पहले अभिनेता खास भूमिका के लिए टाइप्ड होते थे। कुछ अभिनेता केवल गंभीर भूमिकाएँ करते थे, कुछ हास्य, हल्की-फुल्की भूमिकाओं के लिए नियत थे। मगर आज अगर हिन्दी फिल्मों में सर्वाइव करना है तो गंभीर-से-गंभीर कलाकार को हास्य भूमिका करनी ही होगी। यह भी सही है कि इससे अभिनेता को अपनी सीमा के पार जाने, उसका विस्तार करने का अवसर मिलता है। एक बात और है, जब तक हम पश्चिम की नकल नहीं करते हैं हमें अपनी गुणवत्ता पर विश्वास नहीं होता है। आज चलन हो गया है कि परदे पर पेशाब करते हुए दीखना ही होगा। शुक्र है नसीर अभी तक कभी बहुत भौंडे नहीं हुए हैं।

भले ही फिल्म साहित्य, संगीत, चित्रकला, फोटोग्राफी, मूर्तिकला, वस्त्रकला, वास्तुकला का सहारा ले, पर फिल्म एक स्वतंत्र विधा है। निर्देशक जो दिखाना चाहता है, जैसे दिखाना चाहता है, यथार्थ, कल्पना अथवा दोनों का मिश्रण दर्शक मात्र उतना ही देखने को विवश है। साहित्यिक कृतियों पर फिल्म बनाते समय ,भी निर्देशक कथानक में जोड़-घटाव करने को स्वतंत्र है। अपनी विधा के अनुरूप उसे परिवर्तन करना भी चाहिए बशर्ते यह फिल्म की माँग हो। ओर्सन वेल्स, रोमन पोलांस्की, डेविड ब्रेडली, विशाल भारद्वाज सबने 'मैकबेथ' के साथ यह किया है। विशाल कथानक की आधुनिकता को बनाए रखने के लिए चुड़ैलों को पुलिस वालों में बदल देते हैं। वैसे देखा जाए तो दोनों में बहुत फर्क है नहीं। विशाल भारद्वाज ने बंबई के अंडरवर्ल्ड को दिखा कर हमारे समाज के आज के सच को उजागर किया है। राजनीति के आपराधिक चेहरे और अपराध की राजनीति दोनों को दिखाकर कटु सत्य द्वारा ब्लैक ट्रेजडी प्रस्तुत की है। वेल्स के यहाँ धर्म को बहुत महत्व दिया गया है। उनके अनुसार स्कॉटलैंड धार्मिक देश था जबकि इंग्लैंड को धार्मिकता में दीक्षित करना बाकी था। जिसका दायित्व स्कॉटलैंड पर था। इसीलिए स्कॉटलैंड की सेना के

साथ आती हुई कटी हुई झाड़ियाँ भी हरे–भरे जंगल का भान देती है जबकि मैकबेथ के किले के पास के पेड़–पौधे रूखे–सूखे दिखाए जाते है। यही चलता हुआ जंगल मकबूल में आकर घर में घुसते दरिया का रूप धारण करता है। वेल्स के यहाँ मैकबेथ के सैनिक सींग के आकार के टोप पहनते हैं जबकि दूसरी ओर की सेना के लोग क्रॉस के निशान वाला टोप धारण करते है। मैकबेथ जब अपने नौकर सेटन को पुकारता है तो लगता है वह शैतान कह रहा हो। धर्म को प्रमुखता देने के कारण ही वे ''एक मौलिक पात्र, एक धार्मिक व्यक्ति (होलीमैन) को इजाद करते हैं। यह होलीमैन पहले तो मैकबेथ और बैंको की विजयी सेना की जयजयकार करता है, फिर मनुष्यता को ''कालिमा के वाहकों'' के खतरे से बचे रहने की चेतावनी की पंक्तियाँ प्रेषित करता है। जिन शब्दों को बैंको याद रखता है; मैकबेथ अपने शाश्वत पश्चाताप के लिए याद नहीं रखेगा।''[६] होलीमैन लेडी मैकबेथ को आने वाले खतरे से आगाह कराता है जबकि यह कार्य मूल कृति में रोसा के द्वारा किया जाता है। वेल्स की चुड़ैलें फिल्म की शुरुआत में आती है और अंत में भी आती है जबकि मूलकथा में अंत में वे नहीं है। विशाल ने अब्बाजी की बेटी समीरा (मौसुमी मखीजा) की कल्पना की है। मकबूल और निम्मी का बच्चा भी पैदा होता है। भारत में मकबूल बनी इसलिए धर्म और जाति आनी ही थी। जाति की बात तो उतनी नहीं हुई है, हाँ; हिन्दू–मुस्लिम दोनों प्रमुख धर्म अवश्य आए है। भारद्वाज ने गुड्डू और समीरा की शादी की स्वीकृति अब्बाजी से दिला कर दोनों धर्म को मिलाने की चेष्टा की। इस स्वीकृति में न तो गुड्डू के धर्म परिवर्तन की बात की जाती है न ही समीरा को ऐसा करने को मजबूर करने की बात आती है।

अब्बाजी जिस मुगल को अपना भाई कहते हैं उसे अपने रास्ते से हटाने में कोई गुरेज नहीं करते है। फिर मतलब के लिए उसके बेटे को संरक्षण देने का नाटक भी करते है। न ही अपने साले आसिफ को समाप्त करने में अब्बाजी को ज्यादा सोच–विचार करना पड़ता है। इनका धर्म बस खुद को बचाना और विपक्षी को रास्ते से हटाना है। इसीलिए मकबूल जिसे उन्होंने बचपन से पाला है वह उनका स्थान लेने के लिए उनकी हत्या करने से परहेज करता है। वैसे शुरु में मकबूल इस बात के लिए राजी नहीं है न ही अब्बाजी का स्थान लेने की भविष्यवाणी पर विश्वास करता है। वह अब्बाजी को बहुत मानता था, एक तरह से उनका गुलाम था। वह अब्बाजी का अहसानमंद है, कभी उनका स्थान लेने की बात नहीं सोचता है। फिर एक वक्त आता है जब वह निम्मी के उकसाने पर खुद डॉन बनने की महत्वाकांक्षा पालने लगता है। निम्मी बड़ी चालाकी से काम लेती है। वह मकबूल को सीधे अब्बाजी के खिलाफ नहीं करती है। वह गुड्डू की बढ़ती पोजीसन का हवाला देकर मकबूल को समझाती है कि यदि अब्बाजी जीवित रहे तो सबको जल्द ही गुड्डू की गुलामी करनी होगी, उसके आदेशों का पालन करना होगा।

रोमन पोलांस्की को भी एक कल्पना करनी पड़ी, यह उन्हें मजबूरी में करनी पड़ी। शायद मजबूरी न लगी हो, कल्पना ही जो ऐसी करनी थी। उन्होंने १९७१ में जब फिल्म बनाई, समय बदल चुका था। शेक्सपीयर कमर्शियल फिल्मों का हिस्सा बन चुका था। फिल्म

तकनीकि काफी विकसित हो चुकी थी। फिल्मों का खर्च बहुत ज्यादा होने लगा था। पोलांस्की एक भव्य फिल्म बनाना चाहते थे। वे विभिन्न लोगों के पास गए। इसी बीच वे प्लेबॉय के मालिक हग हैफनर से मिले। हग हैफनर भी विश्वस्तरीय फिल्म निर्देशक से जुड़ने को इच्छुक थे, उन्होंने तुरंत हाँ कर दी। उनकी इस शानदार फिल्म को बनाने का आर्थिक भार 'प्लेबॉय' मैगजीन के मालिक हग हैफनर उठा रहे थे, जाहिर है उनकी हार्दिक इच्छा थी कि लेडी मैकबेथ नींद में चलते समय वस्त्रविहीन हो। शर्त यह भी थी कि वह खूबसूरत होनी चाहिए। पोलांस्की ने ऐसा ही किया भी। २५ वर्ष की खूबसूरत फ्रांसिस्का एनिस ऐसा ही करती है। वह नग्न हालत में नींद में चलती है, रगड़–रगड़ कर अपने हाथ धोती है। उस वक्त कक्ष में दर्शकों के अलावा एक डॉक्टर और एक परिचारिका भी उपस्थित है। इस दृश्य के लालच में, लेडी मैकबेथ को देखने दर्शक अवश्य बार–बार सिनेमा हाल की ओर गए होंगे। मैंने वी.सी.डी. पर यह फिल्म देखी। बड़े परदे पर लेडी मैकबेथ का आकर्षण वास्तव में खूब रहा होगा। निर्माता भले ही फिल्म का क ख ग न जानता हो मगर वह निर्देशक को आदेश दे सकता है। सिनेमा एक उद्योग है और उद्योग में जो पूँजी लगाता है सत्ता उसके हाथ होती है। वह कलात्मकता से अधिक मुनाफे पर ध्यान देता है। वैसे पोलांस्की का यह दृश्य काफी कलात्मक बन पड़ा है। उनका २८ साल का मैकबेथ भी काफी सुंदर है। प्रेस को जब इसकी हवा लगी तो बात तुरंत फैल गई, इसे पहली शेक्सपीयर नग्न फिल्म के रूप में प्रचार मिला। वेल्स के २१ दिन के स्टूडियो शूट की बनिस्बत पोलांस्की के लैविश बजट ने उत्तरी इंग्लैंड और वेल्स लोकेशन पर छः महीने की फिल्मिंग की सुविधा दी। पोलांस्की ने मूल संवाद की प्रत्येक लाइन को काव्यात्मक संवाद के रूप में प्रस्तुत करके कमाल किया।

'मैकबेथ' फिल्म का अंतिम सीन बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें मैकबेथ का अंत होता है। यह दृश्य हर निर्देशक ने भिन्न तरीके से फिल्माया है। ओर्सन वेल्स ने यह प्रतीकात्मक रूप में दिखाया है। मैकबेथ का कटा सिर न दिखा कर एक गुड़िया का कटा सिर दिखाया गया है। दर्शक बिना देखे भी जान लेता है कि पात्र के साथ क्या हुआ है। भरत के नाट्यशास्त्र में भी कुछ दृश्य रंगमंच पर दिखाने का निषेध है। जबकि रोमन पोलांस्की बाकायदा तलवारबाजी दिखाते हैं। वे राजाओं के युग को दर्शा रहे हैं, उनके अपने अनुभव का प्रभाव भी यहाँ है। उनके यहाँ अंतिम दृश्य में मैकबेथ का सिर बाकायदा धड़ से अलग हो कर काफी दूर लुढ़कता है। वे यहीं नहीं रुकते हैं। सिर को बाँस पर उठा कर काफी देर तक घुमाया–नचाया जाता है, उसे बर्बर तरीके से झंडे की तरह बाँस के छोर पर लटकाया जाता है। पोलांस्की के जीवनानुभवों के कारण उनकी फिल्म में बर्बरता और निराशा का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं होनी चाहिए। यहूदी होने के कारण द्वितीय विश्वयुद्ध में उनकी माँ गैस चेम्बर में डाली गई थीं, पिता भी यातना शिविर में थे। पोलांस्की का बचपन हिटलर की छाया में बीता था। ''उनके माता–पिता को यातना शिविर में भेज दिया गया था हालाँकि वे अपने पिता के साथ मिल सके, उनकी माँ ऑस्कविट्ज़ में नष्ट हुई। आश्चर्य नहीं कि उनकी फिल्में निराशा और मानव क्रूरता की प्रखर जानकारी के लिए जानी जाती हैं।''[१] बाद

में उनकी गर्भवती पत्नी की भी हत्या हुई। इसका असर 'मैकबेथ' में देखा जा सकता है।

विशाल भारद्वाज के पास पिस्तौल थी जिसकी धाँय–धाँय में वह कलात्मकता कहाँ। पिस्तौल भी पीछे से चलाई जाती है गोली मैकबेथ की पीठ में लगती है। द्वंद्वयुद्ध में जो शौर्य, शक्ति और कौशल है वह पिस्तौल में कहाँ। तलवारबाजी दर्शक के दिल में अलग अनुभूति पैदा करती है। हर बार जब तलवारें टकराती है तो दर्शक का दिल उछलता है। गोली मारने में यह अनुभव संप्रेषित नहीं हो सकता है। आज का युग एकतरफा लड़ाई का है। अब तो एक देश के सैन्य अधिकारी दूर बैठ कर रिमोट का बटन दबाते हैं और दुश्मन की सारी फौज और नागरिक धराशायी हो जाते हैं। वक्त के साथ बहुत कुछ बदलना है, बदल गया है। अंडरवर्ल्ड, माफिया में ऐसे ही मारा जाता है लोगों को। विशाल भारद्वाज मकबूल की हत्या के समय अस्पताल के बाहर का जनशून्य स्थान दिखाते हैं। यह मकबूल के अकेलेपन, दुनिया से कटे होने का प्रतीक है। अस्पताल की बड़ी–ऊँची इमारत और जमीन पर पड़ा मकबूल का निर्जीव शरीर। मगर निर्देशक पहले के मकबूल और अब्बाजी का स्थान लेने वाले मकबूल में पोशाक (बाद में वह सूट पहनने लगता है) के अलावा कोई विशिष्ट बदलाव नहीं करवाता है। जबकि यहाँ बदलाव की संभावना बनती है।

काका के रूप में पीयूष मिश्रा का अभिनय भी लाजवाब है, खासकर जब उनके बेटे गुड्डू और समीरा की शादी की इजाजत अब्बाजी दे देते हैं। उनकी बॉडी लैंग्वेज और चेहरे का हावभाव कमाल का है। इसी तरह उनका अभिनय देखने लायक है जब पंडित छः महीने के भीतर मकबूल के अब्बाजी का स्थान ले लेने की घोषणा करता है। तब जब अब्बाजी अपने साले आसिफ के मरने के बाद बॉलीवुड का सारा कारोबार मियाँ को सौंप देते हैं। जबकि काका आसरा लगाए बैठा था कि यह मालामाल करने वाला विभाग तो उनके बेटे गुड्डू की झोली में ही आएगा। अंकुर विशाल और अजय गेही ने भी बहुत प्रभावशाली अभिनय किया है। विशाल ने फिल्म में पंकज कपूर, नसीरुद्दीन शाह, इरफान खान, ओम पुरी, तब्बू, पीयूष मिश्रा जैसे बड़े–बड़े कलाकार लिए हैं। बावजूद इसके 'मकबूल' दर्शकों के बीच बहुत लोकप्रिय फिल्म न बन सकी पर आलोचकों ने इसकी खूब प्रशंसा की। अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह, टोरंटो में २००३ में इसका प्रीमियर हुआ। पंकज कपूर को फिल्मफेयर का सर्वोत्तम अभिनेता का क्रिटिक्स पुरस्कार मिला। उन्हें सर्वोत्तम सहायक अभिनेता का राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार भी मिला। हेमंत चतुर्वेदी की सिनेमैटोग्राफी फिल्म के बारीक पहलुओं को कुशलता से पकड़ती है। जब–जब मियाँ निम्मी को अपनी सोच में अब्बाजी के साथ देखता है फिल्मांकन सल्वाडोर डाली की चित्रकला की याद दिलाता है। गुलजार यूँ तो बहुत सुंदर गीत लिखते हैं जो सहज ही दर्शक–श्रोता के जीवन का हिस्सा बन जाते हैं मगर मकबूल का कोई भी गीत अपेक्षित लोकप्रियता प्राप्त न कर सका। जबकि सारे गीत बहुत लयात्मक और खूबसूरत हैं। चाहे वो दरगाह में दलेर मेंहदी की गाई कव्वाली 'रू–ब–रू' हो अथवा समीरा की सगाई के समय का नाच–गाने का 'झिन मिन झीनी' या फिर 'जी भर के रोने दो' हो, सब बहुत अच्छे बन पड़े हैं।

गुड्डू शुरू से नरमदिल है। वह कभी हत्या नहीं कर पाता है। गुड्डू समीरा को बहुत प्रेम करता है। अपने पिता का बदला लेने के लिए वह बोटी के साथ मिल जाता है। जब समीरा को लेने आता है तब चाहता तो निम्मी को मार सकता था मगर वह उसके गर्भ की चिंता करता है। मरते समय मकबूल को एक बात का संतोष है कि उसकी बच्ची को समीरा और गुड्डू ने प्रेमपूर्वक अपना लिया है। वह अस्पताल अपनी बच्ची को लेने आया था। जब वह वहाँ गुड्डू को देखता है तो उसे मारने को तत्पर हो जाता है तभी उसे दीखता है कि समीरा और गुड्डू बच्ची लेने आए हैं। मकबूल वहीं अपनी पिस्तौल छोड़ कर बाहर चल देता है। फिल्म इंगित करती है कि अब उसने क्राइम की दुनिया से तौबा कर ली है। फिल्म एक सकारात्मक प्रभाव छोड़ने का प्रयास करती है। लेकिन जिसने एक बार अपराध की दुनिया अपनाई हो वह उससे जीते–जी नहीं निकल सकता है। अपने पिता की हत्या का बदला लेने के लिए रियाज बोटी (मूल नाटक में मैकडफ) मकबूल को मारता है। बोटी जो गुड्डू के साथ है। बोटी जो असल में किसी के साथ नहीं है। इरफान का सधा अभिनय और उनकी बोलती आँखें यहाँ अपना विशिष्ट प्रभाव छोड़ती हैं। पोलांस्की का मैकबेथ युवा और खूबसूरत है, वेल्स का मैकबेथ गुफानुमा किले में कैद होने के कारण दम घोटने वाला अनुभव है, महत्त्वाकांक्षी कम पाशविक अधिक है। भारद्वाज का मकबूल क्रूरता के कम और मानवीयता के अधिक करीब है। मैकबेथ एक विशिष्ट पर सार्वभौमिक पात्र है, मानवता के भीतर अच्छाई और बुराई की विपरीत शक्तियों के द्वंद्व का प्रतीक है, जो हम सबके भीतर निरंतर चलता रहता है।

संदर्भ :

१. राही मासूम रजा, सिनेमा और संस्कृति, २००१, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.५५
२. डगलस ब्रोड, शेक्सपीयर इन द मूवीज फ्रॉम द साइलेंट ईरा टू शेक्सपीयर इन लव, २०००, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. १७५.
३. अरुण कुमार, यहाँ से सिनेमा', २०१२, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृ. १७–१८
४. प्रहलाद अग्रवाल (सं.), प्रगतिशील वसुधा हिन्दी सिनेमा विशेषांक, पृ.५५६–६७
५. डगलस ब्रोड, शेक्सपीयर इन द मूवीज फ्रॉम द साइलेंट ईरा टू शेक्सपीयर इन लव, २०००, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. १७५
६. वही, पृ. १८०
७. वही, पृ. १८३
८. वही, पृ. १८२
९. रोबर्ट शेल, ब्रिटिश डायरेक्टर्स : अ क्रिटिकल गाइड, २००७, एडिन्बर्ग यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ. १६४

Pride and Prejudice vs *Bride and Prejudice*

Sunita Sahay

Jane Austen has to be considered in the context of the eighteenth century fiction. Eighteenth century produces a number of creative novelists who helped the growth and development of novel. The sensibility of Jane Austen was, however, different from that of her predecessors. F.R. Leavis has said in *The Great Tradition*, "Jane Austen, in fact, is the inaugurator of the great tradition of the English novel- and by 'great tradition' I mean the tradition to which what is great in English fiction belongs."[1]

Jane Austen inaugurated a tradition in English fiction which was maintained by George Eliot and Charles Dickens. Jane Austen made a departure from the conventional standards of fiction followed by Richardson, Fielding, Mrs. Radcliffe and Smollett. Although we do not feel the power of passion that sweeps through the writings of Charlotte and Emily Brontes, she had her own values of fiction. She is primarily interested in ideas and her outlook is philosophical.

Jane Austen was influenced by French novelists who tried to make philosophical study of human behaviour. Her writings are based on a belief that individuals have certain obligations to society. She stands for certain moral and social values and attacks hypocrisy. Her purpose is not didactic, it is psychological. She traces the processes of man's mind and her faithful observation of minute details of life makes her characters life-like. Titles of Jane Austen's novels take us to abstract ideas. *Pride and Prejudice, Sense and Sensibility and Persuation* are all abstract titles and they have evidently psychological and philosophical basis. In an age when the interest of the novelists and readers was focused mainly on man and external objects, it was no small achievement for Jane Austen to make a departure from the commonly accepted values of life. There is little movement of action in her novels. This limitation of Jane Austen is really born of philosophical temperament. Virginia

Asst. Professor, Dept. of English, Co-operative College, Jamshedpur

Woolf admires Jane Austen not for her limitation but for the psychological interest in her novels. All the little details that we find in her novels are of psychological interest. There is an element of penetrating insight and complete honesty in Jane Austen.

Pride and Prejudice expresses Jane Austen's delight in life. The novel takes the readers to an abstract idea—the idea of pride in one character and that of prejudice in another. It is a novel principally about Elizabeth Bennet and Fitzwilliam Darcy. It a story dealing with the themes of love, courtship and marriage. But the love affair is not as simple as it appears. Elizabeth gets a sort of prejudice against Darcy from the initial stage of their acquaintance. Darcy, on the other hand, is temperamentally a proud person. Thus the pride of one and prejudice of the other stand between the two and prove a positive hindrance in the way of their marriage. The story ends as soon as Darcy is cured of his pride, and Elizabeth of her prejudice. It is the pride of Darcy and prejudice of Elizabeth that impart to the novel a story of sustained interest.

In brief, the story of *Pride and Prejudice* is about five sisters. Mr Bennet is an English gentleman living in Hartfordshire with his overbearing wife and their five daughters: the beautiful Jane, the clever and intelligent Elizabeth, the bookish Mary, the immature Kitty and the wild Lydia. Unfortunately they are not from the upper class. If Mr Bennet dies, there house will be inherited by a distant cousin whom they have never met, so the family's future happiness and security is dependent on the daughters making good marriages. When the wealthy bachelor Mr Bingley and his best friend Mr Darcy arrive in the town to spend the summer in a mansion nearby Mr Bennet's property, the shy and beautiful Jane falls in love for Mr Bingley. We find Darcy very reserved, indifferent and proud of his large estate in Derbyshire. During a ball dance he refused to be introduced to the ladies. When Bingley told Darcy that the latter should take his chance of dancing with Elizabeth, Darcy replied arrogantly that she was not beautiful enough to tempt him. This was the beginning of estrangement between Elizabeth and Darcy. Elizabeth revolted against the pride of Darcy and thought him to be a hateful person. Later, Darcy was tempted by the beautiful eyes of Elizabeth who engaged his mind most of the time.

Elizabeth Bennet is misled by the immediate agreeability of the one and the haughty formality of the other; into liking Wickham and disliking Darcy: the action describes how further knowledge teaches her to reverse

these opinions - a good man is supposed to be bad and the bad man good- a misunderstanding about the character. Towards the end, we find that Elizabeth is cured of her prejudice and Darcy of her pride. Mutual feeling of love and agreement is stronger than his pride or her prejudice. Warm feeling is ever the good angel in Miss Austen's stories and it is the strength of this feeling which triumphs leading to their eventual reconsideration and happiness.

Bride and Prejudice[2], a movie by Gurinder Chadha, is a modern re-make of the Jane Austen's classic *Pride and Prejudice* with a Bollywood twist. The story centres around the Bakshi family and their four daughters who live in a run-down mansion in Amritsar, India. The domineering Mrs Bakshi (Nadira Babbar) wants nothing more than to see her four daughters married off, with the eldest daughter Jaya (Namrata Shirodkar) the first in line. When Mr Balraj (Naveen Andrews) arrives from the UK to attend his best friend's wedding, he and Jaya fall in love. The second Bakshi daughter – Lalita (Aishwarya Rai) is not so flattered when Balraj's best friend, the American hotelier William Darcy (Martin Henderson), pays her attention. She finds him too proud and his comments about the backward state of India upset her. Instead, Lalita is charmed by Jonny Wickham (Daniel Gillies), who actively embraces Indian culture and even comes to stay with the Bakshi family. However, Wickham is not the man of honour that he appears to be, and his affections take a turn towards another of the Bakshi girls. Meanwhile, Lalita is trying to escape the affections of Los Angeles resident Mr Kholi (Nitin Ganatra), whose hilarious ideas about marriage and complete lack of self-awareness add humour to the story. William Darcy, gradually getting cured of his pride and developing his warm feelings and love for Lalita, meets and proposes to Lalita. It is after this proposal that Lalita finds out what William really thinks about India and the Bakhshis, and it is these findings that change her life forever leading both of them to a path of love and happiness.

Bride and Prejudice takes the audience from India, through London and on to Los Angeles. It is the all-singing, all-dancing extravaganza. Here the characters express their feelings of pleasure and happiness through songs and dance. Songs like "life is great, let us celebrate", "show me the way, take me to love" and the dances like Garba dance, Snake dance are enough to entertain the audience. It is a colourful Bollywood movie with the energy of some rousing dance numbers, bright saries, orange marigolds, magnificent elephants and the stunning Bollywood star, Aishwarya Rai herself. Aishwarya

Rai, who plays Lalita is one of the Bollywood's greatest stars. She is a former Miss India as well as Miss World whose striking beauty and acting talent have made her a Bollywood favourite. *Bride and Prejudice* is her first English language film. Her role in this film shows the increasing influence of Bollywood and Bollywood stars in western cinemas.

Gurinder Chadha has moved her focus from the Asians living in Britain to the depiction of Indian culture and the conflict between the traditional Indian life-style and the growing influence of western culture. The inter-racial relationship between the characters of Darcy and Lalita functions as a meeting of the East and the West and a meeting of cultures. The film remains true to Austen's novel and most of the original characters are instantly recognizable in their Indian counterparts. It is a love story for our multi-cultural world and at the same time it is a Bollywood movie written for the eastern and western audiences to enjoy.

Jane Austen describes the values of eighteenth century through *Pride and Prejudice* which shows women demoted to the secondary roles in society with respect to property and social responsibilities. Rather than being considered capable of owning property, women were subjected to the role of marrying for economic sustainability. In the very beginning of *Pride and Prejudice* it is said that, "It is a truth universally acknowledged, that a single man in possession of good fortune must be in want of a wife"[3]

However, a fundamental idea in the film is that a respectable marriage is an equal marriage in which man and woman are partners and is therefore based on friendship, love and esteem. In Austen's opinion, "a person should do anything rather than marry without affection"[4]

The paradigm of these ideas is the relationship between Elizabeth Bennet and Fitzwilliam Darcy in *Pride and Prejudice*. When Darcy insulted Elizabeth Bennet by telling her that he loved her despite "his sense of her inferiority" Elizabeth firmly told him that even though he was rich and powerful, " I had not known you a month before I felt you were the last man in the world whom I could ever be prevailed on to marry".[5]

Only after Darcy realized that he and Elizabeth were equals – equally intelligent, equally articulate, and equally proud and prejudiced – did Elizabeth give up her prejudice against him. Through her portrait of Elizabeth and Darcy, Austen made the reader believe in the possibility of love and identity and the chance for true love.

Lalita, in *Bride and Prejudice* too retains the independent qualities of the Austen heroine. Both *Pride and Prejudice* and *Bride and Prejudice* tell the same story, deal with an ethical view of life, family ties and show how cultural differences shape key scenes. Both the novel and the film have the same moral and healthy approach towards life that not wealth but happiness, fulfillment and satisfaction should be our aims in life. Both the stories overcame society's barriers by marrying for love instead of money or future well-being which Jane Austen considered being essential for a happy and fulfilling life, and which is relevant to women even today.

References :

1. Leavis. F.R., *The Great Tradition*, Penguin, Harmondsworth, Middlesex, 1962, p.16
2. *Bride and Prejudice* (2004, Script: Louise Crook, Director: Gurinder Chadha)
3. Austen. Jane, *Pride and Prejudice*, Trident Press International, 1902, U.S.A, p. 3
4. Ibid.. p. 31
5. Ibid.. p. 164

***

असीं हाँ वतनादे यार परदेसी

जड़ों की ओर लौटता पँजाबी सिनेमा

आशा रानी

निर्णायक रूप से हिंदी सिनेमा को प्रभावित करने के साथ ही पंजाब ने विशुद्ध रुप से अपनी भाषा और संस्कृति की कहानियाँ भी फिल्माई। पंजाबी फिल्म उद्योग लगभग सात–आठ दशकों से लगातार पंजाबी गाँव के घर आँगन और शहरों की संस्कृति को सिनेमा के पर्दे पर उतार रही है। शुरूआती दौर में एक वर्ष में भले ही कुछ एक फिल्मों का ही निर्माण हो पाता था लेकिन धीरे–धीरे पंजाबी सिनेमा ने अपनी पूरी पैठ जमायी। पंजाबी फिल्मों के प्रारंभिक दौर में बाबा फरीद, बुल्लेशाह, गुरू नानकदेव व गुरूओं की बाणी, वारिस शाह रचित प्रेम कथाएँ, विभाजन और देश भक्तों की कथाओं पर आधारित विषय चुने गए थे। पंजाबी जीवन और व्यवहार से जुड़ी इन फिल्मों में पंजाबी जनजीवन के विस्तृत रीति रिवाजों, रस्मों और रोजमर्रा की छोटी–छोटी मानवीय संवेदनाएं चित्रित हुई थीं। पंजाबी सिनेमा में जिन फिल्मों ने किसी न किसी रूप में बहुत शोहरत एवं ख्याति अर्जित की और पंजाबी फिल्म उद्योग को बुलंदी के शिखर तक पहुँचाने में अहम भूमिका निभाई है उनमें मुख्य हैं– लच्छी (राजेन्द्र शर्मा), गुड्डी (जुगल किशोर), ये धरती पंजाब दी (प्रेम चोपड़ा), जग्गा (दारा सिंह), नानक नाम जहाज है (पृथ्वीराज कपूर), नानक दुखिया सब संसार (दारा सिंह), दुल्ला भट्टी, मित्र प्यारे नूं, मोरनी, धरती साड्डी माँ, सवा लख से एक लड़ाऊँ, शहीदेआजम भगत सिंह, धरती वीरां दी, शौंकन मेले दी, उड़ीकां, लम्बडदारनी, मामला गड़बड़ है (गुरदास मान), वोहटी हत्थ सोटी, अणखीली मुटियार (दारा सिंह), बदला जट्टी दा (भावना भट्ट), यारी जट्ट दी, मावां ठंडियाँ छाँवां, करतार सिंह सराभा, गरू मान्यो ग्रंथ, सैदा जोगन, लाल चूड़ा, निम्मो, अंग्रेजन, बलबीरो भाबी, भुलेखा, बंटवारा, सरदारा करतारा, आसरा प्यार दा, तिल तिल दा लेखा, उच्चा दर बाबे नानक दा, पुत्त जट्टां दे, वंगार, सस्सी पुन्नू, सरपंच, यार यारां दे, बाबुल दा वेहड़ा, कौन दिलां दियां जाने, मौलाजट्ट, चन्न परदेसी, यमलाजट्ट, धी रानी, मढ़ी दा दीवा, दीवा बले सारी रात, बैसाखी, अणखीले सूरमे, मेहँदी शगना दी, मेरा पिंड, नसीबो, मिर्जा साहिबा, नैण प्रीतो दे, जैलदार, दो लच्छियां, मेला, प्रीतां दा पहरेदार, पुर्जा पुर्जा कट मरे, नदिओं विछडे नीर, माहौल ठीक है, शहीदे मोहब्बत ऊधमसिंह, शहीदे मोहब्बत

सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग, पीजीडीएवी (सांध्य), दिल्ली वि.वि., मो. ०९८७३७०९३९४

कुर्बानियां (गुरदास मान), तेरियां मोहब्बतां, इश्क न पुछे जात, दर्द परदेसां दे, जगीरा, खालसा मेरो रूप है खास, जी आयां नूं (हरभजन माण), मित्र प्यारे नूं हाल मुरीदां दा कहना, असां नूं माण वतनां दा (हरभजन मान), अड्डी टप्पा, पिंड दी कुड़ी, देस होया परदेस (गुरदास मान), मेहंदी वाले हथ, वारिस शाह (गुरदास मान), रब्ब ने बनाईयां जोड़ियां (बब्बू मान), दिल आपणा पंजाबी (हरभजन मान), मिट्टी वाजां मारदी (हरभजन मान), वतना तो दूर, जमीन जट्ट दी; लख परदेसी होईये, पंजाब, यारियां, मजाजण, चन्नो, अखियां उडीक दियां, अपनी बोली अपना देस (सरबजीत चीमा), मुंडे यू के दे, तेरा मेरा की रिश्ता (जिम्मी शेरगिल), जग जीन्दयां दे मेले (हरभजन मान), मिनी पंजाब (गुरदास मान), पुन्या दी रात, कबड्डी एक मोहब्बत, इक कुड़ी पंजाब दी (अमरिंदर गिल), छेवां दरिया (लखविंदर वडाली), मेल करा दे रब्बा (जिम्मी शेरगिल), पंजाबण (मिस पूजा), विरसा, एक सो ऑफ सोइल, इक कुड़ी पंजाब दी, खुशियां (जसबीर जस्सी), यार अन्मुल्ले, यारा ओ दिलदारा (हरभजन मान), धरती (जिम्मी शेरगिल), द लोइन ऑफ पंजाब, पावर कट (जसपाल भट्टी), साड्डी वखरी है शान, पिंकी मोगे वाली, अज्ज दे रांझे, यार परदेसी, जट्ट ते जूलियट (दिलजीत सिंह), देसी रोमिओस, रहे चड़दी कला पंजाब दी, यार परदेसी, कैरी ओन जट्टा (गिप्पी गरेवाल), आपां फेर मिलांगे (प्रेसी सिंह), रहमतां, मिर्जा द अनटोल्ड स्टोरी (गिप्पी), पता नहीं रब्ब केहड़ियां रंगा च राजी (नीरू बाजवा), लक्की दी अन लक्की स्टोरी (गिप्पी),जट्ट ते जूलियट २, तू मेरा २२ मैं तेरा २२ , सतरंगी पींग। इन फिल्मों में दारा सिंह, धर्मेन्द्र, सुनील दत्त, कंवलजीत, मेहर मित्तल, रजा मुराद, रमा विज, वीरेंद्र धोल, गुरदास मान, योगराज सिंह, दलजीत कौर, सतीश कौल, भावना भट्ट सरीखे अदाकारों ने काम किया है।

पिछले एक दशक में सबसे सफल रही पंजाबी फिल्में 'जी आयां नू', 'सां नूं माण वतनां दा', 'मिट्टी वाजां मारदी', 'देस होया परदेस' आदि ने पंजाबी जीवन के गुजरे हुए हर उस पल को रूपायित किया है जिसको पंजाबी जीवन का सरमाया माना जाता है। विदेशों में बसे लोगों के लिए पंजाबी घर–आँगन, गाँव–खेत आदि की यादें ही जिंदगी का सबसे बड़ा सरमाया है। ये फिल्में पंजाबी रिश्तों की खुशबू की बात करती है और पंजाबी सभ्याचार और बोली के प्रश्नों से जूझती है। ये पंजाब के खोए हुए प्रतिष्ठा के प्रतीकों की सार्थक खोज करती है। सब लोगों का एक साथ कोठे पे इकट्ठे सोना, खाना–पीना (किसी एक के घर के छाबे में से उठाकर मिल बाँटकर रोटियां खाना), ओढ़ना, नहाना–धोना खेतों के किनारे–किनारे गाते झूमते चलना ... ये सब छोटी छोटी बातें मन को बहुत ठण्डक पहुँचाती थी। आज इन खुशियों के हाशिए पर चले जाने से सब के दामन मानो खाली हो गए है। ये केवल एक भाव नहीं है बल्कि सामाजिक सरोकारों से वाबस्ता रखने वाला संपूर्ण सभ्याचार है, संस्कृति है। पिछले एक डेढ़ दशक में कुछ हटकर बनी इन फिल्मों ने पंजाबी सभ्याचार और जीवन की उस अनमोल धरोहर से फिर से ऐसा परिचय कराया है कि हर व्यक्ति के मन में उस जीवन के प्रति मोह पैदा हो गया है। हर एक संवेदनशील प्राणी जो आज की इस भौतिकवादी दुनिया की सच्चाईयों को देख पा रहा है, वो इस बनावटी दुनिया को छोड़कर फिर से उसी सादगी और सहज दुनिया में आना चाहता है।

जसपाल भट्टी की हास्य–व्यंग से भरपूर फिल्मों ने पंजाबी फिल्म संसार में बहुत नाम कमाया। गुरदास मान की 'देश होया परदेस' आतंकवाद के दौर में बेगुनाह युवा वर्ग के बेहद कष्टकारी दुखों की मार्मिक अभिव्यक्ति है जो अपने देश को छोड़ने के लिए मजबूर हो जाता है ।

संयुक्त परिवार की परम्परा पंजाबी जीवन की जिन्दजान रही है । बड़े–बड़े परिवार इकट्ठे विचरते थे, एक दूसरे की खुशियों और गमों को सब बराबर बांटते थे और परिवार का बड़ा बुजुर्ग सब को एकता के सूत्र में बांधे रखता था। पंजाबी फिल्मों ने ऐसे परिवारों को दिखाकर फिर से उन परिवारों के प्रति मोह पैदा किया है और उसे ''मुड मुड याद सतावे पिंड दियां गलियाँ दी'' कहने को मजबूर किया है। ये फिल्में दिखाती है कि किस तरह से पंजाबी अपनी जमीनों को बेचकर अपने खुशहाल भविष्य के लिए चले जाते हैं और फिर लौटकर वापस नहीं आ पाते। पंजाब किस तरह अपने युवाओं के बिना सूना हो रहा है; इस त्रासदी को भी इन फिल्मों ने बड़ी सफलता से उकेरा है। पारिवारिक क्लेश से पैदा हुई स्थितियों में बड़े बुजुर्गों की हालत कितनी दयनीय होती है उसका भी मार्मिक चित्रण है। इसके साथ–साथ आधुनिक समाज की विसंगतियों नशे, अपराध और भ्रष्टाचार को भी दिखाया गया है।

पंजाबी लड़की का अल्हड़पन ,उसकी सादगी, निश्छलता और बहादुरी को आज की पंजाबी फिल्मों ने नए सिरे से स्थापित किया है। पंजाबी स्त्रियाँ आज भी अपनी मासूमियत और पाक दिली के कारण सबके दिलों में अपना स्थान बनाती है। यूँ तो औरत का सजना संवरना हर एक सभ्याचार का अटूट हिस्सा है पर बात जब पंजाबी स्त्री के गहनों की हो तो उनके साथ बहुत सारी जुड़ी हुई प्रवृत्तियां भी उजागर होती हैं। पंजाब के तीज त्योहार, लोहड़ी, बैशाखी जैसे अवसरों पर स्त्री का सजना संवरना बहुत महत्त्व रखता था। गाँव की औरतों के चित्रण में उनके द्वारा पहने जाने वाले आभूषणों में सग्गी फुल्ल, पीपल पत्तियां, नथली, मछली, कोकातीली, सूफ की सल्वारें, रंगदार शालू और ओढ़नियाँ सब मिलकर बड़ा दिलकश नजारा पेश करती हैं। इन गहने–गट्टों से सजी–धजी लड़कियों का त्रिंजन में इकट्ठे होना और अपने चाव मल्हार दूसरों के साथ साझे करना, अपनी इच्छाओं का इजहार गिद्धे की बोलिओं में करना और अपने प्यार की मानसिक अवस्था का जिक्र आदि स्थितियों को इन फिल्मों ने बहुत खूबसूरती से चित्रित किया है। सरसों के पीले–पीले लहलहाते खेतों के बीच में हँसती, किकली खेलती, नाचती, कूदती, गाती, गिद्दे डालती पंजाबी मुटियार के मायके से ससुराल घर तक जाने की सारी क्रियाओं में एक लंबा सफर तय होता है। शादी के समय लड़के वालों की स्थिति कोई जंग जीतने वालों जैसी होती है लेकिन विदाई के समय भांगड़ा डालने वाला वो परिवार भी संवेदनशील हो जाता है और आँखों में आँसुओं को भर लाता है।

बचपन से ही हर पंजाबी के दिल पर राज करने वाले गीत के बोलों को आधार बनाकर बनी फिल्म ''असां नूं माण वतनां दा''(२००४) मनमोहन सिंह द्वारा निर्देशित और हरभजन मान, कंवलजीत, नीरू बाजवा और किम्मी अभिनीत ऐसी फिल्म है जिसने पंजाबी फिल्मों को एक नया मुकाम दिया। विदेशों में बसे पंजाबी लोग किस तरह से हर पल पंजाब को याद करके जीते है। हर पल ये निर्णय लेते हैं कि अपने जीवन के अंतिम वर्षों में वो अपने ही देश में जाकर

रहेगे। विदेश में रहते हुए भी अपने बच्चों में वही संस्कार भरने की कोशिश करते हैं और अपनी सभ्यता और संस्कृति को अपने मनों से एक पल भी नही बिसराते। निर्देशक यशराज की फिल्मों (दिलवाले दुल्हनिया ले जायेंगे, वीरजारा, परदेस) को छोड़कर पंजाबी युवाओं को बालीवुड ने भी कभी संजीदगी के साथ नही उकेरा। वहाँ पर या तो उन्हें बहुत शराबी, ऐब्बी, मस्ती में रहने वाले, अपने माँ–बाप की परवाह न करते और इंडिया को भला बुरा कहते दिखाया जाता है जबकि पंजाबी जीवन का ये बहुत कल्पित और अधूरा सच है। इसीलिए इन फिल्मों में बालीवुड के इस उपेक्षापूर्ण रवैये पर खीझ भी है। जब सब दोस्त मिलकर गोरे लोगों और भारतीय संस्कारों की तुलना कर रहे है तो उन्हें कैसे अपनी त्रिशंकु बनी स्थिति का बोध होता है; एक उद्धरण देखिए

मेहर : अंग्रेजों के पास हमारे जैसे संस्कार और पिछोकड नहीं है। इंसान विच हर वेले कोई न कोई तबदीली औन्दी रेह्वदी है। जे कोई चीज नही बदलदी तां ओह संस्कार आ, जिहड़ा सानूं आपने विरसे विच मिलदा है। पर मैनूं लगदा असीं हौली हौली आपणे विरसे नूं ही भुल्लदे जा रहे हां... मेरा ख्याल है कि इन्हां दी कोई खास एहमियत नहीं रही; क्यों बई?

दूसरा लड़का : हूँ आपां नू इक गल्ल क्लीअर कर लेनी पयेगी या तां आपने कल्चर नाल जुड़ जाईए या गोरयां वांगू हो जाइए... विच विचाले कद तक लटके रहांगे।

यही फिल्म राजनीति के दाव पेच को भी चित्रित करती है :

मेहर : तेरे मेरे वतनां दीयां खेडां तां सियासतदांना दियां चालां ने, मुहब्बत करन वालयाँ दा वतन तां ओहना दे दिलां विच बसदा ए।[8]

जैसे–जैसे उम्र बढ़ती जाती है वैसे–वैसे जिंदगी के मायने भी बदलते जाते हैं। वैसे मोह किसे नहीं होता! अपने वतन के साथ हर कोई अपने–अपने अंदर घुसकर रोता है। २२ साल कनाडा में बिताकर केवल पैसा कमाने का लक्ष्य पूरा करके आज कंवलजीत अपनी बूढ़ी माँ और भाई के पास लौटना चाहता है और अपनी औलाद से सिर्फ एक साल गाँव में बसने की दरखास्त करता है और बच्चे खुश–खुशी तैयार हो जाते हैं। इतना ही नहीं कनाडा से मिले पैसे, रुतबे, अधिकारों और सम्मान का भी पूरा सम्मान किया गया है क्योंकि उसने तो उन्हें पंजाब से भी ज्यादा दिया लेकिन फिर भी अपने वतन की मिट्टी उसे बार–बार अपनी ओर खींच रही है और ये खिंचाव बहुत ही सहज और स्वाभाविक है और यह भी सत्य है कि जिस जगह जाकर हम जीवन व्यतीत करते हैं उससे बहुत गहरा लगाव हो जाता है। इस फिल्म में शायद ही पंजाबी जीवन का कोई पक्ष छूटा होगा ... पंजाबी बोली से लेकर बड़े होते बच्चों में अपने गाँव और अपने देश के लिए अथाह प्रेम का भाव भरना, विदेश में रहते हुए भी बच्चों का पंजाबी के बहुत पुराने लोग संगीत जो लगभग हर एक दिल की धड़कन थे उनको अपनी रूह में उसी तरह उतारना जैसे कि वो अब भी उन्हीं गाँव की गलिओं में सुन रहे हों, पंजाब के उन खुले–डुले खेतों से छूटने का दर्द, बूढ़ी माँ का अपने परदेस में रह रहे बच्चों के लिए अथाह प्यार और ममत्व (जित्थे रहे रब्ब ओह्नु खुश रक्खे) और फिर माँ और बेटे का वर्षों बाद मिलन ऐसा मार्मिक पल है जिसे सिर्फ महसूस ही किया जा सकता है, पंजाबी बेटे के जवान होने पर किस तरह से वो बाप के

साथ मिलकर एक अद्भुत मित्रता युक्त प्रेम करता है, एक पंजाबी बाप का विदेश में रहकर भी अपनी बेटी के लिए अपने कोमल जज़्बातों का रूपायन (कंगलजीत... धेटियां ता साड़े सर दा ताज हुंदिया ने। बस कोई बेगाना हत्थ साड़ी पग न ला देवे), पति–पत्नी के संबंधों की मिठास, बंटवारे के समय माँ–बाप को भी बांटने की कोशिश, पंजाब के युवावर्ग के विदेश में जाते हुए ढेर सारी मुश्किलात और अपने कठिन परिश्रम और मेहनत से वहाँ जाकर अपने लिए सारी भौतिक सुविधाओं को जुटाना और अपना स्थान बनाना इन सब के मार्मिक चित्रण के साथ–साथ जिस गाँव में आने के लिए वे सोचते हैं उस समाज की बदली हुई नीयत का भी बहुत सफल चित्रांकन किया है। विदेश से आए पैसे और साक्षात् विदेश से लौटे लोगों के सम्मान में जो अंतर होता है उसका भी हृदयस्पर्शी चित्रण है। जैसे–जैसे उम्र बढ़ती जाती है वैसे–वैसे जिंदगी के मायने भी बदलते जाते हैं। पारिवारिक अंतर्विरोधों के होते हुए भी उन स्थितियों को सँभालने के लिए एक नयी दिशादृष्टि देती इन फिल्मों में अंत तक आते–आते सब कुछ सामान्य हो जाता है जिससे पंजाब की खो रही विरासत को बचाए रखने के इस उपक्रम में ये फिल्म अपना संदेश छोड़ने में बहुत सफल होती है और आज के युवावर्ग के लिए सच में बहुत बड़ी प्रेरणा बनती है।

ऐसी फिल्मों का सबसे बड़ा पक्ष उसका संगीत है। पूरे पंजाबी विरसे को समझने के लिए इन फिल्मों में जिस खूबसूरती से माहिया, वारां, भांगड़ा और गिद्दे का प्रयोग किया जा रहा है, वह अद्भुत और विलक्षण है। गीतों के बोलों ने और गायकों की रूह को छूती आवाजों ने इन फिल्मों को बहुत सफल बनाया है। एक छोटा सा उद्धरण देखिए :

मैं कुड़ी हाँ देस पंजाब दी, मेरे मुख ते वरदा नूर,
मैनूं जोबन चढ़्या रज्जके, ताइओं कहन बहिश्तां दी हूर
जदों गिद्दे दे विच नचदी, मैनूं चढ़दा बड़ा सरूर'

पंजाबी सिनेमा को उसकी गायकी ने बहुत लोकप्रिय बनाया। पंजाबी गायकी को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का बनाने में पंजाब के युवा कलाकारों और निर्देशकों (विशेष रूप से गुरुदास मान, हरभजन मान, जसवीर जस्सी, बब्बू मान, अमरिंदर गिल, मनमोहन सिंह (गीतकार), हंसराज, मनमोहन वारिस आदि का बहुत बड़ा योगदान है। पंजाबी लोकगायकी के सरताज रह चुके यमला जट्ट, आलम लुहार, सुरिंदर कौर, प्रकाश कौर, जगमोहन कौर, सरबजीत, नरिंदर बीबा, मोहम्मद सिद्दकी, कुलदीप माणक, सुरिंदर छिंदा आदि गायकों और गीतकारों में नंद नूरपुरी और शिवकुमार बटालवी की परम्परा को समृद्ध किया है। पंजाबी माँ बोली और सिनेमा के मसीहा बन कर आए इन सभी कलाकारों की इस बात पर प्रशंसा करनी होगी कि अपने अब तक के फिल्मी सफर में उन्होंने बहुत ही महत्त्वपूर्ण और सार्थक फिल्में बनायी हैं। बाजार के दौर का हिस्सा होने के बावजूद उन्होंने अपने को कभी फार्मूला गायकी और सिनेमा का हिस्सा नहीं बनने दिया। पंजाबी में अपनी गहरी जड़ें स्थापित कर रहे पश्चिमी पॉप के रुझान को बिल्कुल विसरा देने वाले इन अदाकारों ने अपनी मेहनत और काबिलियत के बल पर ऐसे रास्तों को चुना है जो कठिन होने के साथ–साथ बहुत ही जोखिमपूर्ण हैं। ऐसी गायकी पंजाबी विरासत की अमीरी को दर्शाती

है। अपनी माँ बोली पंजाबी और पंजाबी सभ्याचार को जी जान से प्यार करने वाले हरभजन ने अपनी सभी फिल्मों में सबके मन पर एक गहरी छाप छोड़ी है। उसके द्वारा बनायी जा रही नयी फिल्म *सतरंगी पींग–२* में पंजाबी विरसे को जीवंत बनाने के साथ–साथ टूट रहे सामाजिक रिश्तों की गाथा को भावनात्मक ढंग से बयाँ करेगी। इस फिल्म का हर गीत पंजाबी विरसे की रंगीली बातें कर पंजाबी रीति रिवाजों को हमेशा माँ की तरह सत्कार देने वाले, मोह से भरे रिश्तों का अपनत्व बयाँ करने के साथ–साथ अपनी असल जड़ों से जुड़े रहने का संदेश भी आज की नई पीढ़ी को देगी। फिल्म में ऐसे पुरातन विचारों का सुमेल भी बड़ी खूबसूरती से किया गया है जिसे पूरा परिवार एक साथ बैठकर उसका आनंद मान सके। इस फिल्म ने पंजाबी सभ्याचार की बहुत सारी गुम हुई यादों को ताजा किया है। कहना न होगा कि देश–विदेश में पंजाबियत का रुतबा बुलंद करने में उसकी फिल्में सच में बहुमूल्य योगदान दे रही हैं। पंजाबी फिल्म उद्योग आज अपने पूरे विकास पर है। आज १५ करोड़ के बजट तक की फिल्में बनायी जा रही हैं और देश–विदेश में बालीवुड की फिल्मों (संजय दत्त की 'लम्हे' और सलमान खान की फिल्मों) के साथ रिलीज होकर उनसे टक्कर भी ले रही हैं। एक दिन में रिलीज होने पर कई फिल्मों (जी आया नूं, जट्ट ते जूलियट, कैरी आन जट्टा, मिट्टी वाजां मारदी, यार अनमुल्ले, असां नूं मान वतना दा) ने हिंदी फिल्मों को भी पीछे छोड़ा है और बॉक्स ऑफिस पर सुपरहिट रही और एक इतिहास रचाया है। भव्य पैमाने पर अपना सर्वश्रेष्ठ प्रयास और समर्पण देती इन फिल्मों में अपनी मातृभूमि और मातृभाषा के लिए अगाध स्नेह और प्यार है। दारा सिंह व वीरेंदर ढोल जैसे लोगों द्वारा बनाए इतिहास में इजाफा है। पंजाबी फिल्मों की इस सफलता और अपने सरमाए की ओर लौटने का तहेदिल से स्वागत होना चाहिए और अपनी जड़ों की ओर लौटते इस सिनेमा से इसी तरह की फिल्मों के आने की उम्मीद की जानी चाहिए। निश्चित रूप से पंजाबी सिनेमा का भविष्य बहुत सुखद और खुशहाल है।

आज जब सिनेमा अपने सौ वर्ष पूरे कर रहा है उस में पूरे भारत के योगदान को देखना भी बहुत जरूरी है। यह बड़ी विडंबनापूर्ण स्थिति है कि हिंदी रंगमंच की बात करते हुए बड़ी कुशलता से बंगाल और मराठी लोगों के ही योगदान को सर्वोपरि मान लिया जाता है और उसी रंगमंच का बीज डालने वाले पृथ्वीराज कपूर जो कि एक पंजाबी थे, के योगदान को सिरे से खारिज कर दिया जाता है जिसने पहली बार इतना बड़ा जोखिम उठाते हुए कंपनियों की नौकरी छोड़कर स्वतंत्र रूप से फिल्में बनानी न केवल शुरू की बल्कि हिंदी फिल्मों में स्टारडम की शुरुआत की। १९३१ में बनी पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' के हीरो पृथ्वीराज कपूर ने दूसरा जोखिम ये उठाया कि गले तक फिल्मों में डूबे होने के बावजूद थिएटर करने का जिम्मा लिया। जाहिर है कि पृथ्वीराज कपूर के इस ऐतिहासिक काम का जिक्र होना चाहिए था लेकिन आधुनिक भारतीय रंगमंच का जन्मदाता होने के बावजूद भी उनके योगदान का मूल्यांकन नहीं हो पाया। किसी भी चर्चा, परिचर्चा और लेखों में उनका नाम गायब है। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ जब मैंने विनोद भारद्वाज की लगभग ५२० पन्नों की पुस्तक 'सिनेमा कल, आज, कल' पढ़ी तो पाया कि उसमें हिंदी सिनेमा को स्थापित करने वाले किसी भी पंजाबी का जिक्र तक नहीं है और सारी

किताब बंगाली और मराठी या मुंबई के हिंदी फिल्मों को ही समर्पित है। इस चुभने वाले पक्षपात का एक कारण शायद यह हो कि पंजाबी लोगों ने इतिहास बनाया लेकिन उनका संभाल नहीं किया है। योगराज जी की पुस्तक 'रंगमंच दा कोहेनूर : पृथ्वीराज कपूर' ने जरूर पृथ्वीराज कपूर के संबध में बहुत से महत्त्वपूर्ण तथ्यों को प्रस्तुत किया है।[3]

पंजाबी सिनेमा अलग स्वभाव और मानवी संवेदनाओं से लबरेज विलक्षण किस्म की सांस्कृतिक विचारधारा व पंजाबी प्रेम कथाओं का जीवंत आख्यान है। पंजाबी सिनेमा इसके तई दूर परदेस में आ बसे पंजाबियों को अपने देश का संदेश सुना जाती है। फिल्मों में गाँव में बसे घर की मुंडेर पर कागा को बोलते सुनता है तो उस इंतजार का संदेश आज भी हर पंजाबी को उतनी ही बेचैनी, दर्द और तल्खी का एहसास कराती है, उसे कौए के कुरलाने की ध्वनि घर लौट आने के लिए बार–बार पुकारती हुई लगती है जिस में उस पूरे परिवार और गाँव के संस्कार की जड़े बहुत गहरे से समाई हुई है...

चल मन उस पिंड चलिए ,जिस पिंड तों हाँ आए,
जिस पिंड दी इक घर दी छत ते, बैठा काँव कुरलाये[4]

सन्दर्भ :

१. पंजाबी फिल्म, ''असां नूं माण वतनां दा'', निर्देशक : मनमोहन सिंह
२. पंजाबी फिल्म, ''असां नूं माण वतनां दा'' गीतकार : बाबूसिंह मान
३. रंगमंच दा नूर : पृथ्वीराज कपूर – योगराज, पंजाब अकादमी, दिल्ली, २०१०, पृ. ९
४. सभ्याचार के सूक्ष्म एहसासों की निशानदेही : ''पिंड आवजां मारदा है''– गुरनैब सिंह मंगानियां, पत्रिका चर्चा, पृ. ४४–४५

...

पंजाबी राष्ट्रीयता और सिनेमा

मनमीत कौर

आजादी से पहले पंजाबी सिनेमा भारत और पाकिस्तान के साझे सिनेमा के रूप में जाना जाता था। बटवारे के बाद पंजाब पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान) और पूर्वी पंजाब (हिंदुस्तान) अलग अस्तित्व में आ गये। विभाजन की भयावह त्रासदियों को सर्वाधिक पंजाब ने ही झेला है। विभाजन का प्रभाव पंजाबी सिनेमा पर भी पड़ा क्योंकि पंजाबी फिल्मों में काम करने वाले ज्यादातर कलाकार, निर्माता, निर्देशक, गायक आदि मुस्लिम ही थे जो विभाजन के दौरान पाकिस्तान चले गये। उन्होंने अपनी अलग फिल्म इंडस्ट्री बना ली 'लालीवुड' नाम से। पंजाब का सिनेमा इसी पीड़ा से गुजरते हुए आज पंजाबी अस्मिता और उदार राष्ट्रीयता को संजोता हुआ 'पंजवुड' नाम से प्रसिद्ध है।

अंग्रेजों ने हम पर काफी समय तक राज किया और जाते समय भारत को कंगाल कर गए। पहले बंगलादेश और फिर पाकिस्तान के नाम से भारत के टुकड़े कर गए। अंग्रेजों ने जो आग लगाई वह अभी तक नहीं बुझी है। पंजाबी फिल्म वाहगा, जो २००७ में बनी, युद्ध के खिलाफ आवाज उठाती है। इस फिल्म का नाम भारत–पाक के बीच सीमा क्षेत्र वाहगा बॉर्डर के नाम पर रखा गया है। फिल्म में युद्ध की निरर्थकता दिखाते हुए बताया गया है कि युद्ध की क्रूरताएं सबसे ज्यादा निर्दोष स्त्रियों को ही तबाह कर देती है। देश के प्रति अदम्य प्रेम से भरी यह फिल्मी कथा उदार मानवतावाद को पुष्ट करती है। इससे पहले ही वर्ष २००३ में आई फिल्म 'हवाएं' एक गंभीर राजनीतिक–सांस्कृतिक बहस खड़ा करती है। यह फिल्म इंदिरा गांधी द्वारा अमृतसर के स्वर्ण मंदिर में कराए गए 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' के बाद की हुई उनकी हत्या के उपरांत जो देशभर में सन् १९८४ में दंगे हुए, उसी पर आधारित है। यह फिल्म उस दौर में हो रही घटनाओं की सच्ची तस्वीर पेश करती है। फिल्म का नायक सरबजीत सिंह दिल्ली विश्वविद्यालय का छात्र है, जिसका पूरा परिवार दंगे की भेंट चढ़ जाता है। सरबजीत सिंह विभिन्न हालातों से गुजरता हुआ उग्रवादी बन जाता है और अंततः मारा जाता है। फिल्म की थीम है, 'कुछ हवाएं बहती नहीं, बल्कि सबकुछ उजाड़ कर ले जाती है।' ८४ के दंगों में जगह–जगह सिक्ख विरोधी नारे लगाए गए– 'खून के बदले खून'। पूरे देश में यहाँ तक कि राजधानी दिल्ली में भी सभी सिक्ख परिवारों को ढूंढ–ढूंढ कर मार दिया गया, उनकी स्त्रियों के साथ जबरदस्ती की गई, चारों ओर

शोध छात्रा, हिंदी विभाग, विश्वभारती, शांतिनिकेतन, प. बंगाल

दहशत का माहौल था। इसी बीच कुछ नेता अपनी स्वार्थपूर्ति में लगे रहे तथा इन दंगा करने वालों को अपनी शरण दी। ८४ के इन दंगों के बाद पंजाब में उग्रवाद ने जोर पकड़ा। ये उग्रवादी रात में किसी के भी घर में घुस जाते, खाते–पीते और चले जाते। बाद में पुलिस अपनी खानापूर्ति के लिए उन गरीब किसानों को तंग करती। पुलिस उन्हें ही उग्रवादी या उनसे मिली हुई बताती। उनसे मारपीट करती तथा उनके परिवार वालों को भी तंग करती। ये पीड़ित वास्तव में उग्रवादी नहीं थे, बल्कि हालातो ने उन्हें उग्रवादी बनने पर मजबूर कर दिया। इन्हीं स्वार्थी लोगों में राजनीतिक महत्वाकांक्षा जगी और अलग खालिस्तान की मांग खड़ी कर दी गई। इसमें नेताओं और पुलिसकर्मियों की भी शह थी। आइ.एस.आइ. द्वारा अलगाववादियों को हथियार दिलवाना, इन पर पानी की तरह पैसे खर्च करना, ट्रेनिंग कैंप चलवाना आदि की चर्चा इस फिल्म में की गई है। खालिस्तान की मांग दरअसल भोलेभाले लोगों को बरगलाने की कोशिश मात्र थी। फिल्म का नायक अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है : ''कौन सा खालिस्तान! ये आई.एस.आई. के एजेंट खालिस्तान के नाम पर कश्मीर हथियाना चाहते हैं, विदेशों की खैरात पर पलने वाले ये लोग किसी को धोखा या मौत के सिवा दे भी क्या सकते हैं।'' इस प्रकार ८४' के दंगों की भयवाहता दिखाना, दंगों के बाद पंजाब में उग्रवाद के जन्म और स्वार्थी लोगों द्वारा खालिस्तान की मांग की सच्चाई को सामने लाना ही इस फिल्म का उद्देश्य था। फिल्म के अंत में समाज में रहने वाले प्रत्येक वर्ग के लोगों से कुछ प्रश्न किए गए, जो इस प्रकार हैं : ''कौन थे ये लोग! आतंकवादी, गुमराह या गुनहगार? ये जीना नहीं चाहते थे या उन्हें जीने नहीं दिया गया? कौन लेकर गया उन्हें हिंसा के रास्ते पर? आतंक के उस खौफनाक दौर में ६५ हजार से ज्यादा मरने वाले लोग लावारिस तो नहीं थे? लाशों को जला देने से या दरिया में बहा देने से उनका वजूद खतम तो नहीं हो जाता?'' फिल्म के अंत में यह भी कहा गया कि 'यह सच है कि जख्म कुरेदने से कुछ हासिल नहीं होता। मगर गलतियां दुहराने के नतीजे और भी भयंकर हो सकते हैं।' अंत में एक आह्वान है कि 'आइए! आज हम संकल्प लें कि दुबारा ऐसी गलतियां न करें जिनसे कहीं भी किसी आतंकवाद का जन्म हो। ईश्वर न करे, ऐसी हवाएं दुबारा चलें।' यह फिल्म अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण पंजाबी सिनेमा में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

इसी के बाद सन् २००४ में आयी फिल्म 'देस हो या परदेस' में १९८५ के बाद के पंजाब के हालातों को दिखाया गया है। सन् १९८४ के दंगों के बाद पंजाब में काफी समय तक अशांति का माहौल था। आतंकवादी हिन्दू–सिक्ख एकता का प्रचार करने के सख्त खिलाफ थे। शाम होते ही पंजाब की सड़कें खूनी हो जाया करती थीं। चारों ओर आतंकवाद का जोर था। पुलिस हर किसी को शक की निगाह से देखती थी। आतंक के इस साये से बचने के लिए लोग विदेशों की ओर पलायन करने लगे। यह फिल्म 'गुरशान' नामक किसान की कहानी है जो पुलिस के आतंक का शिकार होता है और जबरदस्ती आतंकवादी बताकर उनके द्वारा मार दिया जाता है। आगे २००८ में आई फिल्म 'नानक नाम चढ़दी कला' में नानक के बहाने संकीर्ण राष्ट्रवाद की जगह एक व्यापक राष्ट्रवाद की जमीन तैयार की गई। फिल्म बेहद सर्जनात्मक शिल्प में देशभक्ति और मानवीय मूल्यों को स्थापित कर जाती है। नानक नाम चढ़दी कला, तेरे पाणे सर्वत

दा भला कहकर सिख गुरू नानक देव जी की महत्ता स्थापित की गई है कि गुरू नानक जी का नाम सारे संसार में प्रकाशमान हो तथा उनकी छत्रछाया में सभी का भला हो। यह फिल्म हमें बताती है कि हम अपने बच्चों को अच्छे संस्कार दें ताकि वे अपने माता–पिता एवं बुजुर्गों का सम्मान करें। सुख हो या दुख अपने ईश्वर को कभी न भूलें, अपनी सिक्खी एवं संस्कारों से जुड़े रहें तथा नशे से दूर रहें। यहां सुधारवाद और आदर्शवाद का अतिरेक है लेकिन अतीत की घृणा और वैमनस्यता के बरक्स देखने पर यह खटकती नहीं, स्वाभाविक लगती है। भारत पर जब भी संकट आया है, सिक्ख कभी पीछे नहीं हटे, भले वह औरंगजेब का दौर हो या जालियांवाला बाग कांड। लोगों के हक के लिए औरंगजेब की सेना को सीधी टक्कर देने वाले सिक्ख ही थे। उनके अपने अंग–अंग कट गए, आरों से चीरे गए, खोपरियां उतरवा दी गईं किंतु जुल्म के आगे अपना शीश नहीं झुकाया। जालियांवाला बाग कांड में भी शहीदी पाने वाले अधिकांश लोग सिक्ख ही थे। यहां तक कि आज भी हमारे देश की सीमा पर पहरे देने वाले अधिकांश सिक्ख ही हैं। फिल्म उक्त दृष्टांतों के माध्यम से जोर देकर बताती है कि असली सिक्खी यही है कि वह भारत की अखंडता और एकता के लिए स्वयं को कुरबान करने के लिए भी तत्पर रहे।

वैमनस्यता और घृणा के खिलाफ प्रेम एक सर्जनात्मक मूल्य है। सूफी संत वारिस शाह के जीवन पर इसी नाम से बनी फिल्म इसी मूल्य को धारण करती है। वारिस शाह प्रेम की उदात्तता के प्रतिनिधि चरित्र बनते हैं। तमाम विरोधों और दुश्वारियों को सहते हुए वे अंततः अपनी प्रेमानुभूति को 'हीर' नामक रचना में हमेशा के लिए अभिव्यक्त करते हैं। वे प्रेम को अंतिम सत्य मानते हुए कहते हैं :

''जो कुछ बीज सन एस जहान उते/ ओह लोज़ कयामत लैणगे नी/
बदले मिलणगे करनीयाँ–भरनीयाँ दे/ ते ऐ माल ना मैं हत्थी देणगे नी/
दुनियादार ना रहेगा कोई ऐत्थे/ आशिक फक्कर ही साबत रैणगे नी/
आपो आप मालूम कर लैंय सब्बे/ जदों हश्र नू मामले पैणगे नी/

इसी तरह हीर–रांझा, सोणी–महिवाल, मिरजा–सायबां, शशि–पून्नो, लैला–मजनूं की प्रेमकथाओं को आधार बनाकर पंजाबी सिने–जगत में ढेरों फिल्में बनीं। ये सभी फिल्में अंततः खालिस्तान की मांग के बहाने उठे उग्र राष्ट्रवाद की मांग को बेहद सर्जनात्मक तरीके से प्रत्याख्यायित करते हुए एक व्यापक जीवन दर्शन का मूल्य मुहैया कराती हैं।

•••

कन्नड़ सिनेमा में स्त्री की व्यथा—कथा

एम. वासंती

कन्नड़ सिनेमा ने स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर आज तक अपने विविध विषयों और सरोकारों से ना केवल कर्नाटक प्रदेश को प्रभावित किया है, बल्कि देश—विदेशों में भी अपना महत्व दिखाया है। प्रारंभ में कन्नड़ फिल्में भक्तिप्रधान रहीं। पुन: सामाजिक एवं पारिवारिक समस्याओं को केन्द्र में रखकर बनीं। सामाजिक सरोकारों का फिल्मों में प्रवेश हुआ नहीं कि रूढ़िप्रिय कन्नड़ समाज में हलचल सी मच गई। सिनेमा ने नारी पर होने वाले जुल्म और अन्याय को अपने यथार्थ चित्रण का सबसे मुखर प्रतिदर्श बनाया।

नारी सुनिदरे मारी एक ऐसी फिल्म है जिसमें एक शिक्षित नारी पर पुरुषों द्वारा सामूहिक अत्याचार होता है। फिल्म में यह दिखाया गया है कि आरंभिक कन्नड़ समाज एक स्त्री के शिक्षा ग्रहण करने के भी खिलाफ था। फिल्म में नायिका अंतत: अत्याचारियों पर विजय प्राप्त करती है। नारी पर होने वाले अत्याचारों को केन्द्र में रखकर सैकड़ों फिल्में बनीं। *बुपती रंगा, चक्रतीर्थ, ओंदु हेण्णिन कथे, हेण्णिना कूगु, नागरा हावु, सिपाई रामु, न्याय एल्लिदे, बेलिसुव मोडगलु, हेडकलु गुड्डदा मेले, शरपंजरा, गेज्जे पूजे, मितिलेय सितेयरू, बेंकियल्लि हरलिदा हुऊ* जैसी फिल्मों ने नारी की पीड़ा, उत्पीड़न और प्रतिशोध को बखूबी पर्दे पर उतारा गया है।

श्वेत—श्याम फिल्मों के समय में *बुपती रंगा* अद्‌भुत फिल्म है। इसमें एक जमींदार के द्वारा कमजोर नारी पर किये जाने वाले अत्याचार का चित्रण है। नायिका उस अन्यायी जमींदार के वास्तविक रूप को बेनकाब करती है। नारी की मर्यादा को कलंकित करने वाले तथाकथित धर्मात्मा की पाप—कथा वह सबके सामने रखती है। अन्याय के विरूद्ध साहस के साथ खड़े होने का यह स्त्री—प्रतिदर्श उस समय के लिहाज से क्रांतिकारी था।

चक्रतीर्थ फिल्म में एक गूँगी स्त्री की पीड़ा मुखर है तो हेण्णिना कथे में रिश्तों की मर्यादा के तार—तार हो जाने की पीड़ा के स्त्री के दैहिक शोषण के माध्यम से दिखाई गई है। इसी प्रकार *हेण्णिना कूगू* में सामूहिक बलात्कार से पीड़ित स्त्री अवसाद से निकलकर कानूनी प्रक्रिया के माध्यम से प्रतिशोध लेती है। स्त्री प्रतिरोध करती है, इन फिल्मों का यह केन्द्रीय भाव रहा है।

नागरा हाऊ फिल्म में प्रेम कर रही स्त्री का कुल—मर्यादा के नाम पर अन्यत्र विवाह कर दिया जाता है। पति शराबी और नशेड़ी है और पत्नी को पर मर्दों के साथ जाने को विवश कर देता है। यह फिल्म दिखाती है कि प्रेम और सामाजिक मर्यादा के बीच स्त्री की अस्मिता

सहायक प्राध्यापिका, हिन्दी अध्ययन विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय, कर्नाटक, मो. ०९९९१३६८६७०

बर्बाद की जाती रही है।

सिपाई रामु फिल्म में देश की रक्षा करने वाले योद्धा की बहन पर उसी गांव के साहूकार द्वारा अत्याचार किया जाता है। सिपाही फौज छोड़कर डाकू बन जाता है। यह फिल्म राष्ट्र और व्यक्ति के जटिल सवाल को बेहद मार्मिक ढंग से सामने रखती है।

न्याय हेल्लिदे में तीन प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा एक सामान्य परिवार पर जुल्म होता है। उसमें भी एक युवती की इज्जत लूट ली जाती है। उन तीनों पाखंडियों को अपने तरीके से दंड देकर नारी समाज के गौरव की रक्षा करती है।

बलिसुव मोडगलु फिल्म में एक वकील और युवती के प्रेमकथा के बीच नैतिक–अनैतिक के सवाल को विमर्श बिन्दु बनाया गया है। बलात्कार की शिकार युवती को उसका प्रेमी वकील अंततः अपना लेता है। देह की परिधि के बाहर स्त्री–अस्मिता के प्रति पुरुष सम्मान को प्रकट करती यह फिल्म विचारोत्तेजक है। ***शरपंजरा*** फिल्म में स्त्री जाति पर थोपे गये नैतिकता के बोध और उसके उल्लंघन पर स्वयं की अस्मिता होम कर देने को अभिशप्त नारी की व्यथा–कथा है। विवाहपूर्व अपने प्रेमसंबंध को लेकर नायिका विवाहोपरांत भी मुक्त नहीं हो पाती। अपराधबोध से ग्रस्त होकर अंततः वह पागल हो जाती है। जिस तथाकथित सज्जन पति के आगे वह स्वयं को कलंकिनी पाती है, वही पति दूसरी स्त्री के साथ बेलौस संबंध रखे हुए था। फिल्म में वह पुनः पागल होती दिखाई जाती है। लेकिन यह पागलपन अपराधबोध से नहीं बल्कि स्त्री–जाति के निरंतर अपमान से उपजा हुआ था।

देवदासी प्रथा कर्नाटक राज्य के लिए अभिशाप रही है। धर्म के ठेकेदारों ने स्त्री को देवता की दासी के मिथ्या भ्रम में फांसकर अंततः भोग की सामग्री ही बनाया है। फिल्म ***गेज्जे पूजे*** की नायिका देवदासी बनने से इंकार करती है। वह परंपरा का विरोध करते हुए अपने प्रेमी से ही विवाह करना चाहती है। ऐसा संभव न होते देखकर देवदासी के रूप में एक तथाकथित आध्यात्मिक वेश्या बनने के बजाय वह आत्महत्या कर लेती है।

कुल मिलाकर कन्नड़ सिनेमा में जो स्त्री है वह भले ही एक सशक्त विरोध करती स्त्री नहीं है फिर भी, मृत्यु को स्वीकार करने का उसका विकल्प व्यवस्था को मृत्यु से भी भयावह तो जरूर ही सिद्ध कर देता है।

•••

पृष्ठ १३३ का शेष...

ऑस्कर में...

वर्ष	फिल्म	भाषा	निर्देशक
१९९७	गुरु	मलयालम	राजीव अंचल
१९९८	जीन्स	तमिल	एस. शंकर
१९९९	अर्थ	हिन्दी	दीपा मेहता
२०००	हे राम	तमिल/हिन्दी	कमल हासन
२००१	लगान	हिन्दी/इंग्लिश	आशुतोष गोवरिकर
२००२	देवदास	हिन्दी	संजय लीला भंसाली
२००४	श्वास	मराठी	संदीप सावंत
२००५	पहेली	हिन्दी	अमोल पालेकर
२००६	रंग दे बसंती	हिन्दी	ओमप्रकाश मेहरा
२००७	एकलव्य : दी रॉयल गॉर्ड	हिन्दी	विधु विनोद चोपड़ा
२००८	तारे जमीन पर	हिन्दी	आमिर खान
२००९	हरिश्चन्द्राची फैक्टरी	मराठी	परेश मोकाशी
२०१०	पीपली लाइव	हिन्दी	अनुषा रिजवी
२०११	अदामिन्ते मकण अबु	मलयालम	सलीम अहमद
२०१२	बर्फी	हिन्दी	अनुराग बसु

...

माटी से जुड़कर नए गीत रचने होंगे...

(शारदा सिन्हा* से सीमा सिंह** व नीलांबुज सिंह*** की बातचीत)

'गैंग ऑफ वासेपुर' में तार बिजुरी से पतले पिया... गाकर अपनी खांटी भोजपुरी गायकी से पुन: ध्यान खींचने वाली ख्यात भोजपुरी गायिका आदरणीया शारदा सिन्हा से बातचीत करना एक पूरे युग से रू–ब–रू होना था। उन्होंने भोजपुरी फिल्मों की दशा, दिशा पर गंभीरता से बातें रखीं। संविधान की आठवीं अनुसूचि में भोजपुरी के प्रवेश और उससे जुड़ी भोजपुरी अस्मिता के सवाल के साथ–साथ वे भोजपुरी की समृद्धि के लिए ईमानदार प्रयास किये जाने पर जोर देती हैं।

सीमा : *पुराने हिंदी फिल्मी गीतकार, भोजपुरी फिल्मी गीतकार भी हुआ करते थे, जैसे–मजरूह सुल्तान पुरी, हसरत जयपुरी, शैलेंद्र। आजकल यह रुझान कम हुआ है। क्या आप इसके कारण की व्याख्या कर सकती हैं?*

शारदा जी : पहले सरलतम, सारगर्भित गीत लिखे जाते थे। समाज में जो व्यवहरित होता था वही उसमें चित्रित भी होता था। अब के गीतकार उस श्रेणी के नहीं है। लेकिन वे कोशिश करते है कि बीच–बीच में अच्छे गीत आ सके। एक–आध गीत जरूर 'अप टू दी मार्क' आ जाते है, साथ ही चल भी जाते है; लेकिन ये गीत धुनों की वजह या आवाज की वजह से चल जाते है। लेखन की वजह से कितने गाने चलते हैं, यह सोचने की बात है। तकनीकी विकास पिछले कुछ वर्षों मे तेजी से हुआ है। जिसका प्रभाव इनके फिल्मांकन पर भी दिखता है। उसकी सुविधा ज्यादा इन गीतों की रिकॉर्डिंग और फिल्मांकन को मिली है। लेकिन लेखन ज्यादा विकसित नहीं है।

सीमा : *पुराने भोजपुरी गीत अपनी लोकधर्मिता के लिए पहचाने जाते थे। आजकल इसमें भी पॉप, रॉक और जैज की घुसपैठ हो गई है। इससे कुछ फर्क पड़ा है क्या?*

शारदा जी : निश्चित रूप से पॉप, जैज आदि का प्रभाव भोजपुरी गीतों में देखा जा रहा है। जैस हॉलीवुड से बॉलीवुड, और बॉलीवुड से पॉलीवुड। ये असर तो पड़ता ही है। जहां तक जैज और पॉप की बात है, फिल्मों में रहने वाले लोग गानों को जल्दी पॉपुलर करने के लिए इनका प्रयोग

*रोड नं. ६, राजेन्द्रनगर, पटना, बिहार – १६

करते है। यह बॉलीवुड में पॉपुलर हो रहा है, इसलिए इसकी नकल भोजपुरी गीतों में भी हो रही है। बिहार से जो लोग बाहर गये है, वो बाहर की चीजों को यहां लाते है, उसका वरण करते है। जितनी बाहर की चीजें यहाँ आ रही है, उतनी हमारी चीजें बाहर नहीं जा रही है। इसलिए जैज और पॉप तो ठीक है लेकिन भोजपुरी की अपनी लोकप्रियता की बात जो आपने कही है, वह दिख नहीं रही। भोजपुरी की अपनी असल पहचान जिसके लिए वह जानी जाती थी, धुने, गीत– उनमे बहुत गुंजाइश है, जिसमें अच्छा काम किया जा सकता है। ये जरूर है की केवल परंपरागत धुनों के सहारे ही फिल्म नहीं चल पायेगी, क्योंकि जो आज का जमाना है उसके अनुसार उसमें बदलाव की जरूरत है। बदलाव की हमेशा ही जरूरत पड़ती है, लेकिन बदलाव एक सीमा के अंदर होना चाहिए, ताकि जो संदेश हम चाहते है, वो गीत, वो बोल उसी रूप में दर्शक या श्रोता को मिले। भोजपुरी यानि बिहार, पूर्वी उत्तर प्रदेश जिसमें अंगिका, मैथिली और मगही आदि सभी भाषाओं की संस्कृति का मिश्रित रूप है। सिनेमा समाज का दर्पण होता है। जो समाज में हो रहा है वही उसमें नजर भी आना चाहिए। लेकिन कहानी बनाने में कहानीकार कल्पना के आधार पर ऐसा भी जोड़ देते है जो होता नहीं है। लोकगीतों का प्रयोग फिल्मों में पहले भी हुआ है और आज भी हो रहा है। मैं नहीं समझती हूँ कि आजकल भारत में कोई भी फिल्म ऐसी बन रही है जो बिना लोकगीतों के हो। इनमें किसी न किसी अंचल का लोक संगीत अवश्य होता है। भोजपुरी की लोकधर्मिता की जब हम बात करते हैं तो मुझे लगता है, लोक संगीत का इसमें प्रयोग होना चाहिए और बहुत अच्छे तरीके से। भोजपुरी संगीत का जो रस होता है, वह गानों में आना चाहिए। हमारी संस्कृति की जो बाते है उन्हें हमें लिखना और गाना चाहिए। हमारे समाज में जो बाते हुई है और हो रही है, डायरेक्टर को चाहिए कि उनको गीतों के माध्यम से प्रदर्शित करें। गीत फिल्म में भर्ती के नहीं होने चाहिए बल्कि कहानी से संपृक्त होने चाहिए और भोजपुरी लोक संगीत इतना समृद्ध है कि लगभग हर अवसर के गीत हमारी संस्कृति में हैं। उनमें जो मिठास है, उसका प्रयोग होना चाहिए।

सीमा : *भोजपुरी गीतों पर एक आम आरोप अश्लीलता का लगाया जाता है, जबकि कई बार हिन्दी गाने ज्यादा कर्ण–कटु होते है। इस पर आपका क्या कहना है?*

शारदा जी : अश्लील गाने कभी भी स्वीकार्य नहीं होने चाहिए। चाहे वह भोजपुरी के हों या किसी और भाषा के। मुझे समझ नहीं आता कि इन अश्लील गानों को गाने की आखिर जरूरत ही क्यों पड़ती है! ऐसे गीत फिल्मों में ना होने पर भी कोई खास फर्क नहीं आता है। इसके बिना भी कहानी चल सकती है। लेकिन ऐसा दिखा दिया जाता है। ये नंगापन किसी एक के द्वारा दिखने पर तुरंत दूसरे लोग उसकी कॉपी कर लेते हैं। बॉलीवुड के नंगेपन को हमारा पॉलीवुड तुरंत अपना लेता है। शब्द अगर अश्लील न भी हो तो जो उसका प्रदर्शन किया जाता है वह गलत और बहुत खराब तरीके से होता है,जो अच्छा नहीं लगता है। भोजपुरी में पिछले कई दिनों में कुछ आर्टिस्ट आये जिन्होंने अपनी हदें पार कर दी। इन कुछ लोगों की वजह से भोजपुरी गीतों की बदनामी हुई। ऐसा नहीं है कि हर गायक ने इस तरह के गीत गाये। इसी दौरान कुछ अच्छे गीतकार और गायक आये।

राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी और भोजपुरी दोनों अलग अर्थों में प्रयोग होते हैं। कोई भी इल्जाम जब समूह पर लगता है तो वह इतना कष्टदाई नहीं होता लेकिन जैसे ही वह व्यक्तिगत होता है, अर्थ बदल जाता है। वो अधिक पीड़ादायी लगता है। बड़े स्तर पर लगा इल्जाम इतना बड़ा नहीं लगता है लेकिन जैसे ही वह प्रादेशिक स्तर पर आता है तो यह अचानक ही बड़ा भी हो जाता है। जैसे 'शीला की जवानी' अगर बॉलीवुड की जगह किसी अन्य प्रादेशिक भाषा में गाया जाता तो वहाँ के लोगों को यह ज्यादा दुख देता। बॉलीवुड से जब कुछ आता है तो वह एक बड़ी भीड़ के लिए आता है, किसी अकेले व्यक्ति के लिए नहीं आता है। लेकिन जब यह किसी राज्य–विशेष जैसे बिहार, उत्तर प्रदेश, गुजरात, राजस्थान आदि से आता है तो लोगों की भावनाओं को ज्यादा आहत करता है। मैंने कई जगहों के लोकगीतों को देखा है। मसलन राजस्थान के फिल्मी गीतों में भी बहुत अश्लीलता दिखाई देती है। लेकिन राजस्थानी का क्षेत्र भोजपुरी जितना नहीं है। भोजपुरी एक ऐसी भाषा है जिसने मंदी के दौर में लोगों को रोटी दी, रोजगार दिया। इसके बावजूद लोग बहुत आसानी से इसे लक्ष्य बना कर प्रहार करते हैं।

सीमा : *भोजपुरी गीत लिखने वाले भोजपुरी संस्कृति से अगर अंजान हों तो अच्छे गीत कैसे लिखे जाएंगे?*

शारदा जी : संस्कृति को करीब से जानने पर ही अच्छा लिखा जा सकता है। संस्कृति को जानने के लिए वहाँ जन्म लेना या संस्कार प्राप्त करना ही जरूरी नहीं है। कई बार अपने साथ रहने वाले दोस्तों आदि से भी उस प्रदेश को जाना जा सकता है। लोगों से बात करके, उनसे जानकारी जुटा कर भी लोग अच्छे गीत लिख ले जाते हैं। प्रदेश में न भी रहे हों तो उसे पढ़ें और जानकारी के आधार पर जरूर अच्छा लिख सकते हैं। और लिखा भी है कई लोगों ने, एस. एम. त्रिपाठी जैसे लोगों ने। ऐसे भी गीतकार रहे हैं। 'चुभे जैसे रेगनी के काँट', ये रेगनी के काँट कौन लिखेगा? जो इसे समझेगा। जो भोजपुरी संस्कृति को नहीं समझता वह कैसे जानेगा कि ये क्या बला है? इस तरह के लिखने वाले बढ़ने चाहिए।

बनारस के लोग भी भोजपुरी में अच्छा काम करते हैं। वहाँ अवधी और भोजपुरी का मिश्रित रूप बोला जाता है। वे भोजपुरी को समझते हैं। बिहार का न होने के बावजूद वे वहाँ की संस्कृति को जानते हैं। भोजपुरी संगीत के लिए भोजपुरी साहित्य को विकसित होना जरूरी है। अच्छा साहित्य न आने से संगीत में भी विकास नहीं होगा। दोनों एक दूसरे से गहरे से जुड़े हैं। ये जरूर है कि भोजपुरी और अवधी एक जैसे लगते हैं। पर दोनों में बहुत अंतर है जिसे समझना बहुत जरूरी है। ज्यादातर लोग दोनों को एक कहते हैं।

नीलांबुज : *क्या कारण है कि भोजपुरी फिल्मी गीत अभी भी पनघट, दुआरा, खेत–खलिहान, देवर–ननद, भौजी और देवी–देवता के ही इर्द–गिर्द घूम रहे हैं?*

शारदा जी : भारत धर्मिक देश रहा है और रहेगा भी। इसलिए देवी–देवताओं का गीतों में आना बहुत ही स्वाभाविक है। मैं मानती हूँ कि भोजपुरी गीतों में विषयों की कमी है। एक सेमिनार में भी मैंने यही बातें कही थी। हमारी आस्थाएं भी विषय हैं, लेकिन इससे आगे बढ़कर हमें विषय खोजने की आवश्यकता है। पहले के गीतों में जिस तरह से जमींदार, कोठों के सीन पर गीत

फिल्माए जाते थे, वे भले ही थोड़े कम हुए हैं लेकिन, भोजपुरी फिल्मी गीतों में विषयों की कमी है इस बात को हम झुठला नहीं सकते। भोजपुरी फिल्मी गीतों को विकसित होना जरूरी है। आठवीं अनुसूची में भोजपुरी को लाना जरूरी है साथ ही इसके साहित्य का भी विकास होना जरूरी है। भोजपुरी साहित्य को आगे जाना चाहिए और अच्छा साहित्य आना चाहिए। यहाँ के साहित्य से ही संगीत का भला होगा। संस्कृति, संस्कार और साहित्य सभी एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। राहुल सांकृत्यायन ने भी भोजपुरी में बहुत अच्छा लिखा है। ऐसे लेखकों के लिखे ग्रन्थों को साहित्यिक प्रकाश में लाना चाहिए। इनका अनुवाद करना होगा। जिससे लोग जानेंगे और अच्छा साहित्य आगे आयेगा।

सीमा : *भोजपुरी गीत लिखने वालों में आपके प्रिय कलाकार कौन हैं और क्यों?*

शारदा जी : भोजपुरी फिल्मी गीतों में मैंने महेंद्र मिश्र के बहुत से गीत गाये हैं। इन गीतों को लोगों ने बहुत ही चाव से सुना है। और उन गीतों को गाने पर मुझे भी बहुत सराहा है। दूसरे भिखारी ठाकुर के गीत मेरे बहुत करीब हैं और मैंने बहुत गाया है। भिखारी ठाकुर जी का कथ्य से बहुत जुड़ाव है। हमारे समाज की स्त्रियों के लिए उस समय उन्होंने अपने गीतों के माध्यम से आवाज उठाई। उनके लिखे सभी गीत मेरे बहुत करीब हैं। इसके अलावा कई लोगों से हमने अपनी थीम पर गीत लिखवाये। जिनमें कुछ लोगों ने बहुत ही अच्छा लिखा है। प्रमुख रूप से बृज किशोर दूबे हैं। डॉ. प्रभुनाथ जी के गीतों को भी मैंने गाया है जो बहुत मार्मिक हैं। मार्मिक गीतों के साथ प्यार के भी अद्‌भुत गीत इन्होंने लिखे है। जैसे 'अभी बानी उमरिया के थारी, गवनवा न जाइहा राम।'

नीलांबुज : *कुछ नये गीतकार जिनसे आप प्रभावित हों, उनका नाम?*

शारदा जी : आजकल जो लोग गा रहे हैं वही लिख भी रहे हैं। इसलिए यह बता पाना मुश्किल है। मैंने ज्यादातर पारम्परिक गीत ही गाये हैं। हम आजकल कम लिखवाते हैं और ऐसे पारंपरिक गीत खोजते हैं। कहानी की थीम को लेकर मैं खुद भी गीत लिखती हूँ।

सीमा : *भोजपुरी गीतों में ज्यादातर निम्नमध्यवर्ग की ही बातें हैं, ऐसा क्यों है? सामाजिक विविधता इनमें क्यों नहीं है?*

शारदा जी : बिहार प्रदेश जो था और अभी भी जो है, उसमें गरीबी प्रमुख रूप से रही है। जो पूरबी गाई जाती है उसका कारण भी यही गरीबी थी। जिनके पति कमाने जाते थे उनकी पत्नियां ये पूर्वी गीत गाती थी। इससे समझ में आता है कि बिहार प्रदेश पहले भी अभाव में रहता था। यह स्वाभाविक है कि जिस वर्ग के लोग यहाँ बहुतायत में होंगे उन्हीं के गीत गाये जाएंगे। निम्नमध्यवर्ग की पीड़ा का स्वर यहाँ के गानों में आएगा ही। और फिर भोजपुरी फिल्में देखने वाला दर्शक भी तो इसी वर्ग से ही जुड़ा हुआ है। मल्टीप्लेक्स के दर्शक का कल्चर अभी यहाँ नहीं है। नई फिल्मों में कुछ विविधता तो जरूर है, लेकिन अभी भी बहुत कुछ किया जा सकता है। खासकर जिस जनता की आवाज की सुनवाई और कहीं नहीं हो रही, उसकी उपस्थिति भोजपुरी गीतों और सिनेमा में होनी चाहिए।

*, **हिन्दी विभाग, केन्द्रीय विद्यालय, बगाफा, सातिर बाजार, त्रिपुरा, मो. ०८७२९९६४९०९

•••

कौन है भोजपुरी सिनेमा का दर्शक

अमितेश कुमार

'दर्शक' नाट्यशास्त्र में एक अवधारणा की तरह उपस्थित है। काव्यशास्त्र में 'सहृदय' पर व्यापक चर्चा हुई है। दर्शक या सहृदय या जिसे सामाजिक भी कहते हैं, कला का ग्रहिता होता है। नाट्यशास्त्र में सहृदय कौन है या कितने प्रकार के हैं, इस पर गहन विमर्श हुआ है। खैर, मेरा उद्देश्य उन चर्चाओं पर अपना मंतव्य रखने का नहीं है। मेरा बस यही कहना है कि कलाओं में दर्शक एक मुख्य घटक है। प्रत्येक कला अंततः ग्रहिता तक संप्रेषित होना चाहती है। भले ही वह स्वांतः सुखाय ही क्यों ना हो। ग्रहिता भी अपनी योग्यता के अनुसार कला के मर्म को ग्रहण करता है।

सिनेमा एक आधुनिक कला माध्यम है। एक नजरिये से देखा जाये तो यह चित्रकला और नाट्यकला की परवर्ती कला है। प्रारंभ में यह चित्र ही था और गतिशील होकर जब कथानकों में ढलने लगा तो इसका आधार नाटक बना। सिनेमा के शुरूआती इतिहास को खंगालिये तो इसके मुख्य अभिनेता कहानी और शिल्प, रंगमंच के ही अनुगामी थे। रंगमंच और सिनेमा अन्य कला माध्यमों से इसलिये थोड़ा भिन्न हो जाते हैं क्योंकि इसमें दर्शक की उपस्थिति अन्य माध्यमों से अधिक अनिवार्य है। इसलिये दर्शकों पे भी इनकी निर्भरता अधिक है। अमुक सिनेमा और अमुक नाटक की सफलता को मापने का एक आधार दर्शक भी होता है। कलाकृति के रूप में भी इसको दर्शक (सहृदय) ही से मान्यता लेनी पड़ती है।

भोजपुरी की पहली फिल्म :

सिनेमा और रंगमंच के इतिहास को देखें तो इसने शुरू से दर्शक को ध्यान में रखा है। अलग–अलग दर्शक वर्ग के लिये अलग–अलग प्रकार के नाटक और फिल्में बनती रही है। उदाहरण के लिये पारसी थियेटर का अपना एक विशाल दर्शक वर्ग था। इस नाटक से असंतुष्ट लोगों ने अपना रंगमंच बनाया तो उसका भी एक अलग दर्शक वर्ग निर्मित हुआ। सिनेमा में साठ के दशक के अंत में मुख्य धारा के सिनेमा से ऊबे निर्देशकों ने एक अलग रास्ता अपनाया और उनको भी दर्शक वर्ग मिला जो इन फिल्मों से अलग कुछ चाहते थे। सिनेमा में दर्शकों का अध्ययन करें तो पायेंगे कि हर प्रकार के सिनेमा, अभिनेता, और अभिनेत्री का अलग–अलग

शोधार्थी, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, मो. ०९९९०३६६४०४

दर्शक वर्ग है। इसलिये सिनेमा और अभिनेताओं की अलग अलग कोटिया भी हैं, मसलन– ए ग्रेड, बी ग्रेड, पापुलर सिनेमा, समांतर सिनेमा आदि।

हिन्दी सिनेमा का एक बड़ा दर्शक वर्ग निम्न मध्य वर्ग से आता है। इसमें मेहनतकश, किसान, छात्र, और ग्रामीण जनता इत्यादि शामिल हैं। नब्बे के दशक तक हिन्दी सिनेमा ने इनका खूब मनोरंजन किया। उदारीकरण के आने के बाद जैसे ही एन. आर. आइ. और मल्टीप्लेक्स सिनेमा का आगमन हुआ, हिन्दी सिनेमा इन दर्शकों से दूर होने लगा। तड़क–भड़क और अंग्रेजी के छौंक वाले संवाद से घबराये ये दर्शक इस सिनेमा से कटने लगे। सिंगल थियेटर के लगातार बंद होने और बढ़ते टिकट मूल्यों ने इनके पलायन को और तीव्र किया। सस्ते सीडी प्लेयर के आगमनों ने सिनेमा देखना आसान बना दिया। लेकिन मेरा अनुभव है कि इस वर्ग ने इस माध्यम पर भी पुराने सिनेमा को ही देखा। आज भी इनके प्रिय अभिनेता अमिताभ, धर्मेन्द्र, मिथुन, गोविंदा, इत्यादि हैं। हिंसा और प्रेम प्रधान पलायनवादी फिल्में इन्हें भाती रहीं। नब्बे के बाद के दशक में एक साथ पूरे भारत में चलने वाली फिल्में कम ही रहीं हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश के कुछ हिस्सों को उदाहरण के तौर पर लें तो पिछले कुछ सालों की दो सबसे बड़ी हिट हिन्दी फिल्म 'दबंग' और 'विवाह' है। यहाँ के सिनेमा घरों में आज भी पुरानी हिन्दी फिल्में, नयी की अपेक्षा अधिक चलती हैं।

इक्कीसवीं सदी के शुरुआती दशक में भोजपुरी सिनेमा का पुनरुत्थान होता है। पहली भोजपुरी फिल्म १९६२ में ही बन गयी थी। इसके निर्माण के पीछे भोजपुरी अस्मिता की पहचान एक मुख्य कारक थी। उसके बाद का भोजपुरी सिनेमा का इतिहास तीन चरणों का है। पहले दो चरणों का दर्शक वर्ग एक व्यापक भोजपुरी समुदाय था। जिसमें लगभग सभी वर्ग के लोग शामिल थे। 'ससुरा बड़ा पईसावाला' से तीसरे चरण की शुरुआत होती है। यह वही समय है जब भोजपुरी क्षेत्र का एक बड़ा दर्शक वर्ग हिन्दी सिनेमा से दूर हो गया है। यह दर्शक वर्ग फैल भी गया है। अभिजित घोष ने अपनी किताब 'सिनेमा भोजपुरी' में इस दर्शक की चर्चा की है। जो पैसा कमाने के लिये अपने क्षेत्र से बाहर निकल के दूसरे शहरों में बस गये हैं। यह पेशागत समुदाय अधिकतर निम्न वर्ग का अंग है। भोजपुरी सिनेमा ने दो काम किया, एक तो उसने अपने घर से बाहर निकल के रह रहे लोगों को अपने घरे से कृत्रिम रूप से जोड़ा। भोजपुरी फिल्म देख के वे अतीत मोह में चले जाते हैं जो परदेश में उनका मुख्य संबल है। भोजपुरी फिल्म ने दूसरा काम किया कि इसने बहुत से सिनेमा घरों को जिंदा कर दिया। दरअस्ल भोजपुरी फिल्म का यह जो दर्शक वर्ग है वह हिन्दी का ही दर्शक वर्ग है जो अस्सी के दशक के कथानक को अपनी भाषा में फिल्माता हुआ देख रहा है। इन फिल्मों के कंटेट का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि एक सी ही कहानी प्रत्येक फिल्म में रहती है, जो दो चार हिन्दी और अब कुछ दक्षिण के फिल्मों का भी, मिक्सचर होता है। अश्लीलता, हिंसा और संगीत इन फिल्मों के चलाने के मुख्य तत्व हैं। मैंने हाल ही में एक फिल्म देखी 'दिलजले'। यकीन मानिये कि कहानी नाम की कोई चीज इसमें नहीं थी और इस फिल्म ने क्रिकेट विश्वकप के दौरान भी खूब कमाई की जबकि हिन्दी की बहुत सी फिल्में इस दौरान प्रदर्शित नहीं हुई। मैंने यह फिल्म रात के शो में देखी थी उस समय भी

काफी लोग थे और बीच–बीच में तालियां और सिटी भी बजा रहे थे। लगभग डेढ़ महीने बाद मैं पटना गया तो भी यह फिल्म वीणा सिनेमा में लगी थी, जो सिंगल थियेटर है। दर्शकों का प्रोफाइल चेक करें तो ये दर्शक हैं– छात्र– वो भी जो छोटे शहरो में है, मजदूर, यात्री, देहात से शहरों मे काम कर के लौट जाने वाले लोग, बस ड्राइवर, छोटे दुकानदार, इत्यादि भोजपुरी सिनेमा के प्रमुख दर्शक वर्ग हैं। यह मुख्यत: निम्नवर्गीय तबका ही है। पहले भोजपुरी सिनेमा देखने वालों में परिवार की संख्या भी रहती थी। मैंने ट्रैक्टर से लोगों को भोजपुरी सिनेमा देखने के लिये जाते हुए देखा है। एक ही ट्रैक्टर से कई परिवार शहर में पहुँचा। एक ने खाना बनाया तो दूसरे ने फिल्म देखा फिर दूसरा बाहर आया तो पहले ने देखा। लेकिन उत्तरोत्तर बढ़ती अश्लीलता और द्विअर्थी गानों ने फिल्मों से परिवार की उपस्थिति को कम कर दिया है। मैंने एक दर्शक से पूछा तो उसने साफ मना कर दिया कि इन फिल्मों को वह परिवार के साथ नहीं देख सकता है। ये जो दर्शक हैं वो फिल्में क्यों देखते हैं? यहाँ मैं फिर एक अवधारणा की चर्चा करूँगा। काव्यशास्त्र का एक सिद्धांत है साधारणीकरण (वैसे यह नाट्यशास्त्र और भारतीय काव्यशास्त्र की विवादग्रस्त अवधारणा है)। इसके तहत नाटक देखता हुआ सामाजिक 'स्व' से दूर हो जाता है। इस समय पर अभिनेता की भावना ही उसकी अपनी भावना में तब्दील हुई जाती है। भोजपुरी फिल्मों में अभी का जो नायक है वह अधिकांशत: निम्नवर्ग का प्रतिनिधि चरित्र होता है। वह जब अपने से ऊँचे तबके की लड़की से प्रेम करता है या एक शक्तिशाली सवर्ण विलेन से बदला लेता है या अकेला चार गुंडो को मारता है तब दर्शक वहाँ खुद को ही देखता है। ये वो दर्शक हैं जिसने कभी किसी लड़की से प्रेम नहीं किया खास कर अपने से उच्च वर्ग की, कभी किसी से कड़े स्वर में बात नहीं कर पाया। बल्कि अपने अधिकांश जीवन में वह सवारी की, दफ्तर में बाबू की स्टेशन पे टिकट अधिकारी की, कचहरी में जज की झिड़की सुनने का आदी हो गया है। उसके खुद के जीवन में इतनी परेशानियां है कि पर्दे की परेशानियों को नहीं देखना चाहता, उससे पलायन चाहता है। फिल्म के अंत में जब हीरोईन हीरो को मिलती है और विलेन परास्त होता है तब वह स्वयं को ही विजयी पाता है। इसके अतिरिक्त वह अपनी यौन कुंठा को दूर करने के लिये भी हॉल में जाता है। आप देखिये कि अधिकांश फिल्में दर्शकों की इस भावना का दोहन करती हैं। अपनी किताब 'अंतरंगता के स्वप्न' में हिन्दी सिनेमा के बारे में सुधीर कक्कड़ जो लिखते हैं, वह भोजपुरी सिनेमा पर भी लागू होता है,'मैं सिनेमा दर्शकों को फिल्मों के पाठ का उपभोक्ता ही नहीं, बल्कि उसका रचयिता भी मानता हूँ; चूंकि फिल्मकार को टिकट खिड़की पर नोटों की बरसात का लगातार ध्यान रखना पड़ता है, इसलिये वह सुनिश्चित करता है कि वह ऐसा दिवास्वप्न चुन कर फिल्म के रूप में विकसित करे जो किसी विशिष्ट प्रकृति का प्रतिनिधि न हो। वह दर्शकों के ऐसे सरोकारों को सहज अनुभूति के स्तर पर संबोधित किये बिना नहीं रह सकता जो साझे किस्म के हों। पोर्नोग्राफी की तरह फिल्मकार को ऐसी कृति रचनी पड़ती है जो अपने अनूठेपन के कारण मंत्र–मुग्ध और उत्तेजित करे, और साथ ही जो इतनी सामान्य भी कि सभी की रुचि को आकर्षित कर सके।'

भोजपुरी क्षेत्र में फिल्मों में व्याप्त अश्लीलता पर चर्चा मुखर हो रही है। यहाँ जो चर्चा

करने वाला समुदाय है वह मध्य वर्ग का है। जो ऐसी फिल्में चाहता है जो वह देख सके, जो उसके प्रतिमानों पर खरी उतरे। जाहिर है अभी की फिल्में उनके स्टेटस सिंबल को नहीं भाती। भोजपुरी क्षेत्र में बहुत से लोगों को आप भोजपुरी फिल्म के नाम पर ही मुंह बिचकाते देख सकते हैं। बात यह है कि अगर ऐसी फिल्में बनती हैं जो इस मध्यवर्गीय से पूछा जाना चाहिये कि क्या वह सिनेमा घर में जा के फिल्म देखेगा? भोजपुरी क्षेत्र में या उससे बाहर भी जहां सिनेमा घर हैं और जिस हालत में हैं, उसमें तो यह वर्ग नहीं ही आयेगा। मध्यवर्ग जब अपने लिये घर में इतनी सुविधा जुटा रहा है तो ऐसी असुविधाजनक जगह पे कैसे जायेगा? आप इन क्षेत्रों के सिनेमा घरों का सर्वे कीजिये, अच्छी हिन्दी फिल्मों या कुछ ठीक भोजपुरी फिल्मों को देखने के लिये यह दर्शक वर्ग सिनेमा घर में कई सालों से नहीं आया। यह बहुत पहले से इनसे दूर हो चुका है। वह अपने होम थियेटर पे, लैपटॉप पे अपनी रुचि की फिल्म का लुत्फ ले रहा है। इस विषय पे लिखने के बाद हुई चर्चा में एक मित्र ने ध्यान दिलाया कि संभ्रांत रुचि वाला समुदाय भी अपने लिये जैसी फिल्में चाहता है, वैसी फिल्में बनाता नहीं। महानगरों में दर्शक समुदाय की रुचि पलायनवादी सिनेमा की तरफ बढ़ रही है। 'दबंग', 'सिंह इज किंग', 'रेडी', इत्यादि फिल्मों की सफलता क्या दर्शाती है? जाहिर है कि व्यावसायिक लाभ के लिये खास तरह के सिनेमा को लगातार प्रोत्साहित किया जाता रहा है। तो इस हालत में फिल्म जो कि एक महंगा व्यवसाय है और जिसमें हर कोई लाभ चाहता है उसमें यह मुश्किल ही है कि निर्माता अनिश्चितता की ओर कोई प्रयोग करें। ऐसी फिल्म बना दे लेकिन दर्शक ना देखने आये तो! 'कब अईबु अंगनवा हमार' जो ठीक–ठाक फिल्म थी उसने अच्छा व्यवसाय नहीं किया था। फिर निर्माता इस दिशा में प्रयोग के इच्छुक दिख भी नहीं रहे हैं।

फिर रास्ता क्या है? क्या इन दर्शकों को भी इन फिल्मों के लिये छोड़ दिया जाये और विश्वस्तरीय फिल्म बने जिसे कुछ खास लोग समारोह में देख के वाह–वाह कर दें! इस वातावरण में दर्शक की भूमिका क्या है? सच में वह क्या कोई निर्णायक भूमिका निभा सकता है? स्पष्ट है कि मनोरंजन सबको चाहिये। मनोरंजन के लिये ही इतनी कला विधाओं का जन्म हुआ है। लेकिन इस 'मनोरंजन' की अवधारणा भी विकृत हो चुकी है। आनंद और शिक्षा, जो इसके दो मुख्य घटक थे, वो इसमें से नदारद हैं। भोजपुरी फिल्म का जो अभी दर्शक है वह निश्चित ही पलायन के लिये सिनेमा देख रहा है। इसे मैंने उन दर्शकों के बीच बैठ के महसूस किया है। अब ये भी है कि इन दर्शकों को लगातार एक खास प्रकार का सिनेमा देखने के लिये बाध्य किया जा रहा है। मुझे आश्चर्य होता है कि जिस दर्शक के बोध को हम खारिज कर देते हैं; एक दौर में उसने 'किस्मत', 'बंदिनी', 'प्यासा', 'आवारा', 'मदर इंडिया' जैसी फिल्मों को कैसे सराहा होगा! तो एक बात यह भी है कि धीरे–धीरे जो सौन्दर्य बोध है उसमें गिरावट आई है और इसके पीछे एक खास व्यावसायिक तर्क भी है। हिन्दी सिनेमा का किसी भी निर्देशक, अभिनेता और अभिनेत्री के इंटरव्यू में मैंने नहीं पढ़ा कि उन्हें कोई भारतीय फिल्म अच्छी लगी हो, हिन्दी फिल्म तो और नहीं। लेकिन वो जी इन्हीं फिल्मों से रहे हैं।

फिल्म कविता की तरह निजी विधा नहीं है, यह एक सार्वजनिक कला है जिसका

ज्यादा से ज्यादा दर्शक तक पहुँचना अपेक्षित है। मेरे हिसाब से कुछ ऐसा रास्ता निकालना चाहिये जो धीरे–धीरे इन दर्शकों को प्रशिक्षित भी करे। चर्चित निर्देशक अनिल अजिताभ ने अपनी फिल्मों 'हम बाहुबली' और 'रणभूमि' में वर्तमान भोजपुरी सिनेमा के फार्म में ही रास्ता तलाशना शुरू किया है। कुछ ऐसे ही निर्देशकों और अभिनेताओं को आगे आना होगा जो ऐसे प्रयोग को समर्थन दे। दूसरी जो जरूरत है वह यह कि इन सिनेमाघरों की हालत पर ध्यान दिया जाये। सरकार अपने कर संबंधी नियमों में कुछ रियायत करे और इन थियेटर के मालिक भी सिनेमाघर के रख–रखाव को बेहतर करें। तभी कुछ रास्ता निकलेगा। भोजपुरी सिनेमा के बढ़ते व्यवसाय को फैलाने और सुरक्षित रखने की दिशा में ऐसे प्रयास अधिक मात्रा में होने चाहिये।

अंततः किसी कला का काम ग्रहिता के चित्त का विस्तार करना और संवेदनशील बनाना है। उस कला माध्यम का भविष्य भी उसी में सुरक्षित है। अतः उसे हर तर्क के साथ ग्रहिता की रुचियों का भी परिष्कार करना चाहिये ताकि वह ऊबे नहीं और उस माध्यम से जुड़ा रहे।

...

यही सिनेमा का जादू था...

मराठी चित्रपट : एक अंतर्यात्रा

जनार्दन दास, वैशाली बहुलकर

मराठी में सिनेमा को चित्रपट कहा जाता है। मराठी सिनेमा अर्थात मराठी चित्रपट का जन्म 'श्री पुंडलिक' फिल्म से हुआ। इसके निर्माता दादा साहेब तोर्ने थे तथा १८ मई १९१२ को कोरोनेशन सिनेमैटोग्राफ, बंबई में इसका प्रदर्शन किया गया। वैसे तो फिल्मा 'राजा हरिश्चन्द्र' (१९१३) को प्रथम भारतीय फिल्म होने का गौरव प्राप्त है, जिसे आई.एफ.एफ.आई. एवं एन.आई.एफ.डी. ने मराठी फिल्म घोषित किया है; हालांकि यह मूक फिल्म थी। भारत की पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' (१९३१) के एक वर्ष बाद मराठी की पहली बोलती फिल्म 'अयोध्याचा राजा' प्रदर्शित हुई। कोल्हापुर नरेश कला मर्मज्ञ थे। कलाओं को प्रोत्साहित करते थे; लिहाजा शुरुआत में कोल्हापुर भी मराठी चित्रपट उद्योग का प्रमुख केन्द्र था। सन् १९१९ में बाबुराव मिस्त्री (बाबुराव पेंटर के रूप में विख्यात) ने कोल्हापुर नरेश के सहयोग से 'महाराष्ट्र फिल्म कंपनी' की स्थापना की। इसके बैनर तले ऐतिहासिक फिल्म ***सैरन्ध्री*** (१९२०) का निर्माण किया गया। भीम और कीचक का द्वन्द्वयुद्ध इसमें फिल्माया गया था, जिसे देखकर कई दर्शक थियेटर में ही बेहोश हो गये थे। बाबुराव पेंटर ने मराठी ऐतिहासिक फिल्म को आधार प्रदान किया। वे मूक सिनेमा के प्रबल समर्थक थे। उनका मानना था कि ध्वनि से दृश्यबोध संस्कृति विलुप्त हो जाती है। इसीलिए बोलती फिल्मों के दौर में वे सिने–निर्माण से अलग हो गये।

बोलती फिल्मों के दौर में प्रभात फिल्म कंपनी एक महत्वपूर्ण सिने–निर्माण कंपनी थी। इसने प्रमुख मराठी संत तुकाराम पर 'संत तुकाराम फिल्म का निर्माण किया जिसे वेनी फिल्म समारोह में सर्वश्रेष्ठ फिल्म (१९३७) का सम्मान प्राप्त हुआ। साहित्य के प्रति मराठी सिनेमा का झुकाव शुरू से ही था। सन् १९५४ में आचार्य पी.के. आत्रे ने साने गुरूजी द्वारा लिखित उपन्यास पर 'श्यामची आई' फिल्म बनाई। इस फिल्म को राष्ट्रपति अवार्ड प्राप्त हुआ। साठ के दशक में उभरते सिनेमाकार अनन्त माने ने मराठी लोक कला 'तमाशा' को आधार बनाकर फिल्म बनाई। इसी सिने–संस्कृति का अनुपालन करके दादा कोंडके ने फिल्म ***सोंगाड्या*** बनाई। इसमें उन्होंने उषा चौहान, रत्नमाला, नीलू फुले एवं संपत निकम के साथ अभिनय भी किया। एक बेहतरीन फिल्म निर्माण से सिने कैरियर की शुरुआत करने वाले दादा कोंडके बाद में भौंडी एवं सस्ती कामदी

हिन्दी कक्ष, आई.आई.टी., मुंबई, मो. ०८२८६३३३४०४

की तरफ मुड़ गए। मराठी सिनेमा में कामदी को और ज्यादा बढ़ावा अशोक सर्राफ एवं लक्ष्मीकांत बीर्डे से प्राप्त हुआ। अस्सी के दशक में इन दोनों अभिनेताओं एवं निर्देशक महेश कोठारे व सचिन पिलगांवकर ने मराठी सिने बॉक्स ऑफिस पर धमाल मचा दिया था। पिल्गांवकर द्वारा निर्देशित फिल्म 'नावरी मिले नवर्याला' और लगभग उसी समय महेश कोठारे द्वारा निर्देशित फिल्म 'धुमधड़ाका' ने बॉक्स ऑफिस पर रिकार्ड कमाई की। युवाओं की अभिरुचि की फिल्में 'धुमधड़ाका' के बाद प्रमुखता से बनने लगीं। फिल्म 'चिमनीच कड़ा' (निर्देशक महेश कोठारे) से मराठी सिनेमा डिजिटल एवं स्पेशल इफेक्ट्स युग में प्रवेश कर चुका है।

मराठी की निम्नलिखित फिल्मों के विवरण में हम देख पायेंगे कि किस तरह मराठी सिनेमा समय के साथ संवेदना और प्राथमिकता दोनों में बदलाव के दौर से गुजरता रहा है :

१. *पुना पार हल्ला*– १९२४; निर्देशक : मामा वारेंकर
विषय : औरंगजेब द्वारा पुना पर आक्रमण एवं शिवाजी द्वारा वीरतापूर्वक सामना।
विशेष : वारेंकर प्रसिद्ध मराठी संस्कृतिकर्मी एवं लेखक थे।
२. *श्याम सुंदर;* निर्देशक : भालजी पेंढाकर; कलाकार : शाहू मोदक, शांता आप्टे आदि।
विशेष : श्रीकृष्ण के जीवन पर आधारित इस फिल्म ने २५ सप्ताह लगातार चलने का रिकार्ड बनाया।
३. *औन पाऊस*– १९५४, निर्देशक : राजा परांजपे; कलाकार : राजा परांजपे, सुमति गुप्ते, शांता मोदक एवं गजानन जागीरदार
विशेष : हिन्दी फिल्म बागबान में इसी मराठी फिल्म में दिखाई समस्या को पुनः प्रस्तुत किया गया।
४. *शांतता कोर्ट चालू आहे*– १९७१, निर्देशक : सत्यदेव दुबे, ; कलाकार : सुलभा देशपाण्डे, अरविंद देशपाण्डे, अमोल पालेकर, एकनाथ हथगड़ी, अमरीश पुरी एवं सावंत
विशेष : विजय तेंदुलकर के नाटक पर बनी यह एक बेहतरीन फिल्म थी।
५. *सामना*– १९७५, निर्देशक : जब्बार पटेल (जब्बार की पहली फिल्म); कलाकार : डॉ. श्रीराम लागू, नीलू फुले, डॉ. मोहन आगाशे, स्मिता पाटील एवं रजनी चौहान
विशेष : छोटे से गाँव की राजनीतिक विकृति एवं नैतिक क्षरण की प्रस्तुति। इनके खिलाफ संघर्ष करता एक प्राथमिक अध्यापक। डॉ. श्रीराम लागू का श्रेष्ठ अभिनय।
६. *घासीराम कोतवाल*– १९७६; निर्देशक : के. हरिनारायण, मणि कौल, कमल स्वरूप, सईद मिर्जा (प्रथम बहुनिर्देशकीय मराठी फिल्म); कलाकार : डॉ. मोहन अगाशे, रजनी चौहान, ओमपुरी एवं वंदना पंडित
विशेष : इंदिरा गांधी की तानाशाही एवं आपातकाल को संदर्भ बनाते हुए, पुने थियेटर अकादमी में प्रदर्शित विजय तेंदुलकर के इस नाटक का फिल्मांतरण भी प्रभावशाली था।
७. *जैत रे जैत*– १९७७ : आदिवासी जीवन एवं उनकी लोक आस्था पर आधारित फिल्म
८. *आक्रित*– १९८१; निर्देशक : अमोल पालेकर (निर्देशक के रूप में पहली फिल्म)

विशेष : महाराष्ट्र के आदिवासी संघर्ष की करुण कथा, जिसमें उनकी जमीन पर कब्जा किया गया और हजारों आदिवासियों की हत्या की गई। इस फिल्म को अंतराष्ट्रीय सम्मान मिला।
९. *अम्बार्थ*– १९४१, निर्देशक : जब्बार पटेल; विशेष : स्त्री स्वतंत्रता का स्वर मुखर है।
१०. *स्मृतिचित्रे*– १९८३, निर्देशक : विजया मेहता (महत्वपूर्ण सिने स्त्री निर्देशक)
विशेष : ब्राह्मणवादी नैतिकता एवं धर्मांतरण पर सवाल उठाती महत्वपूर्ण फिल्म थी। इसे मराठी की सर्वश्रेष्ठ फिल्म के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार मिला।
११. *कमलाबाई*– १९९२; निर्देशक : रीना मोहन
विशेष : दादा साहेब के मूक फिल्मों की हिरोइन कमलाबाई गोखले की जीवनीपरक फिल्म
१२. *मुक्ता;* निर्देशक : जब्बार पटेल; कलाकार : सोनाली कुलकर्णी, डॉ. श्रीराम लागू एवं विक्रम गोखले
विशेष : पाश्चात्य ***ब्लैक पैंथर*** की तर्ज पर दलित आंदोलन ***दलित पैंथर*** पर गंभीरता से बहस करती एक संवेदनशील फिल्म। अंतराष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित हुई।

इतनी लंबी यात्रा में मराठी सिनेमा क्रमशः परिपक्व हुआ है। धनाभाव एवं विज्ञापनों की कमी के बावजूद ***श्वास, अजंता, कल्पवृक्ष*** जैसी उदात्त भावभूमि वाली फिल्मों का बनना मराठी सिनेमा के सुनहरे भविष्य के प्रति आश्वस्त करता है।

•••

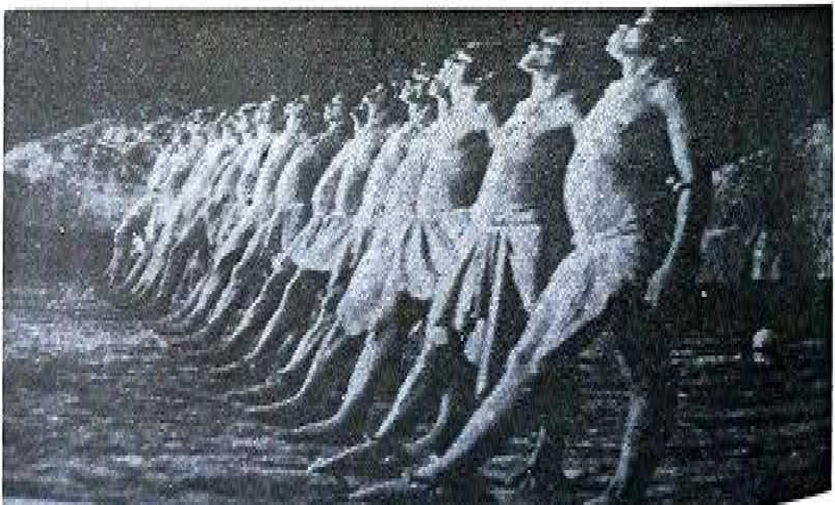

मराठी फिल्म *जैत रे जैत* में एक लोकनृत्य का भावपूर्ण दृश्य

Bangla Cinema: Past and Present

Amrit Kumar Pal

The first Indian silent movie, *Raja Harishchandra* was released on 3 May 1913 in Coronation Cinema, Bombay, by Dadasaheb Phalke. Since then, Indian Cinema has walked a long way and reached its 100 years. The first Bengali-language movie was the silent feature *Billwamangal*, produced by the Madan Theatre Company of Calcutta and released on 8 November 1919, six years after *Raja Harishchandra* was released. But the first silent Bengali film, in the true sense of the term, was *Ratnakar* which was produced by Anadi Basu and directed by Surendra Mohan Roy in 1921.

Then came the films with sound. The first Indian voiced film, *Alam Ara* was released in Bombay on 14 March 1931. In Bengal, Debaki Basu made the first sound film, *Chandidas* in 1932. Debaki Basu continued to direct films till 1961. He got consistent help from B.N. Sarkar, the founder of New Theatres, which later gave Indian cinema a representative figure, Promothesh Barua (1903-1951). Barua's *Devdas* (1935) based on the famous novel of Sharat Chandra made a history in Indian cinema. Produced by New Theatres, it is an all-time hit. It made P.C. Barua a star overnight and revolutionalised the concept of cinema. The film was a complete departure from the then prevalent theatricality in acting, treatment and dialogue. Barua initiated a style of acting and a manner of dialogue delivery that were natural and unaffected. The film was released in Hindi and Bengali versions and did enormous business. In the next few years, Barua made *Mukti* (1937), *Adhikar* (1938) and *Sesh Uttar* (1942). Bengali cinema was gradually passing on from mythological subjects to social themes and literature expressed through celluloid.

The partition shattered the world of the Bengalis. Hundreds and thousands of them left their homes and thronged the streets of Kolkata. The partition was an earth-shaking event in the Indian subcontinent, yet it did not get proper reflection in the Bengali cinema. There are only six or seven films which can be said to have been based on the theme of the partition and sincerely portraying the sufferings and agony of the refugees. *Chinnamul* (1950) by Nemai Ghosh is said to be the earliest Bengali film based on the partition

Asst. Professor, Dept. of English S.B. College, Chandil, Jharkhand , Mo- 9434542922

theme. Based on a story of Swarnakamal Bhattacharya, the film is about the partition of Bengal and the flow of refugees from the East Bengal into India. *Meghe Dhaka Tara* (1960), *Komal Gandhar* (1961) and *Subarnarekha* (1962) - a trilogy by Ritwik Ghatak (1925–1976) were also based on the partition theme addressing the condition of refugee-hood. Along with prominent contemporary Bengali filmmakers Satyajit Ray and Mrinal Sen, Ritwik Ghatak's cinema is primarily remembered for its meticulous depiction of social reality. Ghatak's sincere efforts to portray the agony of the uprooted people from the East Bengal made his films *lively.* However, they proved controversial and commercial failure, though they earned much critical acclaim. Ritwik's *Meghe Dhaka Tara* depicts the day to day struggle of a middle class uprooted family in a new land. *Komol Gandhar* delineates the inner conflicts and mental predicaments of the protagonists who are victims of the partition and who find solace in the world of art and culture. *Subarnarekha*, probably the most important film by Ritwik Ghatak, deals with the similar subject of struggle for existence and agony in the post-partition era. Ghatak has, in fact, treated the theme of the partition with great sincerity and elevated his films to an abstract philosophical level. Ghatak's work as a director influenced many later Indian filmmakers, like Kumar Shahani, Mani Kaul, Ketan Mehta and Adoor Gopalakrishnan.

Narendra Nath Mitra's *Palanka* (1975) is another important film that deals with the theme of the partition. Similarly, Raja Mitra's *Ekti Jeeban* (1978), based on the story of Buddhadeb Basu, treats the theme of the partition and its effects on the socio economic and cultural life of Bengal.

The impact of neo-realism, initiated in the war-infested Italy, was apparent in the international cinema and Indian cinema was no exception. In Bangla cinema we witness deep impact of neo-realism. Nemai Ghosh's *Chinnamul*, Satyajit Ray's *Pather Panchali*, Ritwik Ghatak's *Ajantrik*, and *Komal Gandhar*, Biren Saha's *Tero Nadir Pare*, Raja Trafdar's *Antarikshwa* are some of its examples. All these films focus on the hard realities of the human life. Ray's *Pather Panchali* proved to be an immortal work in the history of the International cinema. Satyajit Ray (1921-1992), a voracious reader and researcher of films, was highly influenced by Vittorio's *Bicycle Thieves* and decided to make a film on Bibhuti Bhusan's *Pather Panchali*. The release of *Pather Panchali* in 1955 made a place for the Indian cinema into the international cinema. It documents a family's struggle for existence in the face of a famine and the growth of the boy Apu. Ray went on to make two more movies on Apu (*Aparajito* in 1957, followed by *Apur Sansar* in 1960) to complete his famous Apu trilogy. The latter two movies trace the life of Apu in Calcutta, his early marriage to a village girl, his conflict with his father, and their final reconciliation. Contemporaneous with these films were two staggering films, *Devi* and *Jalsaghar*, on the ways of the landed aristocracy in Bengal and

its decline. Similarly, *Charulata* showed the uselessness of intellectual pursuits which are detached from the real life problems. In most of Ray's films, the viewers stand face to face to some burning social problems or individual crises. *Pratiddandi*, *Seemabaddha*, *Jana Aranya* and Nayak - all focus on vital social problems. However, Roy's *Ganashatru* and *Shakha Prashakha* question the very existence of human being. Satyajit Ray made 30 films in his 36 year long film career (1955-1991) and all of them have proved to be real treasure. Incidentally, Ray never made any film on the theme of the partition. His films were closely studied in film schools, and watched repeatedly by hopeful film-makers. Prominent Indian directors such as Kumar Shahani, Mani Kaul, Adoor Gopalakrishnan and Shyam Benegal clearly showed the influence of Ray in their work. Yet he was the subject of some intense criticism. In Bengal, Ray was charged with being a supreme representative of bourgeois culture. Ray was accused, as his friend Chidananda Dasgupta has written, of not showing a greater concern for the 'Calcutta of the burning trains, communal riots, refugees, unemployment, rising prices and food shortages'.

Mrinal Sen is another towering film maker in Bengali cinema. He made his glorious entry into Bengali cinema with his debut film *Rat bhor* followed by *Neel Aakasher Niche*. Basically a Bengali film maker, Sen also made Hindi, Oriya and Telegu films. To name some of the important films made by Sen, one can mention *Bhuban Shome* (1969), *Chorus* (1974), *Mrigaya* (1976), *Ekdin Pratidin* (1979), *Akaler Sandhane* (1980) and *Chalchitra* (1981). His film *Bhuvan Shome*, with its austere style, sardonic humor and exploration of the politics of class, is a landmark in modern Indian cinema, and became highly influential for what used to be called the 'New Indian Cinema'. In *Ek Din Pratidin*, Sen explores the trauma induced in a middle-class Bengali home when the working daughter fails to return home on time. Sen has remained active in left-wing politics, and among some in the Indian intelligentsia his work has received more accolades than the work of Satyajit Ray, who was often charged with being apolitical.

The works of Satayajit Ray, Mrinal Sen and Ritwik Ghatak were largely meant for the Bengali intelligentsia. However, a large number of commercial cinemas were also made which aimed at the common masses. Some of these were highly successful and they helped the Bengali film industry to survive. In the 1950s and 1960s films based on the themes of romance, love-marriage, union-separation-reunion captured the imagination of the Bengali people. Suchitra-Uttam pair became a huge hit in this context. *Sap Mochan*, *Sare Chuattor*, *Agni Parikshwa*, *Uttar Falguni*, *Saptapadi*, *Harano Sur* are popular even to this day. Till date, the Bengalees murmur the romantic, melodious lines 'ei path jadi na sesh hoi-tabe keman hoto, bolo to'. Soumitra-Aparna pair also proved to be very popular and commercially successful, but not as that of Uttam-Suchitra pair. For quite a long period, it was Uttam Kumar who solely

bore the responsibility of keeping the Bengali film industry running. However, side by side with him, directors like Ajoy Kar, Asit Sen, Tapan Sinha, Tarun Majumdar had remarkable contributions in the area of commercial Bengali cinema. Such artists as Chhabi Biswas, Pahari Sanyal, Anil Chatterjee, Subhendu, Sabitry, Supriya, Madhabi, Sandhya Roy, Dipankar, Ranjit Mallik, Mithun Chakrabarty and some others deserve mention because they contributed greatly to the growth of Bengali cinema. Thanks to them Bengali cinema has never been short of talented artists.

Today, a group of talented film makers like Aparna Sen, Buddhadeb Das Gupta, Rituparna Ghosh, Goutam Ghosh, Anjan Dutta have been engaged in making thought provoking Bengali films. The future of Bengali cinema seems to be safe in their hands. Aparna sen's *36 Chowrangi Lane*, *Parama*, *Iti Mrinalini*, *Paramitar Ek Din* are all high caliber films. Rituparna's *19she April*, *Chokher Bali*, *Antar Mahal*, *Bariwali* are films of a different genre. Goutam Ghosh's *Moner Manush* shows his deep commitment to film making. Of late, some promising film makers like Koushik Ganguly, Mainak, Birsha, Tony, Srijit, Anik Dutta are working in the Tollywood. Srijit's *Autograph*, *22 she Shravan*, *Hemlock Society* show a lot of promise. Anik Dutta's *Bhuter Bhabiswat* is an interesting comedy film. These films have once again proved that there is no scarcity of talent in the world of Bangla cinema.

Thus, it would not be an exaggeration to say that Bangla cinema has put a solid base under its feet. The market for Bengali films has expanded to Bangladesh, West Bengal, Tripura and Assam. Due to the increased viewership the films are making huge profits. This is also testified by the fact that several Bangla films are being shot in exotic locations. In spite of all these, Bangla cinema is still synonymous with Satyajit Roy and his *Pather Panchali* for the international viewers.

References

- Banerjee, Parthapratim (ed.), *Bharatiya Chalachitrer Rupkatha*, Bani Silpa, Kolkata, 1997
- Dasgupta, Chidananda, *The Cinema of Satyajit Ray*, Vikas, New Delhi, 1980
- Ghatak, Ritwik, *Cinema and I*, Ritwik Memorial Trust, 1987
- Ghosh, Debiprashad (ed.), *Bangla Bhasai Chalachitra Charcha, 1934-54*, Pratibhas, Kolkata, 2011
- Kishore, Valicha, *The Moving Image*, Orient Longman, Hyderabad, 1988
- Roy, Rajat, *Bangalir Chalachitra Sanskriti*, Shristi Prakashan, Kolkata, 2001
- Satyajit Ray, *My Years with Apu, A Memoir*, Viking, New Delhi, 1994
- Shoma A. Chatterji, *Ritwik Ghatak: The Celluloid Rebel*, Rupa & Company, 2004
- Vasudev, Aruna, *The New Indian Cinema*, Macmillan, New Delhi, 1986

...

रपट है...

हमको मालूम है पानी कहाँ ठहरा होगा...

सिद्धार्थ आनंद

यह जेठ की सबसे उमस भरी दुपहरी है। रविवार का समय है। मानसून अभी तक नहीं पहुंचा है। जून खत्म होने को है। स्थानीय कंपनी में कार्यरत होने के कारण रविवार का पूरा समय अपना होता है। संताली भाषा के कवि, नाटककार और साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित श्री भोगला सोरेन से जमशेदपुर के बारीडीह स्थित तिल्का मांझी रोड में स्थित श्री शंकर सोरेन का पता मिलता है, जो स्थानीय भारतीय जीवन बीमा निगम में सेवारत हैं। उद्देश्य है संताली भाषा में बनी बड़े परदे की पहली फिल्म 'चांदो लिखोन' की नायिका माल्हो (मलहो) मार्डी के जीवन और अचानक सी मौत पर एक रपट जैसा कुछ लिखना।

माल्हो की आखिरी साँस स्थानीय महात्मा गांधी मेमोरियल अस्पताल (सरकारी) की तयशुदा रपटों के साथ २ मार्च २०१२ को विदा हो गई। माल्हो हमेशा के लिये चली गई।

बारीडीह गोलचक्कर से ५०० फुट की दूरी पर दायीं तरफ है जाहेरटोला। जाहेरटोला आदिवासियों के लिये बनी एक कॉलोनी है। जाहेर का मतलब होता है पूजा स्थल। मैं एक गली में घुसता हूँ। यहीं शंकर सोरेन रहते हैं। काफी हूल–हुज्जत तथा कई दिनों के अथक मान–मनुहार के बाद श्री शंकर सोरेन के भतीजे राबिन सोरेन के साथ माल्हो के मायके जाने का प्रबंध होता है। बताता चलूं कि आदिवासी प्राय: शांतिप्रिय होते हैं और अपनी दुनिया के दुख–सुख के आप ही वक्ता–श्रोता हुआ करते हैं। राबिन का होना मेरे लिए उस दुनिया में प्रवेश करने का विश्वस्त रास्ता बना।

माल्हो के घर में पहले राबिन ही प्रवेश करता है। एक अधेड़ उम्र की महिला से बातचीत करता है। ऐसा लगता है कि राबिन उन्हें बताना चाहता है कि, पत्रकार है वह, आपकी नायिका बेटी के बारे में कुछ लिखना चाहता है...। खैर, यह स्थान जो जाहेरटोला है तकरीबन १०० घरों की बसाहट वाला है। संथाल और हो जाति के लोग वर्षों से यहां साथ रहते आ रहे हैं। बिजली टाटा कंपनी का एक उपक्रम देता है और पानी के लिए कुआं खुदा है।

८, जी.टी.बी. नगर, एग्रिको बागान एरिया, जमशेदपुर, मो.०८०९२४७२८१०

माल्हो मार्डी के मायके के घर का लोहे का गेट खुलता है। दरवाजे और उससे सटी दीवारों पर आदिवासी कलाकृति देखते ही बनती है। मेरे लिये एक खटिया लगा दी जाती है। मैं खुद को एक बड़े पत्रकार (?) की मानिंद अपना कैमरा, लेदर बैग, टेप रिकार्डर और कलम संभालता सा पाता हूं, शायद इस संड़ियल विश्वास के साथ कि इस रपट के छपने के बाद बहुत कुछ ऐसा ही नहीं रहेगा...। एक सरसरी नजर दौड़ाकर देखता हूं कि घर की सारी बुनावट में मिट्टी के बीच में कहीं–कहीं सिमेंट भी मौजूद है। आंगन में मुर्गियां इतवार का आनंद ले रही है, बत्तखें पूरे आंगन में मटरगश्तियां कर रही है। एक अधेड़वय महिला, एक लड़की और एक लड़का सामने आते हैं। अधेड़वय महिला नागी माझी है, आह! संथाली फिल्म 'चांदो लिखोन' की पहली हिरोइन माल्हो की मां नागी। मेरा गला रुंधता जा रहा है। लड़की माल्हो की छोटी बहन है और लड़का भाई।

माल्हो ३ दिसंबर १९८२ को जन्मी थीं यहां। पिता नीमा मार्डी स्थानीय टिनप्लेट में काम करते थे। टिनप्लेट के नीम रोड क्वार्टर में माल्हो का बचपन करवटें ले रहा था। नीमा तीन भाई थे और माल्हो अपने घर की पहली संतान थी। जिस तरह खेत की पहली फसल से किसान का रिश्ता अनकहा सा होता है, जिस तरह पहली नौकरी की जुंबिश बयां नहीं हो पाती उसी तरह माल्हो का आना इस परिवार के लिए बेहद खूबसूरत क्षण था। टिनप्लेट के नजदीकी स्कूल से माल्हो की पढ़ाई शुरू हुई। स्कूल के दिनों से ही माल्हो में नाचने, गाने, नाटक आदि करने का शौक था। आगे माल्हो ने टिनप्लेट महिला कॉलेज से इण्टर की पढ़ाई की और एल.बी.एस.एम. कॉलेज से भूगोल विषय में ऑनर्स की उपाधि हासिल की थी।

माल्हो की मां एक मजबूत महिला है। अभी माल्हो को गये साल भी नहीं चढ़ा, उनकी आंखों में पानी का एक कतरा तक नहीं। घर के एक तरफ उदास कुंए की तरह सूनापन थामे हुए ये आंखें। मुझमें बरबस गूंज मचती है, यहां तक आते–आते सूख जाती है कितनी नदियां, हमको मालूम है कि पानी कहां ठहरा होगा।

बातचीत में मां बताती है कि माल्हो के पिता टिनप्लेट से रिटायर होने के बाद सारी पूंजी से इसी ज़ाहेरटोला में यह घर बना पाये थे। वे बेटी माल्हो को बेइंतहा प्यार करते थे। उसका जाना वो बर्दाश्त नहीं कर पा रहे थे। दिन–रात उसी के शोक में व्याकुल–आकुल रहते। घर से निकलना बंद कर दिये थे। लोगों से मिलना–जुलना भूल चुके थे और ठीक दो महीने बाद अपनी उसी लाड़ली के पास ०३ मई २०१२ को चले गये। मां की एक ही इच्छा है कि माल्हो का पांच साल का बेटा आयुष मुंडुया पढ़–लिख कर कुछ बन जाय तो मेरी जीना सुफल होगा। माल्हो का बेटा अभी चर्च स्कूल बारीडीह में अपर केजी में पढ़ रहा है।

थाकरा माझी जो माल्हो का छोटा भाई है, कहीं किसी टीस को जब्त करता सा बताता है कि दीदी को खाना बनाने का शौक था। दीदी की बनायी सुकटी दाल बड़ी 'टेस्टी' हुआ करती थी। थाकरा बेचैन और बुझा सा दिखता है...।

ज्योति, माल्हो की छोटी बहन रो पड़ती है। वह अपने भतीजे को अपने साथ रखना चाहती है। पढ़ाना चाहती है। मां का प्यार देना चाहती है। उसे बढ़ता देखना चाहती है। भतीजा

पिता के साथ बारीडीह के दूसरे छोर पर रहता है। माल्हो की मौत के बाद तो मानो रिश्ता ही ख़त्म हो गया है। भतीजा उसे अपना ही बेटा लगता है। उसे देखने की बहुत इच्छा होती है। ज्योति घर की इकलौती कमाऊ सदस्य है। साकची में डोकोमो के कॉल सेंटर में कार्यरत है। पूरा परिवार उसी के भरोसे जी रहा है। ज्योति अपनी बहन जैसा बनना चाहती है...।

वहां से निकलकर माल्हो मार्डी की ससुराल में पहुंचता हूं। रविवार का समय होने के कारण माल्हो के पति घर पर ही हैं।

वे हो जनजाति के हैं। स्थानीय कंपनी में कार चलाते हैं। बेटा रोड पर मिट्टी से खेल रहा है। मेरे हर सवाल पर माल्हो के पति खामोश हो जाते हैं। मैं चेहरा पढ़ने की कोशिश करता हूं। मेरे सामने असंख्य चेहरों के जंगल उग आये हैं। एक–एक डाली, एक–एक पत्ते को पढ़ना मुमकिन नहीं। माल्हो का बेटा खेलता ही जाता है...।

यों तो अन्य भारतीय समाज की भांति आदिवासी महिलाओं का आदिवासी समाज की संरचना में चौगुना योगदान है। माल्हो मार्डी ने फिल्मी दुनिया में कदम रखकर परंपरा को एक झटका तो जरूर ही दिया था। यों संथाली औरतें बहुत मेहनती होती हैं। घर की ढेरों जिम्मेदारियां उठाती हैं। खेतों में मेहनत–मजदूरी करती हैं और जंगलों से प्रेम करती हैं, नदियों–पहाड़ों से प्रेम करती हैं, मिट्टी से, गीतों से, फसलों से प्रेम करती हैं। उनके नाते–रिश्ते की परिधि में गाय, बकरी, सूअर भी आते हैं। पुरुषप्रधान समाज की तमाम यंत्रणाओं से भी गुजरती हैं। मसलन वे किसी पंचायत में नहीं बैठ सकतीं, किसी नीति निर्धारण में उनकी पूछ नहीं होती। जातीय देवालयों में उनके प्रवेश की सीमाएं और शर्तें हैं। कई बंदिश और वर्जनाएं भी हैं। वे हल नहीं छू सकतीं। अगर कभी भूलवश या मजबूरी में छू लीं तो प्रलय मच जायेगा। पुश्तैनी प्रधानी की कुर्सी पर बैठे मगजहीन माझी हाड़ाम की पगड़ी गिर जायेगी। माझीथान में बैठे देवता का सिंहासन डोल उठेगा और फिर सजोनी किस्कू की तरह हल में बैल बनाकर जोतने जैसी अमानवीय घटनाओं को अंजाम देने से वे नहीं चुकेंगे। हल की तरह तीर–धनुष छूना भी उनके लिए अपराध है। जीवन में सिर्फ एक बार विवाह के लग्न मंडप में उसे तीर–धुनष छूने का 'सौभाग्य' मिलता है; फिर कभी नहीं। इतिहास कहता है कि संताल विद्रोह के समय आदिवासी औरतों ने 'फूलो–झानो' के रूप में अन्ग्रेजों का मुकाबला किया था। दर्जनों को मौत के घाट उतार दिया था। यह संताल जातीयता को भी विचार करना होगा कि किस तरह अन्ग्रेज और बाद में कुछ हिन्दूवादी प्रपंचकारों ने संतालों की आधी आबादी को निरस्त्र कर देने की साजिश रच डाली। संताली औरत छप्पर–छौनी नहीं कर सकती चाहे घर चू रहा हो या छप्पर टूट कर गिर गया हो। इस अपराध के लिए भी वैसी ही सजा है। नाक कटने और परिणामस्वरूप नाक–कान काटने की नौबत आन पड़ती है। वे जाहेर वृक्ष पर नहीं चढ़ सकतीं, उसकी डालियां नहीं तोड़ सकतीं। मान्यता है कि जाहेर वृक्ष पर बोंगा निवास करते हैं। महिलाओं को उस पर चढ़ने से वह अपवित्र हो जाता है और बोंगा नाराज हो जाते हैं। बारिश रोक देते हैं। अकाल पड़ जाता है। किसी व्यक्ति का बाल काटना भी संताली महिलाओं के लिए वर्जित है। ऐसी गलती करने पर माझी हाड़ाम के

समक्ष उपासनास्वरूप उसे भेंट चढ़ानी पड़ती है। किसी कारणवश यदि संताल महिलाओं को दुबारा शादी करनी हो तो पहले की तरह धूमधाम से विवाह करने की सख्त पाबंदियां हैं। पुरुषों के लिए ऐसा कोई बंधन नहीं है। वह चाहे कितनी बार करे, मन मुताबिक धूम–धड़ाका कर सकता है।

मान्हो मार्डी ने सिल्वर स्क्रीन पर काम करके कई वर्जनाएं तोड़ी थीं। वर्षों से चली आ रही व्यवस्था पर चोट करना बहुधा आसान नहीं होता। बंदिशों और वर्जनाओं की दीवार गिरा रही थी पिता की लाडली मान्हो...।

बातचीत के दौरान ही मैं मान्हो की माता से पूछता हूं कि, 'मान्हो कैसे जली?'... ...... एक लंबी और दहला देनी वाली खामोशी। मान्हो के पति से पूछता हूं– कहीं दूर से झांकती गहरी पीड़ा। आह!

मैं मान्हो के परिवार से मिलने के बाद रोड पर इंतजार कर रही मेरी ऐक्टिवा के पास आता हूं। मेरे जेहन में वर्षों पहले साकची के एक म्यूजिक स्टोर में बज रही जगजीत सिंह की गजल उठ रही है... लंबी दूरी तय करने में वक्त तो लगता है। मेरे स्कूटर पर धूल की एक मोटी परत पड़ी हुई है। पोछता हूं। मेरे चश्मे पर धूल की परत चढ़ी है, पोछते जाता हूं। मेरी सोच पर धूल नहीं धूप–छांही चल रही थी। मैं मान्हो के घर के सामने पुराने कुएं के पास खड़ा हूं। झाँककर पाता हूं कि पानी तो कब का सूख गया है। एक काली गहराई धंसती गई है।

बहुत सारे उलझे सवालों के साथ जब मैं मान्हो के घर से निकल रहा था, तो देहरी की चौखट से सिर टकरा जाता है। देखता हूं कि कमरे के एक कोने में फ्रेम में अटकी मान्हो टोककर पूछना चाहती है कि 'क्या लिखोगे पत्रकार बाबू?'

मान्हो नहीं थी। मान्हो खाना बनाते समय जल गयी थी। मान्हो खाना बहुत टेस्टी बनाती थी। सवाल, जंगल, मान्हो, हो, संथाल, खाप, नाक.... ओह!

हमारे हिंदुस्तान में लड़कियां या ब्याही गई बिटिया खाना बनाते समय जल जाया करती हैं। अक्सर इतना जल जाती हैं कि सारा कुछ वहीं खतम हो जाता है। मेरी माँ (सिद्धार्थ की माँ) जब एक महीने के लिए वेल्लोर गई थीं इलाज करवाने। छह महीने तक इतनी अस्वस्थ रहीं कि बिस्तरे पर ही पड़ी रहती थीं। मैं लगभग छह महीने तक खाना बनाया। मेरा एक भी अंग नहीं जला, जबकि मैं खाना बनाने में आज भी कच्चा ही हूं। हिंदुस्तान की औरतें तो दक्ष होती हैं। सारी उम्र यही एक काम तो उनको अनिवार्य कर्त्तव्यबोध के साथ करना पड़ा है। और वे ही जलती हैं खाना बनाते समय। आज तक इतिहास और बिल्कुल आज तक कहीं सुनने–पढ़ने को नहीं मिला कि कोई पुरुष खाना बनाते समय जल कर मर गया। थोड़ा–बहुत मैं भी पढ़ा–लिखा हूं। थोड़ा विज्ञान, थोड़ा समाजशास्त्र, थोड़ा साहित्य भी जानता ही हूं। मेरा मन मानने को तैयार नहीं है कि –

क. मान्हो ने आत्महत्या कर ली। हो सकता है डिप्रेशन में हो। आज के माहौल में अधिकांश आबादी डिप्रेशन में है लेकिन सभी आत्महत्याएं नहीं करते। और पांच साल के जिगर के टुकड़े को छोड़कर मान्हो चली जाय, यह असंभव है।

ख. मैं यह मानने को तैयार नहीं कि पति ने मारा। मैंने माल्हो और उसके पति के दोस्तों से लंबी बातचीत की थी। लब्बोलुआब यह कि पति–पत्नी के बीच बेइंतहा प्रेम था।

ग. ....?

ग वाला हिस्सा खाली है। जब कभी कुछ धागे सीधे होंगे तो वहाँ भी कुछ दर्ज करूँगा। फिलवक्त माल्हो और उसके जैसी ही ढेरों अस्मिताएं हमारे समयदेवता के सिर पर सवाल टाँक रही है कि माल्हो की मौत पर अखबारनवीस कहां थे? कहाँ थे हुक्काम जब ६ दिनों तक संथाली फिल्मों की पहली 'हिरोईन' सरकारी हस्पताल के बेड पर तड़प–तड़प कर दम तोड़ रही थी? कभी अरस्तू ने कहा था कि आदमी एक सामाजिक प्राणी है। सफेद झूठ! पैसे वाले लोग, साधन वाले लोग ही सामाजिक प्राणी हैं। माल्हो आप नहीं मरीं। आप जिंदा हो पांच साल के आयुष की पनीली आंखों में, आप जिंदा हो ज्योति में, आप जिंदा हो नीरो में, आप जिंदा हो झारखण्ड की हर उस लाडली में जो दिल्ली के दरबारों में बेचे जाने के इस दौर में भी सपने देखने की जिद रखती है...।

•••

माल्हो मार्डी के घर का 'जलस्रोत'

अवाम का सिनेमा

६ठाँ अयोध्या फिल्म फेस्टिवल

शाह आलम

(समय और स्थान : १९–२१ दिसंबर २०१२, साकेत पी०जी०कॉलेज, अयोध्या)

पूर्वी उत्तर प्रदेश के सबसे ज्यादा छात्र संख्या संपन्न बताये जाने वाला अयोध्या का साकेत कॉलेज एक बार फिर सांस्कृतिक हलचल का गवाह बनने जा रहा है। कॉलेज परिसर सुबह से ही कला के विभिन्न औजारों से पट गया है। राजा जगदंबिका प्रताप नारायण हॉल आने जाने वालों को अपनी तरफ खींच लेता है। वजह कविता लिखे बड़े–बड़े बैनर, जनता के सुख–दुख और बुनियादी सवालों पर बनी फिल्मों के पोस्टर, दीवारों पर देश के अलग–अलग हिस्सों की उभरती हुई तस्वीरें– जो अगवानी में कह रही हों कि देखो सवाल अभी जिन्दा है...। मौका था काकोरी कांड के अमर शहीदों की याद में होने वाले छठें अयोध्या फिल्म उत्सव के उद्घाटन समारोह का। समारोह पर शहादत का गाढ़ा रंग चमक रहा था। दरअसल ८५ साल पहले १९ दिसंबर १९२७ के दिन अमर शहीद अशफाकउल्लाह खाँ और पं० राम प्रसाद बिस्मिल ने अपने आप को देश की खातिर कुर्बान कर दिया था। ब्रिटानी हुकूमत अशफाक को फाँसी नहीं देना चाहती थी उसे मालूम था कि इससे हिन्दू–मुस्लिम एकता और भी मजबूत होगी। हमारी साझी शहादत और विरासतों की परम्परा का रंग इतना चटख है कि कभी स्मृतियां धूमिल नहीं हो सकतीं। सभागार की सांस्कृतिक अंगड़ाई बरबस ही छात्रों को अपनी तरफ खींच लाई थी।

फिल्म फेस्टिवल आयोजकों द्वारा राजा जगदंबिका प्रताप नारायण सभागार के अन्दर अंधेरों को मिटाने को तत्पर कुछ हाथ आगे बढ़े। साझे तौर पर दीप जलाया और हो गई छठें फिल्म उत्सव की शुरूआत। अपने अनथक योद्धाओं प्रो. बनवारी लाल शर्मा और धीरेन्द्र प्रताप

सामाजिक कार्यकर्ता व संयोजक सदस्य, अवाम का सिनेमा, फैजाबाद, उप्र., मो. ०९४५४९०९६६४

सिंह को याद करते हुए सिलसिला आगे बढ़ता है। मंच पर हमारी विरासत और साझा संघर्ष का बैनर चस्पा है और मंच पर वक्ताओं की लम्बी कतार है। समर्थन मे पहुंचे हैं कश्मीर मामलो के विशेषज्ञ गौतम नौलखा, शिक्षक डॉ. रूपेश सिंह, पूर्व आई.जी. एस. आर. दारापुरी, मानवाधिकार कार्यकर्ता महताब आलम, सामाजिक कार्यकर्ता रविन्द्र सिंह, लखनऊ हाईकोर्ट के वरिष्ठ अधिवक्ता मो. शोएब, समाजवादी चिन्तक एडवोकेट अशोक श्रीवास्तव। मंच पर मौजूद वक्ताओं ने ''जनसंघर्ष : दशा और दिशा'' पुस्तक का साझे तौर पर विमोचन किया। इस किताब में धीरेन्द्र प्रताप सिंह के अलग–अलग मुद्दों पर खुद के लिखे लेखों, रपटों का संकलन है। जिन्हें पढ़कर धीरेन्द्र होने का मतलब आसानी से समझा जा सकता है। जारी दूसरी एक पुस्तिका में उनके संगी–साथी ने उनसे जुड़ी यादों को साझा किया है।

उद्घाटन समारोह मे बोलते हुए गौतम नौलखा ने देश में चल रहे जनसंघर्षों में एकजुटता की जरूरत बताते हुए उन संघर्षों की धार को तेज करने का आह्वान किया। एस. आर. दारापुरी ने साझी विरासतों पर मंडराते खतरों से सावधान रहने की सलाह दी। डॉ. रूपेश सिंह ने कहा कि ऐसे रचनात्मक आयोजन से छात्रों–नौजवानो के शैक्षणिक ज्ञान में वृद्धि होगी। फिर शुरू हुआ फिल्मों का प्रदर्शन व संवाद। ***जिन्दाबाद धीरेन्द्र भाई*** फिल्म में उन्हें विभिन्न संगठनों, समूहों और जनआन्दोलनों मे सक्रियता और मौजूदगी को दर्शाती है। सोनल विज की फिल्म ***अंजाम*** बखैर सादत अली मंटो की कहानी पर आधारित है, विक्रम रूपानी की फिल्म ***लखनऊ की मछलियाँ*** बहुत ही खोजपरक है। ये फिल्म मुगलकालीन इमारतों पर रची बसी मछलियों के इतिहास को उत्तर प्रदेश शासन के निशान तक बहुत ही खूबी के साथ जोड़ती है। ३३ मिनट की फिल्म ***व्हेन द ट्रेन रन ऑन टाइम***, लोकतन्त्र और आपातकाल के हालात से परिचित कराती है। फिल्म में सांस्कृतिक आंदोलन से जुड़े अभिनेता और निर्देशक अभिजीत दत्त, नक्सलबाड़ी आंदोलन और आपातकाल को नजदीक से देखने वाले प्रभात कुमार, इतिहासकार प्रो. उमा चक्रवर्ती, पत्रकार व मानवाधिकार कार्यकर्ता जॉन दयाल के इन्टरव्यू को सलीके के साथ जोड़ा गया है। फिल्म अखबारों पर सेंसरशिप से लेकर कई महत्वपूर्ण पहलुओं को उजागर करती है। एक मिनट दो सेकेण्ड की प्रदीप पाटिल की ऐनीमेटेड फिल्म प्रदूषित होते पर्यावरण और स्वास्थ्य के सवाल पर कड़ी चोट करती है।

अयोध्या फिल्म फेस्टिवल का आज दूसरा दिन है। अयोध्या के बीते २० सालों के सफर पर मंथन शुरू होने जा रहा है। इसीलिए विषय भी चुना गया है 'अयोध्या : बीते दो दशक'। सूबे के छात्र– आन्दोलनों में सक्रिय रहे उमाकांत कहते हैं कि बीते दिनों राजनीति के अलमबरदारों ने जो अयोध्या की नकारात्मक छवि गढ़ी है, ऐसे दौर में यह जरूरी हो जाता है कि अयोध्या से ही साम्प्रदायिक राजनीति को शिकस्त दी जाए ताकि फिर से अयोध्या की खोई हुई पहचान बहाल हो। अयोध्या के ही रहने वाले वरिष्ठ पत्रकार अमरनाथ वर्मा १८५७ के साझे इतिहास की याद दिलाते हैं। इस जमीन से आजादी का साझा गौरवशाली इतिहास जुड़ा है। वे अवध की इसी साझी परम्परा को आगे बढ़ाने की बात करते हैं। अयोध्या की पवित्र सरजमीं पर साम्प्रदायिक राजनीति के काले इतिहास से उबरने की बात होती है। डॉ. मिर्जा शहाब शाह अपने पुराने दिनों

को याद करते हुए कहते है कि, पता नही लोगों की सोच इतनी तंग क्यों होती जा रही है? इतिहास में झाँकने के लिए सिनेमाई माध्यम बनती है, आनन्द पटवर्धन की फिल्म 'राम के नाम'। यह फिल्म हमें सदियों पुरानी गंगा–जमुनी तहजीब से रूबरू कराती है कि किस तरह से अयोध्या–फैजाबाद में हिन्दू–मुस्लिम एकता बरकरार रही है। १९९१ में बनी इस फिल्म में विवादित स्थल राम जन्मभूमि के तत्कालीन मुख्य पुजारी लालदास कहते है कि राजनैतिक और आर्थिक लाभ के लिए वे बाबरी मस्जिद को ध्वस्त कर साम्प्रदायिक आतंक फैलाना चाहते है, जिससे हिन्दू–मुस्लिम एकता और शांति भंग हो। पुजारी लालदास मंदिर आन्दोलन में व्याप्त भ्रष्टाचार का मुद्दा भी उठाते है, इस दौरान पुजारी लालदास की हत्या कर दी जाती है। फिल्म नफरत की सियासत की पोल खोलती है। बाबरी विध्वंस में शामिल रहे कारसेवक फिल्म देखकर अपने को ठगा महसूस करते है।

नंदिता आनन्द और नवनितेश सिंह की फिल्म ***उम्मीद–एक नई दिशा*** दिखाती है कि भुवनेश्वर के पुरी में बालि और नालिया मछुवारों की बस्ती है जहाँ रहने वाले रिक्शा चालकों की जिन्दगी नशा, गुरबत, अशिक्षा और अंधेरों में जकड़ी है। ननों का एक समूह आगे आता है उनके जीवन में शिक्षा, तकनीकि ज्ञान व कौशल बढ़ाकर उनका जीवन स्तर बेहतर करता है, वे नशे का त्याग करते है अपनी जिन्दगी में खुशहाली का सवेरा लाते है। नेशनल फिल्म अवार्ड से सम्मानित एम. आर. बरूआ की २६ मिनट की फिल्म 'बिथ ऑफ बोथ' देखकर पता चलता है कि आज भी राजस्थान के तीन समुदायों के दस हजार लोगों और १६० गांवों में हिन्दू–मुस्लिम एक–दूसरे के धर्म और रीति–रिवाज से ऐसे बंधे हैं कि पहचान मुश्किल हो जाती है। केशव रैना की फिल्म ***ईवी आन द ब्रियू*** सरकारी आंकड़ों के हवाले से बताती है कि देश में छेड़खानी, बलात्कार, महिला हिंसा, अपराधों का ग्राफ तेजी से बढ़ता जा रहा है, फिल्म देखने के बाद लोग इस फिल्म को देश की राजधानी दिल्ली में चलती बस में हुए सामूहिक बलात्कार और बर्बरता से जोड़ते है। ऐसी घटनाओं को देखते हुए फिल्म यह संदेश देने की वकालत करती है कि स्कूल–कॉलेजों में लड़कियों के लिए मार्शल आर्ट की ट्रेनिंग दी जाए और इसे उनके लिए अनिवार्य विषय बनाया जाए। ***लोस्ट? द अन इंडिग सर्च*** फिल्म प्रदर्शन के बाद कश्मीर से आये हुए फिल्ममेकर अतहर मोहिउद्दीन ने संवाद करते हुए कहा कि कश्मीर की छवि हमेशा बाहर के लोगों के लिए 'धरती का स्वर्ग' के जुमले में भले ही आकर्षित करती रही हो लेकिन मीडिया ने कश्मीर घाटी के यथार्थ को कभी बाहर आने नहीं दिया। पूंजीवादी सिनेमा कश्मीर को खूबसूरत लोकेशन के लिए इस्तेमाल करता है लेकिन खूबसूरत वादियों के छिपे दर्द को वह नहीं दिखाता। अतहर ने कहा कि मेरी फिल्में ऐसे ही संवेदनशील सवालों को उठाती रहेंगी और उन तथाकथित छवियों को तोड़ती रहेंगी।

फिल्ममेकर अतहर मोहिउद्दीन का समर्थन करते हुए अयोध्या के जन्में रंगकर्मी सौमित्र मिश्र ने कहा कि अयोध्या और कश्मीर को सियासत ने बहुत नुकसान पहुँचाया है। दोनों जगह के लोगों को हाशिए पर ढकेल दिया है। जनमंच के संयोजक दिनेश सिंह ने कहा कि हम कश्मीर के लोगों की जज्बात को नहीं पकड़ पा रहे है, अयोध्या और कश्मीर में नफरत की सियासत हावी रही है हमें इसी नफरत के सियासत के खात्मे के खिलाफ एकजुट होना होगा। खाँचों में बँटकर हम

साझी विरासत के दुश्मनों से नहीं लड़ सकते।

अयोध्या फिल्म फेस्टिवल का समापन हो रहा है। साझी विरासत की नगरी अयोध्या में तीन दिनी उत्सव में कई मुद्दों पर चोट के साथ कारवां अगले पड़ाव की ओर बढ़ गया है। अपनी जन संघर्षों की सभी परम्परा और विरासतों को सहेजने के साथ आजादी के ६५ साल और वही सवाल पर बात–चीत केन्द्रित है। साकेत महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ. वी. एन. अरोड़ा सच्चाई पर चलने की नसीहत देते हैं। वे कहते हैं कि सच बोलने के खतरे बहुत हैं। लेकिन उन खतरों को पहचान कर सावधान रहने की जरूरत है। वह ऑक्सीजन की तरह ही विकास को जरूरी बताते हैं लेकिन किसी की लाशों पर इमारत न खड़ी हो। आर्थिक साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए कहते हैं कि राष्ट्र के नीति के निर्माता संवेदनहीन हो चुके हैं। आज सांस्कृतिक विरासतों पर हमले जारी हैं। उन्होंने जोर देते हुए कहा कि आज की युवा पीढ़ी को अशफाक–बिस्मिल की विरासत से परिचित होने बेहद जरूरत है।

डॉ. देबजनी और शाविक बसु की २७ मिनट की फिल्म ***द डार्क*** कोयला खनन में लगे मजदूरों की आवाज और उनकी जिन्दगी के अंधेरे पक्ष को बयां करती है। फिल्म श्रम कानूनों को ताक पर रख किये जा रहे शोषण की अंतहीन दास्तां सुनाती है। फिल्ममेकर डॉ. देबजनी और शाविक बसु ने फिल्म के प्रदर्शन के बाद मौजूद लोगों के सवालों का जवाब देकर जिज्ञासा को शांत किया। आकांक्षा गुप्ता की फिल्म ***गीली मिट्टी*** दक्षिणी दिल्ली के मैदानगढ़ी इलाके के मिट्टी के बर्तन बनाने वालों पर केन्द्रित है। चाक के पहियों के पीछे घूमते–बुनते उनके सपनों और सवालों को उठाती है यह फिल्म। उत्सव में दिखाई गई अनवर जमाल की ६६ मिनट की दस्तावेजी फिल्म ***हार्वेस्ट आफ ग्रीफ*** महत्वपूर्ण है। पंजाब के संगरूर जिले के दो ब्लॉकों में ७ किसान परिवारों के दर्दनाक अंत को बयां करती है। उत्पादन और लागत की नब्ज टटोलती यह फिल्म जवाब मांगती है। ऐसे उर्वर इलाके में लगातार बढ़ती आत्महत्याओं के ग्राफ से संसद भले न शर्मसार होती हो लेकिन मानवीय समाज ऐसे हादसों को सुनकर सिहर उठता है। हीर कुमार की फिल्म ***एक उड़ान*** रिश्तों की कशमकश पर बेहतरीन फिक्शन फिल्म है जो एक महिला को पैरों पर खड़ा होने के लिए प्रेरित करती है। फिल्म संदेश देती है कि कोई किसी के लिए नहीं होता। हमें खुद के बारे में सोचना होता है। मेहनत, ईमानदारी और लगन से अपने पैरों पर खुद खड़ा होना होता है। 'गेट अप स्टैण्ड अप' श्रीमीथ की ३४ मिनट की फिल्म है, फिल्म कंकुडलम परमाणु परियोजना के खिलाफ जनसंघर्ष से परिचित कराती है, परमाणु हादसों के दुष्परिणामों से चेताती है तथा ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की वकालत करती है। आजादी के ६५ साल और वही सवाल पर प्रख्यात कवि डॉ. अनिल सिंह, फिल्ममेकर विद्याभूषण रावत, शिक्षक डॉ. प्रदीप सिंह भी हस्तक्षेप करते है। तीन दिवसीय छठें अयोध्या फिल्म उत्सव में ज्योतिका चीमा, शारिक हैदर नकवी, सोनल विज, गुफरान खान की फोटो प्रदर्शनी आकर्षण का केन्द्र बनी रहती है।

•••

पुस्तक समीक्षा :

यहाँ से देखो इतिहास नया...

आशुतोष कुमार झा

इस देश का एक संविधान स्वतंत्र आर्यावर्त में मनु महाराज ने रचा था, और दूसरा देश के फिर से स्वाधीन होने पर डॉ० अम्बेडकर ने रचा। मनु के विधान में अम्बेडकर के लिए स्थान नहीं था, या नहीं जैसा था, अम्बेडकर के विधान में मनु के लिए पूरा स्थान है। इतिहास चक्र की यह विलक्षण गति सारे समाज–दार्शनिकों को परेशान करने वाली है।

–रामस्वरूप चतुर्वेदी (हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास)

बीसवीं शताब्दी का भारतीय इतिहास अनेकानेक प्रतिभाओं के प्रस्फुटन का साक्षी रहा है। जिनमें एक नाम बाबासाहेब अम्बेडकर का भी है। महात्मा बुद्ध और कबीर के बाद पहली बार बाबासाहेब ने ही अपने प्रश्नों से भारतीय, विशेष कर हिन्दू समाज को व्याकुल किया। अपनी प्रखर मेधा, अद्वितीय बौद्धिकता, अपारणीय विद्वता और नवोन्मेषी दृष्टि क्षमता से उन्होंने समाज की पिछड़ी और अस्पृश्य जातियों, महिलाओं और वंचित समूहों के पक्ष में आवाज उठाई। दलित अस्मिता के प्रश्न पर उनका स्वाभिमान आलोकमय तेज बनकर उभरा। बाबा साहेब महाराष्ट्र के दलित, महार जाति से थे और बाल्यकाल से ही अछूत होने की पीड़ा झेल रहे थे। अत: उन्होंने वर्णाश्रम आधारित, विशेषाधिकार सम्पोषित धर्म के तत्कालीन स्वरूप को अतार्किक, अवैज्ञानिक तथा अमानवीय मानते हुए उसका हर स्तर पर विरोध किया। इस मुद्दे पर उन्होंने निर्भीक होकर तत्कालीन राजनेताओं, परम्परावादियों तथा धर्म और समाज के ठेकेदारों से बहस की और उनके मतों का खंडन किया। उन्हें आमतौर पर भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में ही याद किया जाता है। इससे कहीं न कहीं उनके समाज सुधारक व्यक्तित्व की प्रखरता निस्तेज होती है। जबकि सच्चाई यह है कि देश में सामाजिक क्रांति और तर्कशील–वैज्ञानिक चिंतन को प्रतिस्थापित करने वाले बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर का मूल्यांकन बौद्धिकता की कसौटी पर भी होना चाहिए। भारतीय संविधान के निर्माता होने का यश उनके व्यक्तित्व का एक अध्याय मात्र है और इस

सहायक अध्यापक : हिन्दी, मिसेज केएमपीएम कॉलेज, जमशेदपुर, मो. ९४३१३७२०९८

अध्याय को ही सम्पूर्ण पुस्तक मानना भारतीय समाज और राष्ट्र को उनके प्रदेय को कम करने के कुत्सित प्रयास के रूप में देखा जाना चाहिए।

हिन्दी में पहली बार बाबासाहेब के सम्पूर्ण जीवन और कार्यों को पूरी ऐतिहासिकता के साथ औपन्यासिक स्वरूप में प्रस्तुत कर रहे है मोहनदास नैमिशराय। अपने उपन्यास ***महानायक बाबा साहेब डॉ० आम्बेडकर*** में लेखक ने उनके जीवन से जुड़ी हुई घटनाओं को जाँच–परख कर पाठकों के सम्मुख रखा है। साथ ही, तत्कालीन समाज और खुद बाबासाहेब अम्बेडकर के जीवन से जुड़े द्वंद्वों तथा अन्तर्विरोधों को भी औपन्यासिक विस्तार से पुस्तक में जगह दी गई है।

मोहनदास नैमिशराय वर्तमान साहित्यिक–वैचारिक जगत में एक चर्चित दलित चिंतक और लेखक के रूप में स्थापित है। उपन्यास, कहानी संग्रह, नाटक तथा दलित आन्दोलन से संबंधित इतिहास लेखन में इन्होंने अपनी अमिट पहचान बनाई है। अम्बेडकरवादी चिंतन के ये सर्वमान्य अध्येता रहे हैं। अनेकानेक पुरस्कारों से सम्मानित लेखक फिलहाल हिन्दी की मासिक दलित साहित्य पत्रिका **बयान** का सम्पादन कर रहे हैं।

इस उपन्यास की प्रासंगिकता के विषय में आश्वस्त होकर लेखक कहता है कि *आजादी के बाद दलितों की पुरानी के साथ–साथ नई पीढ़ी, दलित राजनेतागण, यहाँ तक कि अधिकांश दलित लेखकों / चिंतकों / शिक्षाविदों ने तो लगभग तीस–चालीस वर्ष तक अम्बेडकर को अपने बनाए हुए चौखटे में बंद रखा। वे अपनी–अपनी भाषा में लिखते रहे, स्वयं पढ़ते रहे। उनके व्यक्तित्व तथा कृतित्व को अधिकतम लोगों तक नहीं ले जाया जा सका। बाबासाहेब डॉ० अम्बेडकर के सम्पूर्ण जीवन संघर्ष तथा ऐतिहासिक / राजनीतिक / सामाजिक / शैक्षिक घटनाओं पर आधारित तथ्यपरक और दलित अस्मिता से जुड़ा किसी भी भाषा में यह पहला उपन्यास है जिसके प्रकाशन से पाठकों / शोधार्थियों / सामाजिक कार्यकर्ताओं को न सिर्फ बल मिलेगा बल्कि प्रेरणा भी मिलेगी।*

अम्बेडकर ने हिन्दू धर्म में व्याप्त जाति प्रथा की संकीर्णता और अस्पृश्यता की अमानवीयता का अनुभव बचपन से ही किया था। उनके पिता सेना में कनिष्ठ अधिकारी थे जहाँ से लेखक के अनुसार नीची महार जाति का होने के कारण उन्हें निकाल दिया गया था। सेना में रहने के कारण बाबा साहेब के पिता आधुनिक सभ्यता के तौर तरीकों से परिचित हो चले थे और शिक्षा का महत्त्व जान चुके थे। इसलिए अस्पृश्यता के व्यवधान के बावजूद वे पुत्र भीमराव को ऊँची शिक्षा दिलाने के पक्षधर थे। उपन्यास में उनके सामाजिक, शैक्षिक और राजनीतिक संघर्षपूर्ण जीवन को बड़े विस्तार से दिखाया गया है। अगर किसी में बुलंदी छूने का हौसला हो तो उसके आगे पर्वत–पठार भी समतल मैदान बन जाते हैं। बाबासाहेब का महानायकत्व इस बात में है कि उन्होंने तमाम प्रतिबंधों और अर्थहीनता के बावजूद अपने देश में, पुनश्च अमेरिका और इंगलैण्ड में उच्चतम शिक्षा अर्जित की। लेखक ने 'सिडनहम कॉलेज' में राजनीतिक–अर्थव्यवस्था के प्रोफेसर पद पर अम्बेडकर की नियुक्ति का ब्योरा देते हुए उच्च शिक्षा हेतु इंगलैण्ड जाने की ललक का सांगोपांग वर्णन किया है। डॉ. अम्बेडकर हर विषय के ज्ञाता थे। जैसे अर्थशास्त्र, वाणिज्य, इतिहास, नृवंशशास्त्र, भूगोल, राजनीति, समाज विज्ञान, कानून, इंजीनियरी इत्यादि। लेखक के

अनुसार विदेश से शिक्षा ग्रहण करके डॉ. अम्बेडकर इतने पढ़े–लिखे थे कि उस समय सम्पूर्ण भारत में किसी भी जाति तथा वर्ग में इनके समान गिने–चुने लोग ही पढ़े–लिखे थे। शिक्षक और शिक्षार्थी के रूप में उनका अद्वितीय योगदान था। लेखक इंगित करते हैं कि इतने महान विद्वान होने के बाद भी इस देश में इनकी जाति आड़े आ जाती थी। ऐसे समय में डॉ. अम्बेडकर ने यह विचार किया कि, *मेरे इतना उच्च विद्या विभूषित होने के बाद भी अज्ञानी जातिवादी लोग जब मुझे इतना छलते हैं तो मेरी गरीब 'अशिक्षित जनता के साथ क्या नहीं होता होगा?* एक ऐसे समय में जब महात्मा गाँधी के नेतृत्व में पूरा देश अंग्रेजों की गुलामी के विरूद्ध एकजुट हो रहा था, दलितों के सम्मुख दोहरी गुलामी की समस्या खड़ी थी। एक ओर तो वे अंग्रेजों के गुलाम थे तो दूसरी ओर उन्हें सवर्णों की गुलामी भी झेलनी पड़ती थी। अम्बेडकर की दृष्टि में भारत के राजनेताओं को दलितों की दारूण स्थिति का भान तो था किन्तु वे तत्कालीन धार्मिक जातिवादी पाखंड से स्वयं को अलग नहीं कर पा रहे थे। अतएव दलितों के संगठित प्रतिरोध के बावजूद महात्मा गाँधी को छोड़ कर अन्य किसी राजनेता की सहानुभूति दलितों के पक्ष में नहीं थी। स्वयं अम्बेडकर का मानना था कि गाँधी जी स्वेच्छा से हरिजन उद्धार की बात नहीं कर रहे। उन्हें हिन्दू धर्म की पतनशील अवस्था का आभास हो गया था इसलिए अपनी यथास्थितिवादी नीति के अनुसार उन्होंने दलितों का दिखावटी पक्ष लेना शुरू किया। इसी प्रश्न पर अम्बेडकर ने तत्कालीन राजनीतिक क्षितिज के सबसे बड़े और सर्वमान्य नेता महात्मा गाँधी से सीधी टक्कर ली। उपन्यास में अनेकानेक स्थलों पर इस टकराव का वर्णन मिलता है। इतिहासकार मानते हैं कि गाँधी जी का सबसे तीव्र राजनीतिक मतान्तर नेताजी सुभाषचन्द्र बोस से था तो सैद्धांतिक मतान्तर बाबा साहेब अम्बेडकर से। गाँधी जी आध्यात्मिक–आत्मिक शक्ति के उन्नयन की बात करते थे और देशज संस्कृति के पक्षधर थे। विदेशी तकनीक और भाषा को वे संदेह की दृष्टि से देखते थे। लेकिन इस मायने में उनसे कहीं ज्यादा विद्वान डॉ. अम्बेडकर का दृष्टिकोण ज्यादा आधुनिक, वैज्ञानिक और तर्कपूर्ण था। वे अंग्रेजी शिक्षा के पक्षधर थे और राजनीतिक आजादी के साथ–साथ सामाजिक क्रांति का पथ भी प्रशस्त करना चाहते थे।

गाँधी जी अच्छी तरह समझते थे कि राजनीतिक आजादी मिल जाने का मतलब यह बिलकुल नहीं है कि देश के सारे सपने पूरे हो गए हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता सिर्फ देश के जीवन को बेहतर बनाने का एक अवसर मुहैया कराती है। इसलिए *यंग इंडिया* के १० सितम्बर, १९३१ के सम्पादकीय में गाँधी जी कहते हैं कि *मैं एक ऐसे भारत के लिए काम करना चाहूँगा जिसमें गरीब से गरीब आदमी यह महसूस करे कि यह उसका देश है और इसने उसे भी असरदार आवाज दी है। मैं एक ऐसा भारत चाहता हूँ जिसमें लोगों के बीच 'हाई क्लास' और 'लो क्लास' का कोई भेद नहीं हो। मैं एक ऐसे भारत का सपना देखता हूँ, जिसमें सभी धर्म और समुदायों के लोग भाईचारे के साथ रह सकें तथा महिलाओं को वे सारे हक प्राप्त हों जो पुरुषों को प्राप्त हैं।*

इसी प्रकार लोकतंत्र की बुनियादी शर्तों को रेखांकित करते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा *राजनैतिक लोकतंत्र तब तक कायम नहीं रह सकता जब तक उसकी नींव में सामाजिक लोकतंत्र अर्थात स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व जीवन के सिद्धांत के रूप में व्यवहृत न हों।* राजनैतिक

प्रजातंत्र की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि सामाजिक विषमता, ऊँच–नीच की भावना आदि न हो।

समकालीन इतिहासकारों का मानना है कि मतभिन्नता के बावजूद गांधी और अम्बेडकर एक ही सिक्के के दो पहलू थे। अर्थात दोनों का राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण एक दूसरे का पूरक था। किन्तु समीक्ष्य कृति में लेखक ने दोनों की मतभिन्नता को सामने रखने की कोशिश की है। गांधी और अंबेडकर के दृष्टिकोणों की तुलना करने के क्रम में लेखक अतिवाद की तरफ भी बढ़ता दिखाई पड़ता है। इसे रचनाकार की ही सीमा कहा जायेगा। यह अस्मितामूलक विमर्श का दौर है। निश्चित रूप से जब किसी पीड़ित अस्मिता के इतिहास की पुनर्रचना की जायेगी तो अतिवादी आयास पटल पर आ ही जायेंगे। परंतु ऐतिहासिक संदर्भों में छेड़–छाड़ करना सर्वथा अनुचित है। उपन्यास एक इतिवृत्त से अलग होता है। वह कल्पना का सहारा लेता है। लेखक ने कुछ कल्पनाएं भी की है, जो कहीं–कहीं अतिरंजित हो गयी हैं। मसलन रचनाकार ने बाबासाहेब की जीवन गाथा के बहाने उन्हें महानायक के साथ–साथ बोधिसत्व अर्थात महात्मा बुद्ध का अवतार बताने की कोशिश की है। २१वीं सदी में भी यदि अवतारवाद जैसे हिन्दूवादी हथकंडे फल–फूल रहे हैं तो इसके पीछे इसी तरह की प्रतिक्रियावादी नियतियां योगदान करती हैं। आज अस्मितावादी विमर्श के भी रचनात्मक बने रहने की आवश्यकता है। हमारे ये विमर्श यदि अलगाववाद को पुष्ट करने लगें तो यह अंततः पूरी मनुष्यता के लिये घातक होंगे। भारत का आज का कोई भी लेखन विश्व की साम्राज्यवादी ताकतों को नजरअंदाज करके नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि साम्राज्यवादी ताकतें पिछले कई दशकों से राष्ट्रों के अंतर्विरोधों का फायदा उठा रही हैं। लेखक की यह कृति इसलिये महत्त्वपूर्ण हो उठती है कि उन्होंने लघु अस्मिताओं के इतिहास के नवनिर्माण के लिए एक चर्चित व्यक्तित्व को औपन्यासिक व्यक्तित्व में सामने लाने का रचनात्मक प्रयास किया है। यह 'नीचे से इतिहास' (history from below) को देखने और लिखने की दिशा में एक प्रस्थान बिंदु भी है और एक उपलब्धि भी।

समीक्ष्य उपन्यास : महानायक बाबा साहेब डॉ० आम्बेडकर
उपन्यासकार : मोहन दास नैमिशराय
प्रकाशक : धम्म ज्योति चैरिटेबल ट्रस्ट, दिल्ली – ११,
मूल्य – रु० [illegible] मात्र

...